विज्ञानभैरवः

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

१६८

शिवोपदिष्टः

विज्ञानभैरवः

श्रीक्षेमराजाचार्यविरचितविवृतिभागोत्तरं
श्रीशिवोपाध्यायविरचितविवृत्त्युपेतः

कारिकानुवाद-विवृतिभागस्थहिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकार

श्रीबापूलाल 'आजना'

प्रवक्ता : संस्कृत विभाग

ज० ला० नेहरू स्मारक पोस्ट-ग्रेजुएट कालेज

महाराजगंज, गोरखपुर

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वा रा ण सी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण १९९१

मूल्य ७५-००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए. बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० २११३

दूरभाष : २३६३९१

*

प्रधान वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE
CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA
194

VIJÑĀNABHAIRAVA

With Commentary partly by

KṢEMENDRA

and partly by

ŚIVOPĀDHYĀYA

Edited with Hindi translation of verses and explanation based on commentary

By

Shri Bapulal 'Anjana'

Lecturer : Sanskrit Department
J. L. Nehru Memorial P G. College
Maharajgang, Gorekhpur

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
VARANASI

© CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001
Telephone : 333431

First Edition

1991

Also can be had of
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A. Bungalow Road, Jawaharnagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007
Telephone : 236391

*

Sole Distributors
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone : 320404

आशीर्वचन

मुझे यह देखकर हार्दिक प्रसन्नता है कि डा० बापूलाल आञ्जना ने त्रिक दर्शन के प्रख्यात आगम ग्रन्थ 'विज्ञानभैरव' का हिन्दी में अनुवाद, व्याख्या और भूमिका के साथ नवीन संस्करण प्रस्तुत कर दार्शनिक जगत् का बहुत उपकार किया है। शिवोपाध्याय की संस्कृत टीका (विवृति) निश्चित ही परम्पराप्राप्त शास्त्रीय अर्थ को समझने में सहायक होगी। वस्तुतः विज्ञानभैरव आगम-सम्मत योग-परम्परा का अद्वितीय एवं अनुपम ग्रन्थ है। इसमें अभिव्यक्त योगदृष्टि तथा धारणा बौद्ध एवं पातञ्जलयोग-साधना से भिन्न है। सत्य यह है कि श्रुति-परम्परा से भिन्न आगम-परम्परा का ही मञ्जुल प्रसून योगसाधना है। समाधि में स्थित पशुपति की मोहंजोदाड़ो में उपलब्ध मूर्ति और योग-मोक्ष की समन्वयशालिनी आगमीय योग-परम्परा इसका पर्याप्त प्रमाण है। अष्टाङ्गयोग की अपेक्षा षडंगयोग का विवेचन शारीरिक अभ्यास की अपेक्षा मानस योग को अधिक महत्त्वपूर्ण बनाता है। यह अत्यन्त व्यावहारिक एवं विधिरूप योग-प्रक्रिया है। भावोद्वेग, भावातिरेक की स्थितियों को यौगिक धारणाओं में सम्मिलित कर विज्ञानभैरव ने आज की विभीषिका से समस्त मनुष्य के लिए मानों नवीन द्वार खोला है। उद्वेलन, उद्वेग की प्रत्येक दशा को, किं वा जीवन जीने के प्रत्येक सम-विषय और द्वन्द्वात्मक स्थिति को समाधि की ओर ले जाने की अत्यन्त व्यावहारिक साधना का विज्ञान हमें इस महत्त्वपूर्ण आगम ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। आगम-निर्दिष्ट इन सभी साधना-पद्धतियों और धारणाओं का साङ्गोपाङ्ग विवेचन और उसका प्रसन्न शैली में निरूपण इस संस्करण की विशेषता है। मुझे विश्वास है कि इस ग्रन्थ के प्रचार-प्रसार से शैव-योग की लुप्तप्राय साधना-पद्धति की पुनः प्रतिष्ठा होगी और इसका श्रेय इस ग्रन्थ के सम्पादक एवं व्याख्याकार को प्राप्त होगा।

—रामचन्द्र द्विवेदी

अधिष्ठाता, कला संकाय
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर ३०२००४

प्राक्कथन

संस्कृत-वाङ्मय के अध्ययन के प्रति प्रारम्भ से ही मेरी रुचि रही है। एम० ए० परीक्षा के लिए अध्ययन करते समय साहित्य के अतिरिक्त दर्शन ग्रन्थों के अध्ययन की लालसा भी मन में जगी। श्रद्धेय पूज्य गुरुवर डा० रामचन्द्र द्विवेदी की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन के फलस्वरूप मैंने शैव-दर्शन के **विज्ञानभैरव** नामक आगम ग्रन्थ पर कार्य करने का निश्चय किया। यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अभी तक हिन्दी अनुवाद से वंचित था। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ की उपलब्ध टीकाओं का उपयोग करते हुए तुलनात्मक अध्ययन द्वारा इस पर विशद ग्रन्थ लिखा जा सकता है, किन्तु मैंने अपने ज्ञान की सीमाओं और समय की परिधि के कारण इसके सटिप्पण अनुवाद के कार्य को ही करना उचित समझा है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में विज्ञानभैरव तथा उसकी टीकाओं का हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया गया है, जो मेरा इस क्षेत्र में प्रथम प्रयास है।

शैवदर्शन के अध्येताओं ने 'विज्ञान-भैरव' में प्रतिपाद्य विषय के आधार पर इसे 'काश्मीर-शैव-दर्शन' के अन्तर्गत माना है। काश्मीर-शैव-दर्शन के उद्भव एवं विकास के सम्बन्ध में यहाँ कुछ नहीं कहना है। विद्वानों ने इस सम्बन्ध में विशद प्रकाश डाला है[1]। विज्ञान-भैरव का उल्लेख अभिनवगुप्त ने अन्य तन्त्र-ग्रन्थों के साथ किया है तथा इसमें प्रतिपादित विषय तन्त्र-साधना से सम्बन्धित है। अतः इसे तांत्रिक शैवमत का आधार ग्रन्थ कह सकते हैं। तांत्रिक शैवमत को समझने तथा अन्य तांत्रिक साधनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने में विज्ञानभैरव की विषय-वस्तु विशेष महत्त्व की है।[2]

काश्मीर-शैवदर्शन के आधारभूत उपलब्ध साहित्य को तीन भागों में विभाजित किया गया है—(१) आगमशास्त्र, (२) स्पन्दशास्त्र और (३) प्रत्यभिज्ञाशास्त्र[3]। इनमें आगमशास्त्र का प्रमुख स्थान है। काश्मीर-शैव-

---

१. अभिनवगुप्त : ऐन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी।
—डा० के० सी० पाण्डेय।
काश्मीर-शैवदर्शन व कामायनी, पृ० ५–४०
—डा० भवरलाल जोशी।

२. संत वैष्णवकाव्य पर तांत्रिक प्रभाव : डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, पृ० ५१–१४९

३. काश्मीर-शैवदर्शन व कामायनी : डा० जोशी, पृ० १३।

आगमों में मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, स्वच्छन्दतन्त्र और आनन्दभैरव आदि प्रमुख आगमों के साथ विज्ञानभैरव की गणना की गई है[1]। विज्ञानभैरव की अवतारणा देवी और भैरव के संवाद रूप में हुई है। यह रुद्रयामलतन्त्र का सार है और इसे सर्वशक्ति प्रभेदों का हृदय कहा गया है—

'रुद्रयामलतन्त्रस्य सारमद्यावधारितम्।
सर्वशक्तिप्रभेदानां हृदयं ज्ञातमद्य च' ॥ १६२ ॥

यद्यपि विज्ञानभैरव के कर्त्ता का नामोल्लेख न मूल ग्रन्थ में है और न ही इसके टीकाकारों ने उनके सम्बन्ध में कोई सूचना दी है। अतः इसे 'शिव' प्रणीत ही माना जाता है, क्योंकि स्वयं भगवान् शिव आगमों के स्रष्टा एवं वक्ता कहे जाते हैं—

'स्वयं परमेश्वरः सिद्धान्तोपदिष्टा'—वि० भै० का० ७।

भगवान् शिव ने लोकानुग्रह के लिए ऋषियों को ज्ञान प्रदान किया था और तदनन्तर शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा से आगमों का ज्ञान जगत् में प्रचलित होता रहा। इस कथन के अनुसार प्रस्तुत विज्ञानभैरव के रचयिता के रूप में भगवान् शिव को ही स्वीकार किया जा सकता है।

विज्ञानभैरव की जो दो टीकाएँ उपलब्ध हैं, उनमें १६१ अथवा १६३ (कारिकाओं) छन्दों का मूल ग्रन्थ स्वीकार किया गया है। इस तन्त्रग्रन्थ में काश्मीर-शैवागम के ज्ञान और योग-पक्षों का विवेचन है। ग्रन्थ का प्रारम्भ देवी के परमतत्त्व के सम्बन्ध में प्रश्नों से होता है, जिनका भैरव ने क्रमशः समाधान किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में परमतत्त्व के स्वरूप-निरूपण के बाद उसको प्राप्त करने के उपायों के रूप में ११२ धारणाओं का विवेचन किया गया है, यद्यपि धारणाओं की संख्या कुछ अधिक प्रतीत होती है। ये धारणाएँ परा और अपरा के भेद से दो प्रकार की हैं, जिनमें भरितावस्था, तैमिरीधारणा, ध्येयाकारभावना, निरालम्बनभावना, दृष्टिबन्धनभावना आदि धारणाएँ प्रमुख हैं। ग्रन्थ के अन्त में शिष्य की पात्रता एवं अपात्रता का उल्लेख किया गया है तथा शिव के द्वारा उपदिष्ट इस ज्ञान को प्राणों से भी अधिक महत्त्व-पूर्ण कहा गया है। 'प्राणाऽपि प्रदातव्या न देयं परमामृतम्'। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपादित विषय को स्पष्ट रूप से संक्षेप में जानने के लिए आगे दी हुई विषय-सूची द्रष्टव्य है।

विज्ञानभैरव पर अभी तक कुल दो टीकाएँ ही प्राप्त हुई है—(१) आचार्य क्षेमराज की उद्योत एवं शिवोपाध्याय की विवृत्ति और (२) भट्ट आनन्द की विज्ञानकौमुदी-दीपिका। मूल ग्रन्थ पर क्षेमराज की २४वीं कारिका 'ऊर्ध्वे प्राणो ह्यधो जीवो' तक विज्ञानोद्योत नामक विवृति प्राप्त होती है। ऐसा शिवोपाध्याय ने ग्रन्थ के अन्त में संकेत किया है। यथा—

---

१. काश्मीर शैविज्म : डा० चटर्जी, पृ० ८।

श्रुतं देव मयेत्यादिप्रश्नग्रन्थार्थबन्धनम् ।
ऊर्ध्वं प्राणादिपद्यान्तं क्षेमराजकृतं शुभम् ॥
ततः परमुपाध्यायकुशकाशावलम्बनम् ।
यद्वृत्तिग्रन्थकाकलपुस्तकं हस्तगोचरम् ॥
भूर्जात्मकं वा नायातं जग्धं कालघुणेन तत् ।
दग्धं वा वह्निना च्छिन्नमत्र साक्षी महेश्वरः' ॥

२४वें छन्द के बाद शिवोपाध्याय ने विवृति लिखी है। इन दोनों टीकाकारों के सन्दर्भ में विद्वानों द्वारा विशद प्रकाश अन्य ग्रन्थों में डाला जा चुका है[१]। संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है—

क्षेमराज

क्षेमराज के देश, काल एवं जीवन के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद रहा है। यह एक लम्बे विमर्श का विषय है। यहाँ उनके सम्बन्ध में संक्षेप में ही विवरण देना अभिप्रेत है। क्षेमराज ने अभिनवगुप्त को अपने ग्रन्थों के उपसंहार में अपना गुरु माना है। अतः उनमें गुरु-शिष्य का सम्बन्ध किसी प्रकार अवश्य ही रहा होगा। क्षेमराज श्रीनगर से ३० किलोमीटर पूर्व में स्थित विजयेश्वर (आधुनिक 'बीज-बिहार') में रहते थे[२]। इनका साहित्य-रचनाकाल १०२५ ई० से लेकर १०५० ई० तक माना जा सकता है[३]। क्षेमराज की प्रतिभा के सम्बन्ध में मतभेद की गुंजाइश नहीं है। शैवागम के बीजरूप सिद्धान्तों को यदि अभिनवगुप्त ने अपने पाण्डित्य से वृक्ष का रूप दिया है, तो क्षेमराज ने उनके संरक्षण में अपनी प्रतिभा समर्पित की है। न केवल दार्शनिक क्षेत्र में, बल्कि काव्य-संरचना में भी क्षेमराज के पाण्डित्य के दर्शन होते हैं। इस सम्बन्ध में 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' में पर्याप्त संकेत प्राप्त होते हैं[४]। इसके अतिरिक्त प्राचीन सूत्रों की विशद और वैदुष्यपूर्ण व्याख्या करने में क्षेमराज सिद्धहस्त थे। वे विषय को जिस सूक्ष्मता से ग्रहण करते थे उतनी ही स्पष्टता से उन्होंने उसकी अभिव्यक्ति भी की है। क्षेमराज ने काश्मीर-त्रिकशास्त्र की प्रायः सभी शाखाओं पर कुछ न कुछ कार्य अवश्य किया है। प्रत्यभिज्ञाहृदय इनकी प्रमुख दार्शनिक रचना है। इसके अतिरिक्त इन्होंने स्वच्छन्दोद्योत, स्पन्दनिर्णय, क्रमस्तोत्रटीका आदि लगभग २१ ग्रन्थों पर लेखनी चलाई है,[५] जिनसे उनके प्रखर पाण्डित्य का पता चलता है। उनकी

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् : विशालप्रसाद त्रिपाठी, पृ० ४-१९ तक।
२. वही पृ० ५।
३. काश्मीर-शैवदर्शन व कामायनी, डा० जोशी, पृ० २४।
४. प्रत्यभिज्ञाहृदय : क्षेमराज, पृ० ८५-८६, आ० ला० मद्रास १९।
५. प्रत्यभिज्ञाहृदय : त्रिपाठी, पृ० १६-१८ तक।

इन कृतियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यद्यपि वे टीकाकार थे, किन्तु उनकी टीकाओं का स्वतन्त्र ग्रन्थों जैसा महत्त्व है।

क्षेमराज ने विज्ञानभैरव पर जो विवृत्ति लिखी है, वह २४ छन्दों तक ही प्राप्त होती है। यह कहना कठिन है कि ग्रन्थ के शेष भाग पर उन्होंने वृत्ति क्यों नहीं लिखी ? अथवा यदि उन्होंने वृत्ति लिखी थी तो वह अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। इस पर गम्भीरता से विचार करने पर क्षेमराज के समय पर भी प्रकाश पड़ सकता है। सम्भव है कि जीवन के अन्तिम समय में उन्होंने विज्ञान-भैरव पर वृत्ति लिखना प्रारम्भ किया हो, जिसे जीवनान्त के कारण पूरा नहीं कर पाए हों। इस पर विशेष विचार-विमर्श की आवश्यकता है।

शिवोपाध्याय

विज्ञानभैरव की २५वीं कारिका से १६३ कारिकाओं पर शिव उपाध्याय की 'विवृत्ति' टीका प्राप्त होती है। इन्होंने क्षेमराज के अधूरे कार्य को पूरा किया है। शिवोपाध्याय क्षेमराज की तरह ही दार्शनिक विद्वान् थे। इन्होंने अपनी विवृति के अन्त में जो श्लोक दिया है, उससे ज्ञात होता है कि काश्मीर के राज्यपाल 'सुखजीवन' के समय में इन्होंने विज्ञानभैरव पर वृत्ति लिखी थी। यथा—

'सुखजीवनाभिधाने रक्षति काश्मीरमण्डलं नृपतौ।
अगमन्निःशेषत्वं विज्ञानोद्योतसङ्ग्रहः सुगमः' ॥

सुखजीवन का समय १७५४ ई० से १७६२ ई० तक माना जाता है,[1] अतः शिवोपाध्याय का भी यही समय मानना चाहिए। विज्ञानभैरव की विवृति से ज्ञात होता है कि शिवोपाध्याय का वास्तविक नाम शिव था और उपाध्याय उनकी जाति थी—

'नाम्ना शिवेतिगुणिकौशिकगोत्रजात्योपाध्यायः'।

वि० भै० पृ० १५७

ये गोविन्द गुरु तथा सुन्दरकण्ठ के शिष्य थे। इनका विज्ञानभैरव-विवृति के अतिरिक्त कोई दूसरा ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता, किन्तु यह विवृति ही उनके पाण्डित्य की परिचायिका है।

भट्ट आनन्द

भट्ट आनन्द ने सम्पूर्ण विज्ञानभैरव पर स्वतन्त्र रूप से दीपिका लिखी है। इनकी दीपिका क्षेमराज की वृत्ति से संक्षिप्त है। किन्तु उसमें कई नये तथ्य भी दिये गये हैं, जिनका स्पष्टीकरण उक्त विवृति में नहीं हुआ था। भट्ट आनन्द के समय आदि के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी कह पाना कठिन है। इन्होंने विज्ञान-

---

१. 'काश्मीर थ्रू एजेज' पृ० ७३ पर।

भैरव पर दीपिका प्रारम्भ करने से पूर्व मंगलाचरण में कुछ प्रसिद्ध काश्मीर के दार्शनिक आचार्यों को स्मरण किया है, जिनमें सोमानन्द, भूतराज, उत्पल, लक्ष्मणगुप्त और अभिनवगुप्त का क्रम प्राप्त होता है। आश्चर्य की बात है कि भट्ट आनन्द ने क्षेमराज को स्मरण नहीं किया है। इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि अभिनवगुप्त (९५० ई०) और क्षेमराज (१०५० ई०) के समय के बीच में भट्ट आनन्द किसी समय में हुए होंगे। इसीलिए वे क्षेमराज का उल्लेख नहीं कर सके हैं; और क्षेमराज आनन्दभट्ट का उल्लेख इसलिए नहीं कर सके, क्योंकि वे अपनी वृत्ति ही पूरी नहीं लिख पाए थे, जिससे कि ग्रन्थान्त में उनका स्मरण करते। सम्भवतः शिव उपाध्याय को विज्ञानभैरव पर वृत्ति लिखते समय भट्ट आनन्द की दीपिका प्राप्त नहीं हुई होगी, इसीलिए उन्होंने भी भट्ट आनन्द का नामोल्लेख नहीं किया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विज्ञानभैरव पर प्रथम दीपिका भट्ट आनन्द ने लिखी, तदुपरान्त क्षेमराज ने लिखना प्रारम्भ किया, जिसे छह शताब्दी बाद शिव उपाध्याय ने पूरा किया।

आनन्द भट्ट ने अपनी दीपिका के अन्त में अपने समय के सम्बन्ध में एक श्लोक उद्धृत किया है—

'वेदसप्तर्षिवेदान्त्ययुगाब्दमधुपक्षतौ।
विज्ञानकौमुदीमेतां भट्टानन्दो व्यकासयत्' ॥

इसके अनुसार मैंने संस्कृत के कई विद्वानों से विचार-विमर्श किया, किन्तु उदयपुर के प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य श्री बिहारीलाल दशोरा इसे अधिक स्पष्ट कर पाये। उनके अनुसार ४७७४ कलिगणाब्द की चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को भट्ट आनन्द ने विज्ञान-कौमुदी नाम की टीका समाप्त की[1]। काश्मीर-शैवदर्शन के आचार्यों में कलिगणना देने की परम्परा रही है। अतः कलिगणना की विक्रम संवत् के साथ तुलना करने पर उक्त टीका का समय वि० सं० १७२९ (१७७३ ई०) निश्चित होता है।

यदि भट्ट आनन्द की यह तिथि भी मान ली जाय तो वे शिवोपाध्याय से पूर्व के ठहरते हैं। अतः यह प्रश्न फिर भी बना रहता है कि एक ही ग्रन्थ पर टीका लिखने वाले शिवोपाध्याय ने भट्ट आनन्द का उल्लेख क्यों नहीं किया? इस पर विस्तार से विचार करना अध्ययन एवं समय सापेक्ष है।

---

१. पक्षति शब्द का अर्थ है—पक्ष की मूल तिथि प्रतिपदा।
—द्र० अमरकोष, कालवर्ग, श्लोक १, माहेश्वरी टीका।
'पक्षात्याद्यास्तु तिथयः क्रमात् पञ्चदशाः स्मृताः।
पक्षतिः पक्षमूलस्य···' ॥
—द्र० शब्दकल्पद्रुम, खण्ड-२, रघुनन्दन भट्ट।

प्रस्तुत कृति में मेरी दृष्टि मूल ग्रन्थ और उसकी टीकाओं के अनुवाद तक ही सीमित रही है। अतः ग्रन्थ के अन्य उपयोगी पक्षों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला जा सका है। यद्यपि मैंने प्रतिपाद्य विषय को टीका के अतिरिक्त भारतीय दर्शन के अन्य ग्रन्थों से भी तुलना करने का प्रयत्न किया है, किन्तु फिर भी सम्पूर्ण ग्रन्थ में आये हुए पारिभाषिक शब्दों की तुलनात्मक व्याख्या नहीं की जा सकी है, जो दर्शन-ग्रन्थ के लिए आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में आगे कभी विस्तृत अध्ययन के साथ कार्य किया जा सकेगा।

प्रस्तुत कृति में योग-साधनाओं से सम्बन्धित 'करंकिणी', 'क्रोधना', 'भैरवी', 'लेलिहाना' और 'खेचरी' आदि मुद्राओं तथा 'जन्माग्र', 'मूल', 'कन्द', 'नाभि', 'हृदय', 'कण्ठ', 'तालु', 'भ्रूमध्य', 'ललाट', 'ब्रह्मरंध्र', 'शक्ति' और 'व्यापिनी'—द्वादश चक्रों का भी उल्लेख हुआ है, उनमें से ७ चक्रों को चित्र द्वारा भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

इस ग्रन्थ को पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए सभी पूर्वाचार्यों और श्रद्धेयचरण गुरुदेव प्रो० डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, अधिष्ठाता कलासंकाय, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। वस्तुतः आप ही मेरे साहित्यानुशीलन के मुख्य प्रेरणा-केन्द्र रहे हैं।

इस ग्रन्थ का अनुवाद कार्य सन् १९७२ ई० में सम्पन्न हुआ था। मूल ग्रन्थ तथा उस पर प्राप्त टीकाओं की हिन्दी व्याख्या, शिवोपाध्याय की विवृति तथा समीक्षात्मक टिप्पणियों के साथ प्रकाशनार्थ सन् १९७६ ई० के उत्तरार्द्ध में चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन को दिया गया था। उनकी अधिक व्यस्तता के कारण इसका प्रकाशन १५ (पन्द्रह) वर्षों बाद संभव हो सका है। इस बीच इस ग्रन्थ पर विस्तृत सामग्री उपलब्ध हो रही है, तथापि इसका हिन्दी भाषा में यह प्रथम अनुवाद है। यही कारण है कि इसमें आये हुए तंत्र, योग व त्रिक दर्शन के पारिभाषिक शब्दों की विस्तृत व्याख्या नहीं हो सकी है। द्वितीय संस्करण में इस कार्य को पूरा किया जा सकेगा।

प्राक्कथन समाप्त करने से पूर्व मैं अपना परिवार, प्रातःस्मरणीय श्रद्धेय पिताश्री श्रीओंकारलाल जी आंजना को नहीं भुला सकता। मेरा जीवन-सर्वस्व उन्हीं के श्रीचरणों की कृपा का प्रतिफल मात्र है। साथ ही सहधर्मचारिणी सौ० सीतादेवी आंजना का हृदय से स्मरण कर रहा हूँ, जिन्होंने मुझे भगवती सरस्वती की आराधना में संयोजित किया है और स्वयं पारिवारिक दायित्वों का निर्वहन किया है। श्लोकानुक्रमणिका तथा शब्दानुक्रमणिका

तैयार करने में सहायता करने वाली पुत्रीद्वय पूनम रानी एवं सुस्मिता रानी के उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ ।

अन्त में व्यवस्थापक, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापन करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने यह ग्रंथ प्रकाशित कर हिन्दू-संस्कृति एवं साहित्य के प्रति अपने सहज अनुराग का परिचय दिया है ।

स्खलन और त्रुटियाँ तो मनुष्य के स्वभाव में लगी हुई है । हमारे तुच्छ प्रयास का क्या मूल्य होगा ? यह तो नीर-क्षीर-विवेक से संपन्न पंडित-प्रवर ही निश्चित कर सकेंगे—

'हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ।'

अभी तो मैं अपनी असमर्थता की प्रतीति से अभिभूत हो रहा हूँ—

'क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहाद्डुपेनास्मि सागरम् ।।
अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ।।'

विद्वद्वशंवदः

बापूलाल आञ्जना

विषयानुक्रमणिका

	कारिका	पृष्ठाङ्क
भैरव के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न	१–२	१
परमतत्त्व विषयक आठ प्रश्न	२–५	३
परादि शक्तित्रय विषयक प्रश्न	५–७	५
सकल स्वरूप की असारता	८–१३	८
निष्कल स्वरूप की परमार्थता	१४–१७	९
शिव-शक्ति के स्वरूप का निर्णय	१८–२१	१०
परावस्था की प्राप्ति का उपाय क्या है	२२–२३	१२
क्रमशः ११२ धारणाओं का उपदेश		
प्राणापान विषयक धारणा के षड्विध अर्थ	२४	१३
अष्टविध प्राणायाम	२५–३७	१७
भैरव-मुद्रा का विवेचन	२६	२१
शान्ता-नामा शक्ति से शान्त-स्वरूप की प्राप्ति	२७	२२
प्राणापान-वायु की सूक्ष्मता से भैरव-स्वरूप की अभिव्यक्ति	२८	२२
प्रतिचक्र में दौड़ती प्राणवायु का चिन्तन	२९	२३
अकारादि द्वादश स्वरों द्वारा द्वादश चक्रों का भेदन	३०	२३
खेचरी मुद्रा का साधन	३१	२४
इन्द्रिय-पंचक की शून्यता द्वारा अनुत्तरशून्य में प्रवेश	३२	२५
शून्यता में लीन प्राणशक्ति	३३	२५
कपालछिद्र में मन की एकाग्रता	३४	२७
चिदाकाशात्मिका देवी का सुषुम्ना नाड़ी द्वारा ध्यान	३५	२८
भ्रूचक्र के भेदन द्वारा बिन्दु में लीन होना	३६	२८
विकल्पों के विनाश हेतु बिन्दु का द्वादशान्त में ध्यान	३७	२९
नाद (शब्दब्रह्म) भावना	३८	२९
प्रणवपिण्डमन्त्र भावना		
प्रणव व प्लुतोच्चारण द्वारा शून्यभाव की धारणा	३९	३०
वर्ण के आदि-अन्त के चिन्तन द्वारा शून्य का साक्षात्कार	४०	३२
नाद-चिन्तन द्वारा परमाकाश की प्राप्ति	४१	३३
अर्द्धेन्दु, बिन्दु, नाद व नादान्त के अनन्तर शून्योच्चारण	४२	३३

	कारिका	पृष्ठाङ्क
शून्य भावना		
परमशून्य की धारणा द्वारा समग्र आकाश का प्रकाशन	४३	३७
शून्य के चिन्तन से मन की शून्यता	४४	३८
ऊर्ध्व मूल और मध्य शून्य के चिन्तन द्वारा निर्विकल्पता का उदय	४५	३८
शरीर में क्षणिक शून्यता के चिन्तन द्वारा भी तत्त्वों की निर्विकल्पता	४६	३९
देह के समस्त द्रव्यों की आकाश से व्याप्ति	४७	४०
शरीर की त्वचा की व्यर्थता	४८	४०
चित्त की एकाग्रता द्वारा मात्र चैतन्य की अनुभूति	४९	४०
द्वादशान्त में मन की लीनता तथा बुद्धि की स्थिरता	५०	४१
वृत्तियों की क्षीणता द्वारा वैलक्षण्य की प्राप्ति	५१	४१
कालाग्नि से स्वशरीर को जलता हुआ मानना	५२	४१
सारे संसार को विकल्पों से जला हुआ मानना	५३	४२
संपूर्ण जगत् के तत्त्वों को स्व-स्व कारणों में लय हो जाने का ध्यान करना	५४	४२
हृदय-चक्र में प्राणशक्ति का ध्यान करना	५५	४२
षडध्व भावना		
भुवनाध्वा के रूप में चिन्तन से मन का लय हो जाना	५६	४३
अध्व-प्रक्रिया से शिवतत्त्व का ध्यान करना	५७	४६
संसार को शून्यता में लीन करना	५८	४७
अंतःकरण में दृष्टि का स्थापन	५९	४७
मध्य भावना		
दृष्टि-बन्धन भावना का निरूपण	६०	४८
निरालम्ब भावना का वर्णन	६१	४८
ध्येयाकार भावना	६२	४९
शाक्ती भूमिका–समग्र शरीर व जगत् को चिन्मय विचारना	६३	५०
अन्तर व बाह्य वायुओं का संघट्टन	६४	५०
सम्पूर्ण जगत् को आत्मानन्द से परिपूर्ण मानना	६५	५१
मायीव प्रयोग (कुहन प्रयोग) महानन्द की प्राप्ति	६६	५१
प्राणायाम-विवेचन		

	कारिका	पृष्ठाङ्क
इन्द्रिय-छिद्रों के निरोध तथा प्राण-शक्ति के उत्थान से 'परमसुख'	६७	५२
विषस्थान तथा वह्निस्थान के मध्य में मन को स्थित करने से परम शिव की प्राप्ति	६८	५५
सुख भावना		
स्त्री-संसर्ग के आनन्द से ब्रह्मतत्त्व की अनुभूति	६९	५६
स्त्री जन्य पूर्वानुभूत सुखों के स्मरण द्वारा परमानन्द की अनुभूति	७०	५७
धन एवं बन्धु-बान्धव के मिलने से उत्पन्न आनन्द का ध्यान	७१	५८
भोजन और पान से उत्पन्न आनन्द का ध्यान	७२	५८
संगीतादि विषयों के आस्वादन में तन्मयता	७३	५९
मनोवांछित संतोष की प्राप्ति के साधनों में मन की स्थिरता	७४	६०
मनोगोचर अवस्था द्वारा परादेवी का प्रकाशन (शांभवी भूमिका)	७५	६२
सूर्य-दीपक आदि तेज से चित्रित आकाश में दृष्टि को स्थित करना	७६	६२
क्रमदर्शन की मुद्राएँ		
करङ्किणी, क्रोधना, लेलिहाना, भैरवी और खेचरी आदि मुद्राओं का विवेचन	७७	६३
कटि-प्रदेश वाले आसन द्वारा ध्यान	७८	६७
कक्षाकाश में मन को स्थिर करना	७९	६७
स्थूलरूप विषय में दृष्टि को स्तब्ध कर मन को निराश्रित बनाना (भैरवी भूमिका)	८०	६७
जिह्वा को मुँह के बीच में रखकर हकार का उच्चारण करना	८१	६७
शयनासन लगाकर शरीर को निराधार समझना	८२	६८
चंचल आसन पर बैठने पर भी मानस भाव को शांत रखना	८३	६९
निर्मल आकाश में दृष्टि को स्तब्ध करना	८४	६९
तिमिर भावना		
भैरवत्व की भावना करना	८५	६९
ज्ञान, प्रकाश तथा तम (जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति) को भैरव रूप समझना	८६	७०

	कारिका	पृष्ठाङ्क
तैमिरी धारणा का निरूपण	८७	७२
नेत्र निमीलित कर काले स्वरूप (अंधकार) का चिन्तन करना	८८	७३
इन्द्रिय निरोध मात्र से अद्वितीय शून्य में प्रवेश	८९	७३
अनुत्तर (अकार) तत्त्व का विवेचन		
बिन्दु विसर्ग रहित मात्र अकार का जप	९०	७३
विसर्ग युक्त वर्ण का ध्यान कर चित्त को आधार रहित करना	९१	७७
अपनी आत्मा का आकाश सदृश चिन्तन	९२	७९
सूची-नोक द्वारा अङ्ग भेदन कर वहाँ चेतना का संयोग	९३	८०
चित्तादि विकल्पों से मुक्ति	९४	८०
माया, कला, इच्छा प्रभृति का विवेचन		
विभिन्न तत्त्वों के विभिन्न धर्मों का आकलन	९५	८०
इच्छा के उत्पन्न होते ही उसका शमन	९६	८१
इच्छा, ज्ञान और क्रिया के सदृश स्वयं का अस्तित्व न होना	९७	८५
इच्छा अथवा ज्ञान को आत्मा समझना	९८	८५
आधार के बिना ज्ञान को भ्रमात्मक समझना	९९	८६
सारे शरीरों को चैतन्यधर्मा आत्मा समझना	१००	८७
कामादि आसक्तियों के समय बुद्धि को स्थिर करना	१०१	८८
सारे संसार को इन्द्रजालमय या चित्रकर्म के समान समझना	१०२	८८
सुख और दुःख के मध्य अवशिष्ट तत्त्व को पहचानना	१०३	८८
अहम्भाव (विश्वात्मता)		
'मैं सर्वत्र विद्यमान हूँ' इस भावना का ध्यान	१०४	८९
विषय-विज्ञान और इच्छादि को शून्य मानना	१०५	९१
ग्राह्य-ग्राहक रूप की सभी प्राणियों में सामान्य प्रतीति	१०६	९२
जाग्रदादि चार अवस्थाएँ तथा त्रिविध शरीर		
स्वशरीर सदृश परशरीर में भी संवित्ति का अनुभव	१०७	९४
मन को निराधार कर विकल्प-कल्पनों का त्याग	१०८	९६
प्रत्यभिज्ञा के द्विविध स्वरूप		

	कारिका	पृष्ठाङ्क
सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता, व्यापक और परमेश्वर की स्वयं में प्रतीति	१०९	९७
जल की तरंगों और सूर्य के प्रकाश में भैरव की ही भङ्गिमाओं का ध्यान	११०	९८
शरीर द्वारा विश्राम की स्थिति में निर्विकल्प अवस्था का उदय	१११	९९
अशक्ति आदि द्वारा पदार्थों में शक्ति के समावेश से क्षोभ को मिटाना	११२	९९
नेत्रों की स्तब्धता द्वारा कैवल्योत्पत्ति	११३	९९
सिद्धासन द्वारा अच् और हल् रहित अकार के उच्चारण से ब्रह्म में प्रवेश	११४	९९
कूपाकाश और महाकाश की एकता का अविकल्प बुद्धि द्वारा ध्यान	११५	१००
सप्तविध समाधि		
बाह्य तथा आभ्यन्तर विषयों में सर्वत्र चैतन्य संविद्रूप का ध्यान	११६	१००
बाह्याभ्यन्तर इन्द्रियों द्वारा अभिव्यक्त पदार्थों में चैतन्य की अनुभूति (भरितावस्था)	११७	१०३
भय-शोक-क्षुधादि अवस्था में ब्रह्म सत्तामयी अवस्था का अनुभव (शाम्भवी भूमिका)	११८	१०४
देखे पदार्थों का स्मरण कर स्वशरीर को आधारहीन बनाना	११९	१०४
वस्तु से दृष्टि लौटाकर उसके ज्ञान को चित्त में लौटाना	१२०	१०५
भक्ति-विवेचन		
शाङ्करी शक्ति का नित्य ध्यान	१२१	१०५
एक वस्तु का ध्यान करते हुए अन्य वस्तुओं में शून्यता का ध्यान	१२२	१०५
शुद्धि व अशुद्धि का स्वरूप		
शुद्धि-अशुद्धि तथा शुचि-अशुचि का विचार नहीं करना	१२३	१०८
साधारण मनुष्यों में भैरव के अद्वैत का दर्शन	१२४	१११
शत्रु और मित्र तथा मान और अपमान में समदृष्टि द्वारा ब्रह्म की परिपूर्णता की अनुभूति	१२५	११२
रागद्वेष से मुक्त भावना की प्राप्ति	१२६	११३

	कारिका	पृष्ठाङ्क
शून्यता का विवेचन		
अज्ञेय, अग्राह्य तथा अभाव रूपों में भैरव की भावना करना	१२७	११४
ब्रह्माकाश में मन की स्थिरता द्वारा आकाश से परे अशून्य में प्रवेश	१२८	११६
इच्छित वस्तुओं से मन का निरोध कर उसे निश्चल बनाना	१२९	११६
भैरव के स्वरूप का निरूपण		
सर्वत्र व्यापक एवं सर्वशक्तिदाता भैरव शब्द का निरन्तर उच्चारण	१३०	११७
'मैं' और 'मेरा' इत्यादि बोधादि विकल्पों से रहित होना	१३१	१२०
नित्य, निराधार, व्यापक, सर्वेश्वर आदि शब्दों का प्रतिक्षण ध्यान	१३२	१२२
इन्द्रजाल धारणा का वर्णन	१३३	१२३
शून्य स्वरूप का वर्णन	१३४	१२३
बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था		
संसार को बुद्धि का प्रतिबिम्ब मानना	१३५	१२५
इन्द्रियों का त्याग कर आत्मनिष्ठ होना	१३६	१२७
जीवन्मुक्ति का विवेचन		
ज्ञान और ज्ञेय का एकीकरण	१३७	१२८
मानस, चेतना, प्राणशक्ति और जीवात्मा के परिक्षीण होने पर भैरवावस्था की प्राप्ति	१३८	१३०
निस्तरंग उपदेशों द्वारा व्यक्ति का ज्ञानी हो जाना	१३९	१४०
११२ धारणाओं में से किसी एक द्वारा स्वयं भैरव हो जाना या शाप व अनुग्रह जैसी शक्तियों की प्राप्ति	१४०	१४१
जीवन्मुक्त अवस्था की प्राप्ति	१४१	१४१
जप, पूजा, होम आदि के विषय में देवी का प्रश्न		
जप और जपकर्त्ता के सम्बन्ध में देवी का प्रश्न	१४२	१४१
ध्याता, पूजक, होम और याग के सम्बन्ध में प्रश्न	१४३	१४२
इन प्रश्नों का भैरव द्वारा उत्तर	१४४	१४२

	कारिका	पृष्ठाङ्क
जप और जपनीय का स्वरूप	१४५	१४२
ध्यान का स्वरूप	१४६	१४३
अजपा जप-विधि		
अन्तःकरण-चतुष्टय का चिदाकाश में लय होना ही पूजा है	१४७	१४३
किसी एक धारणा स्थिति ही तृप्ति है	१४८	१४५
होम का स्वरूप	१४९	१४५
याग का स्वरूप	१५०, १५१	१४६
वास्तविक स्नान का स्वरूप	१५२	१४७
बाह्य पूजा की निस्सारता (पूज्य-पूजक का अभेद)	१५३	१४७
प्राणापान स्वरूप परावस्था	१५४	१४७
जीव द्वारा परम भैरवता की प्राप्ति	१५५	१४७
श्वास-प्रश्वास स्वरूप जप की प्राणान्त में दुर्लभता	१५६	१४७
ग्रन्थ की फलश्रुति		
अध्यात्मशास्त्र की गोपनीयता	१५७	१५६
उपदेश प्रदान करने से पूर्व पात्रता-अपात्रता का विचार	१५८	१५६
अस्थिर वस्तुओं के त्याग से परमपद की प्राप्ति	१५९	१५६
प्राणों से भी श्रेष्ठ परमामृत	१६०	१५६
देवी द्वारा शंकाओं के समाधान की प्राप्ति तथा शिव के साथ एकीकरण	१६१–१६३	१५७
श्लोकानुक्रमणिका		१५९

परिशिष्ट

(क) शब्दानुक्रमणिका	१६३
(ख) संस्कृत टीका व हिन्दी व्याख्या में उद्धृत श्लोकानुक्रमणिका	१७५
(ग) विवृति और कौमुदीकार की कारिकाओं में पाठभेद	१८०
(घ) सहायक ग्रन्थ-सूची	१८३

श्रीः

विज्ञानभैरवः

श्रीक्षेमराजाचार्यविरचितविवृतिभागोत्तरं श्रीशिवोपाध्यायविरचितविवृत्युपेतः
श्रीबापूलाल'अञ्जना'-विरचितकारिकानुवाद-विवृतिभागस्थहिन्दीव्याख्योपेतः

भीरूणामभयप्रदो भवभयाक्रन्दस्य हेतुस्ततो
हृद्धाम्नि प्रथितश्च भीरवरुचामीशोऽन्तकस्यान्तकः ।
भीरं वायति यः स्वयोगिनिवहस्तस्य प्रभुर्भैरवो
विश्वस्मिन्भरणादिकृद्विजयते विज्ञानरूपः परः ॥ १ ॥
स्वैरिस्वच्छस्फुरद्धाभिर्भासिताण्वाद्युपायतः ।
स्वोन्मेषाच्छाम्भवावेशं दर्शयन्तीं शिवां श्रये ॥ २ ॥
आम्नायाद्यमृतैः सिञ्चन्त्यन्तेवासिमनोऽवनीः ।
जयत्यतुलतापच्छिद्गुरुगीरम्बुदावली ॥ ३ ॥
धीमन्दराचलवलत्परमागमाब्धे-
रुल्लास्यते किमपि यत्परमामृतं तत् ।
जीवच्छिवत्वमधिगन्तुममुत्र सद्भिः
सञ्चर्व्यतामविरतं परशक्तिपूतैः ॥ ४ ॥

इह श्रीमान् चिद्भैरवः पूर्णाहंविमर्शात्मपरशक्तस्फुरत्ताभित्तावन्तःकृतानन्तावान्तरसर्गादिप्रपञ्चपूर्वपूर्वदशानिमेषणवशोन्मिषदुत्तरोत्तरावस्थेच्छाज्ञानक्रियाशक्तिसारानाश्रितसदाशिवेश्वरपदावभासनस्वरूपो बीजभूतैतद्दशागोपनासतत्त्वग्राहकतच्छक्तितत्पश्यन्त्यादिभूम्याभासपुरःसरमेयाभासान्तस्फुरणया जगद् व्यवस्थामिव निमिषद्वैखर्यादिवशोन्मिषदीश्वरादिस्फुरणया अनुग्रहनिमज्जितमितमातृतच्छक्त्युन्मज्जितरुद्रयामलसमावेशमुन्मीलयति — इत्यद्वयनयेषु पञ्चकृत्यकारितोच्यते भगवतः । तत्र पश्यन्त्यादिपदे द्योतनादिसतत्त्वा संविद्देवी प्रबुध्यमानतया प्रष्ट्री स्वा परभैरवाभिन्ना पराभूमि सदा स्वाभासामप्यन्तर्बाह्याक्षागोचरत्वात् परोक्षामिव, पश्यन्त्यादिकालापेक्षया तु भूतामिव, तत्तद्रुद्रक्षेत्रज्ञतत्तत्प्राणांशांशिकापेक्ष्यकल्पावधिकदिनमासान्वयाभावाद् अद्यतनीमिव यावदावेष्टुमामृशति तावत् 'सुप्तोऽहं किल बिललाप' इतिवत् अहमेव

संविद्देवी पश्यन्त्यादिपदे प्रबुभुत्सुरस्फुटस्फुरितपराभट्टारिकैक्यचकासद्रहस्यमुवाचाममर्श। एवं प्रबुद्धा सती नैराकाङ्क्ष्यात् 'भिया सर्वं रवयति' इति निरुक्तभैरवरूपा अहमेवोवाचेति—

श्री देव्युवाच—'श्रुतं देव.....' इत्यादेः।

भैरव उवाच—'साधु साधु' इत्यादिकमभ्यस्य 'सर्वत्रिशक्तिभेदानां हृदयं ज्ञातमद्य च' इत्यन्तस्य शास्त्रस्य परसम्बन्धप्राणतैव। तदित्थं परसम्बन्धसतत्त्वं श्रीविज्ञानभैरवाभिधायि 'इत्युक्त्वानन्दिता देवी कण्ठे लग्ना शिवस्य तु' इत्यन्तेऽभिधास्यमानत्वात् विज्ञानभैरवावेशप्रयोजनत्वात् तदभिधानमेवेदं शास्त्रम्, तन्त्रावतारकहृद्दभूमिमश्नुवाना पराभट्टारिका उचितवचनरचनाक्रमेण वस्तुपूर्वकमुपक्षिपति।

देवी उवाच—

श्रुतं देव मया सर्वं रुद्रयामलसम्भवम्।
त्रिकभेदमशेषेण सारात्सारविभागशः॥ १॥
अद्यापि न निवृत्तो मे संशयः परमेश्वर।

हे देव विश्वावद्योतनक्रीडनादिसतत्त्व स्वात्मन्, समस्तरुद्राविरुद्रतच्छक्तिसामरस्यात्मनो यामलात्—

'अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात्।
ध्वनिरूपं विनिष्क्रान्तं शास्त्रं परमदुर्लभम्॥'

इत्याम्नायोक्तेः सम्भवो यस्य तत्, अर्थात् शास्त्रं सर्वं त्रिकस्य परादिशक्तित्रयसारनर-शक्ति-शिवात्मनस्तत्त्वत्रयस्य भेदो ज्ञानक्रियाप्राधान्येतरादिप्रतिपादनेन भिद्यमानता यत्र, तदपि अशेषेण—सामस्त्येन श्रुतम्। कथं 'सारात्सारविभागशः'—

'वेदादिभ्यः परं शैवं शैवाद्वामं तु दक्षिणम्।
दक्षिणात्परतः कौलं कौलात्परतरं त्रिकम्॥'

इतिस्थित्या तावत् त्रिकशास्त्रं सारम्। तत्रापि सिद्धा-मालिन्युत्तरादि क्रमात्क्रमं ज्ञानप्रकर्षोपदेशोत्कर्षात् उत्कृष्टम्, अद्यापि च न मे संशयः शान्त इति॥ १½॥

भगवान् शिव 'आगम' शास्त्रों में प्रतिपादित कर्म, उपासना और ज्ञान भेद से 'यामलादि' ग्रन्थों में प्रतिपादित रहस्य को ज्ञान-रूप में शैवदर्शन के अद्वय तत्त्व को प्रतिपादित करने की इच्छा से शक्ति द्वारा किये हुए प्रश्नों के रूप में स्वयं (शिव) आत्मतत्त्व के प्रतिपादनार्थ ग्रन्थ प्रारम्भ करते हैं—

अनुवाद—**देवी बोली**—हे देव ! मैंने आपके 'रुद्रयामल' (शास्त्र) में प्रतिपादित सार का भी सार, जो त्रिक भेद है, उसको विभागशः सम्पूर्ण सुना । पर हे परमेश्वर ! अब भी मेरा सन्देह निवृत्त नहीं हुआ ॥ १ ॥

व्याख्या—हे देव ! आप विश्व को प्रकट कर उसमें क्रीडा करते हुए अनादि सत् तत्त्व स्वरूप हो, सम्पूर्ण रोगों को द्रवित करने के कारण रुद्र कहलाते हैं, और उस रुद्र-शक्ति के सामरस्य से 'यामल' बन कर संसार के सम्मुख आते हैं, जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है—

'अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् ।
ध्वनिरूपं विनिष्क्रान्तं शास्त्रं परमदुर्लभम् ॥'

अर्थात् जिसका शरीर दृष्टिगोचर नहीं है, ऐसे परमकारण शिव से परमदुर्लभ 'ध्वनि रूप' शास्त्र उत्पन्न हुआ है । अर्थात्—

'रुद्रयामलात् सम्भवा यस्य तत् रुद्रयामलयम् ।'

आशय यह है कि अदृष्ट रुद्र शक्ति-रूप, शान्त परम-शिव से उत्पन्न होने वाले परम दुर्लभ शास्त्र जो कि 'शिव' 'शक्ति' और 'सदाशिव' इस 'त्रिशक्ति' से उत्पन्न होने वाला इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति-प्राधान्य 'शिवाद्वेद अद्वय प्रतिपादक सम्पूर्ण शास्त्र और उसमें भी सार का भी सार जो 'त्रिक' शास्त्र है, वह मैंने आपके द्वारा सुना । उसमें भी 'सिद्धमालिनी' उत्तरादि क्रमशः ज्ञान के प्रकर्ष से उत्कृष्ट उद्देश्य-प्रतिपादन करने के कारण सर्वोत्कृष्ट है । यथा—

'वेदादिभ्यः परं शैवं शैवाद् वामं तु दक्षिणम् ।
दक्षिणात् परतः कौलं कौलात् परतरं त्रिकम् ॥'

'वेदादि शास्त्रों के ज्ञान से शैवशास्त्र का ज्ञान उत्कृष्ट है, शैवशास्त्र से भी वाम-मार्ग उत्कृष्ट है, वाम से दक्षिण उत्कृष्ट है, दक्षिण से भी कौलमार्ग उत्कृष्ट है तथा कौलमार्ग से त्रिक परमोत्तम है ।'

ये सम्पूर्ण मार्ग विधिवत् आपके द्वारा सुने हैं । फिर भी हे प्रभो ! मेरा सन्देह आज भी शान्त नहीं हुआ है ॥ १½ ॥

तमेव च संशयमधिगतचरानेकशास्त्रार्थपर्यालोचनप्रवणया धिया नवावान्तरग्रन्थिमुद्घटयति, किमिवात्र तत्त्वं स्यादित्याशयेन—

किं रूपं तत्त्वतो देव ? शब्दराशिकलामयम् ॥ २ ॥
किं वा नवात्मभेदेन भैरवे भैरवाकृतौ ।
त्रिशिरोभेदभिन्नं वा किं वा शक्तित्रयात्मकम् ॥ ३ ॥
नादबिन्दुमयं वापि किं चन्द्रार्धनिरोधिकाः ।
चक्रारूढमनच्कं वा किं वा शक्तिस्वरूपकम् ॥ ४ ॥

भैरवाकृतौ संसारघट्टनस्वरूपे भैरवभट्टारके, तत्त्वदृष्ट्या शब्दराशेरादि-क्षान्तस्य याः कला अनुत्तरानन्देच्छादिविमर्शशक्तयः क्रोडीकृताशेषवाच्य-वाचकमयजगत्स्फाराः ताः प्रकृतं रूपं यस्य बोधभैरवस्य विमर्शशक्त्यात्मक-त्वात् तत् किं स्यात् रूपम् ? किं वा प्रकृत्यादि-शिवान्तनवतत्त्वावमर्शयुक्त्या विमृष्टषडध्व-नवात्ममन्त्रराजस्वभावतया रूपं स्यात् ? किं वा त्रिशिरोभेदे त्रिशिरस्तन्त्रे भिन्नं क्रोडीकृताखिलनरादितत्त्वत्रयामर्शि निर्दिष्टविशिष्टमन्त्रा-त्मकम् ? किं तदधिष्ठातृपरादिशक्तित्रयात्मकम् ? यदि वा सर्वमन्त्रचक्र-सामान्यवीर्यात्मकविश्ववाच्याविभागप्रकाशरूपबिन्द्वशेषवाचकाविभागपरामर्श-मयनादात्मकम् ? अथैतद् बिन्दुनादप्रपञ्चरूपार्धचन्द्रनिरोधिकास्तत्त्वतो भैरवे रूपं स्यात् ।

तत्र सर्ववाच्याभिन्नप्रकाशात्मनो बिन्दोर्नादीभवतः किञ्चिद्वाच्यप्राधान्य-शान्तावर्धचन्द्ररूपता, ततोऽपि वेद्यकौटिल्यविगमे स्पष्टरेखात्मा निरोधिका, मितयोगिनां नादानुप्रवेशस्य, इतरेषां तु भेददशावेशस्य निरोधात् तथाख्या, बहुवचनमत्राद्यर्थं नादान्तशक्तिव्यापिनीसमनाख्या नादोर्ध्वकला लक्षयति, तत्र नादस्यैव शब्दव्याप्तेः शाम्यत्तायां सुसूक्ष्मध्वन्यात्मा नादान्तः, प्रशान्तौ तु ह्लादात्मस्पर्शव्याप्त्युन्मेषरूपा शक्तिः, सैव देहानवच्छेदाद् व्योमव्याप्त्यासादाद् व्यापिनी, समस्तभावाभावात्मवेद्यप्रशान्तौ मननमात्रात्मककरणरूपबोधमात्रा-वेशे समना, इत्येतदर्धचन्द्रादिमन्त्रकलारहस्यम् । एवं मातृकामन्त्रतद्वीर्यतत्प्र-मेयमुखेन विमृश्य ध्येयमहामन्त्रमुखेनापि भगवद्रूपं विमृशति 'चक्रेति' जन्मादि-चक्रेष्वारूढं लिपिध्यानेनैव न्यस्तम्, अनच्कं ह-कलात्म नादमयं किं रूपम् ? यद्वा प्रशान्ताशेषकौटिल्यसुस्पष्टशक्तिस्वरूपं भैरवे किं रूपम् ? इति ॥ २-४ ॥

अनुवाद—हे भगवन् ! यह वास्तविक स्वरूप किस प्रकार का है—यह तत्त्व से समझाइए । क्या यह स्वरूप 'शब्द राशि कलात्मक (शब्दब्रह्मात्मक)' है ? अथवा 'नवतत्त्वात्मक' है ? किंवा सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण ब्रह्म-भाव भूत पंचकृत्य स्वभावभूत चैतन्यतत्त्व में 'नर-शक्ति' और शिवात्मरूप से त्रिशिरोभेदभिन्न रूप का है ? अथवा 'मातृ' 'मान' और 'मेय' व्यापार रूप जन्य 'इच्छा' 'ज्ञान' और 'क्रिया' शक्ति स्वरूप है ? ॥ २-३ ॥

किंवा नाद बिन्दु स्वरूप है ? अथवा अंगभूत अर्द्धचन्द्र निरोधात्मक व्यापाररूप है ? अथवा 'षट् चन्द्राकार' 'षट् पत्रात्मक' चक्रों में स्थित मातृस्वरूप है, जो कि स्वरवर्णों से रहित है ? अथवा 'कुण्डलिनी' स्वरूप है ? ॥ ४ ॥

व्याख्या—संसार-रचना में प्रवृत्त भैरव को तत्त्व दृष्टि से समझने पर विचार करें—तो क्या यह सृष्टि 'अकार' से लेकर 'क्षकार' तथा 'वर्णमाला रूप' है ? जो कि सर्वोत्कृष्ट आनन्द की इच्छा 'विमर्शशक्ति' के द्वारा सारे संसार को अपने भीतर

समाहित करती हुई वर्णमाला के रूप में प्रकट होती है। तथा 'विमर्शशक्ति' के नाम से कही जाती है। अथवा प्रकृति से लेकर शिव-पर्यन्त विचारयुक्ति के द्वारा 'षडध्व' तथा त्रिशिरोभेद त्रिशिरतन्त्र के अनुसार 'मनुष्य' 'शक्ति' और 'शिव' ये त्रितत्त्वात्मक है, जिसने कि संसार को अपने भीतर समाहित कर लिया है? अथवा 'माता' 'मान' और 'मेय' रूप व्यापार त्रयात्मक है? किंवा इच्छा ज्ञान और क्रियात्मक है? वा 'नादबिन्दुमय शिवशक्त्यात्मक' शब्द प्रत्यय स्वरूप 'ज्ञान' 'क्रिया' और 'आत्मा' रूप है? अथवा ओंकार के अंग 'अकार' 'ऊकार' 'मकार' अथवा नाद बिन्दु तथा निरोधशक्ति 'अर्द्धचन्द्राकार रूप' है? किंवा षट्चक्र के पत्रों में स्थित क्, ख्, ग्, घ् इत्यादि स्वरवर्ण रहित मात्रिकावर्ण स्वरूप है? किंवा शक्तिस्वरूप ही यह संसार है, जिसको 'समना' कहते हैं?

इत्थं ध्येयमहामन्त्रतच्छक्तिमुखेनापि विमृश्य सर्वोत्तरानुत्तरपराशक्तिमुखेनापि विश्रष्टुमाह—

परापरायाः सकलम् अपरायाश्च वा पुनः।
पराया यदि तद्वत् स्यात् परत्वं तद्विरुध्यते ॥ ५ ॥
न हि वर्णविभेदेन देहभेदेन वा भवेत्।
परत्वं निष्कलत्वेन सकलत्वे न तद्भवेत् ॥ ६ ॥

श्रीपरात्रिंशकादौ मन्त्रविशेषध्येयविशेषात्मकं यत् पराभट्टारिकायाः सकलं रूपमुक्तं तत् परापरादेव्याः, यद्वा तस्या अपि परांशप्राधान्यात् तदनुपपत्तौ अपरादेव्याः एव भवतीति सम्भाव्यते। यदि तु पराभट्टारिकाया अपि तदिष्यते, तत् परत्वं नाममात्रेण स्यात्। वर्णविशेषेण सितादिना, अक्षररूपेण च, देहभेदेन आकृतिविशेषेण द्वादशान्तादिशारीरस्थानविशेषाश्रयेण न वा परत्वं प्रकृष्टत्वं भवति, अपि तु कलनाशून्यत्वेन, सकलत्वे तु तद्भवति इत्यसम्भाव्यमेव ॥ ५-६ ॥

एवं समग्रागमार्थहृदयविमर्शिना विचारेणाभिमुखीकृतप्रायतत्त्वार्था संविद्देवी स्वां सम्पूर्णविज्ञानभैरवरूपतामाविविक्षुराह—

प्रसादं कुरु मे नाथ ! निःशेषं छिन्धि संशयम् ॥

मायामहामायाकालुष्यप्रशमनिर्मलीकृतं स्वं रूपं मम प्रकटय निःशेषमिममेकमेव नवपर्वाणं संशयं शमय।

इत्थमामर्शनवशोन्मिषन्निराकाङ्क्षा स्वस्वभावोक्तरूपा देव्येव प्राप्तभैरवभावा उक्तनीत्या उवाच, सर्वस्य चेदृश्येव प्रायः सर्वव्यवहारेष्वपि स्वयं प्रश्न-

प्रतिवचनचतुरा संवित्, इह तु अनुत्तरार्थविषया इति विशेषः। तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्॥'

इति यदुवाच तत् 'साधु साधु' इति स्वप्रतिभाश्लाघापूर्वं प्रस्तौति।

अनुवाद—अथवा परात्रिंशिका आदि ग्रन्थों में उल्लिखित मंत्र विशेष के द्वारा 'परादेवी' का सकल रूप है? अथवा 'परादेवी' का सकल रूप है? अथवा यों कहिए कि उसमें ही परांश प्रधान होने के कारण उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः अपरादेवी ही मुख्य ध्येयरूप है। यदि परादेवी का भी अभेदरूप होने से नाम मात्र से ही उसमें परत्व है, तब वह भी अपरादेवी के समान ही हुआ तो परत्व वास्तविक रूप से विरुद्ध हुआ॥ ५॥

वर्ण-भेद अथवा देह-भेद मात्र से यह भेद नहीं हो सकता। क्योंकि यदि ऐसा भेद स्वीकार किया जाय तो निष्फल होने से परत्व और सकल होने से अपरत्व हो जायेगा॥ ६॥

हे प्रभो! कृपा करके मेरे इस संदेह का निराकरण कीजिए॥ ६½॥

व्याख्या—वर्णों का स्वर-व्यंजन युक्त उच्चारण करने योग्य जो रूप है, वह 'परा-शक्ति' कहलाती है। जैसे 'ओं नमः श्रीविद्यापादुकाभ्यः'—यह 'अपराशक्ति' का रूप हुआ। वही पृथक्-पृथक् उच्चारण करने पर 'परापरा' रूप हो जायेगा। 'क्' 'ख्' 'ग' 'घ्' इत्यादि स्वररहित व्यंजन पराशक्ति का रूप है। और वे ही स्वरसहित ओं नमः इति 'अपरा' का रूप है। क्योंकि स्वतंत्र शक्ति ही पारूप है और यदि वह क्रमपूर्वक सृष्टि-रचना की इच्छा करती है तो 'अपरा' रूप है। और जब क्रम में रख दी जाती है तो 'परापरा' का रूप हो जाती है, जैसा कि 'तंत्रालोक' में कहा गया है—

'स्वातन्त्र्यशक्तिः क्रमसंसिसृक्षा क्रमात्मता चेति विभोर्विभूतिः।
तदेव देवीत्रयमन्तरास्तामनुत्तरं मे प्रथयत् स्वरूपम्॥'

अर्थात् क्रम सृजन अवस्था में स्वातन्त्र्यशक्ति, क्रमसंसिसृक्षा और क्रमात्मकता—ये व्यापक परमात्मा की त्रिमूर्तियाँ हैं। ये तीनों शक्तियाँ ही 'त्रिदेवी' है। इसलिए आगे का स्वरूप कृपा करके मुझे बतलाइए। क्योंकि इस प्रकार प्रतिपादन किया हुआ 'अपराशक्ति' और 'परापराशक्ति' का स्वरूप समान होने के कारण यदि सदृश है, तो परत्व इन दोनों से विरुद्ध है। 'परापरा' और अपरा भेद की उपपत्ति के कारण पराशक्ति में इन दोनों का अभेद स्वभाव है। इसीलिए 'परा' स्वरूप में परत्व विरुद्ध हो जायेगा और परपरा में सकलरूप ही जानने योग्य रहने के कारण समुदाय के मध्य में गिर जाने से परापरा में कोई भेद नहीं रहेगा। यहाँ 'पर' और परापरा में अभेदता आ जाने के कारण विरुद्ध दोष होगा।

यह एक विभाग विमर्श स्पर्श करने से अथवा एक का दूसरे से भेदत्याग से, प्रमेयत्याग से उत्पन्न होने वाले प्रमाता तत्त्व अहं भावना से जो कुछ वास्तविक परमात्म तत्त्व है, उसको (अर्थात् एक ही परमात्मा तत्त्व जो स्वयंप्रकाश है) समझाइए। जिससे दर्पण में प्रतिबिम्बित यह सम्पूर्ण संसार उस अद्वैततत्त्व से अभिन्न है और वह मुझसे अभिन्न है, ऐसा मेरा वास्तविक स्वरूप मुझे निर्णीत हो जाय तथा जिससे भेद-भावना दूर होकर आत्मा और जगत् की एकता से अभेदभाव प्रतिपादित हो सके, ऐसी युक्तिपूर्वक विवेचना कीजिए।

माया और महामाया द्वारा फैलाई हुई मलिनता का शमन करके मेरे परमविशुद्ध शरीर को प्रकट कीजिए और इन नौ प्रकार के संदेहों को मिटाइए ॥ ५-६½ ॥

भैरव उवाच—

साधु साधु त्वया पृष्टं तन्त्रसारमिदं प्रिये ॥ ७ ॥
गूहनीयतमं भद्रे ! तथापि कथयामि ते ।

हे प्रिये ! परानन्दतृप्तिप्रथापरे ! अत एव भद्रे ! कल्याणिनि ! यत् पृष्टं त्वया सर्वशास्त्रसारभूतं वस्तु, तदतिरहस्यत्वाद् गूहनीयतममपि ते अनुत्तमपदसमावेशौन्मुख्येन योग्यायाः, कथयामि इति प्रतिजानीते ॥ ७½ ॥

इस प्रकार स्व-स्वभावस्वरूपा देवी, जिसने कि ईश्वरभाव को प्राप्त कर लिया है, उसके संदेह को शांत करते हुए भैरव ने कहा—

अनुवाद—हे प्रिये ! तुमने यह अतिश्रेष्ठ प्रश्न मेरे सामने रखा है। हे भद्रे ! जो अत्यन्त गोपनीय व सम्पूर्ण तत्वों का सार है, फिर भी तेरे सामने कहता हूँ ॥ ७½ ॥

तत्र हेयहापनपूर्वमुपादेयं हृदि प्ररोहयति—

यत्किञ्चित्सकलं रूपं भैरवस्य प्रकीर्तितम् ॥ ८ ॥
तदसारतया देवि ! विज्ञेयं शक्रजालवत् ।
मायास्वप्नोपमं चैव गन्धर्वनगरभ्रमम् ॥ ९ ॥
ध्यानार्थं भ्रान्तबुद्धीनां क्रियाडम्बरवर्तिनाम् ।
केवलं वर्णितं पुंसां विकल्पनिहतात्मनाम् ॥ १० ॥

सम्प्रति तावदियती योग्यतैषामुत्पद्यतामिति, न तु तत्त्वबुभुत्सून् प्रति एतदुक्तम् ॥ ८-१० ॥

'हानोपादानं' पुरस्सर वस्तु को हृदयंगम करते हुए पुनः कहते हैं—

अनुवाद—हे देवी ! त्रिकतंत्रों में सकल और निष्कल-जैसा भैरव का स्वरूप बतलाया गया है, सब निस्सार है। उन सबको तुम इन्द्रजालिक के समान मायिक स्वप्नतुल्य और गन्धर्वनगर के समान ही भ्रमात्मक समझो। वह तो क्रिया के आड-

म्बर में फँसे हुए भ्रांत बुद्धि वालों के लिए है। साथ ही जिनकी आत्मा विकल्पों में फँसी हुई है; उनके ध्यान को केन्द्रित करने के लिए ही 'वह' वर्णन किया गया है, जिससे कि 'उनमें इतनी योग्यता आ जाय, जिससे वे बाद में वास्तविक स्वरूप को समझ सकें ॥ ८-१० ॥

यतः—

तत्त्वतो न नवात्मासौ शब्दराशिर्न भैरवः ।
न चासौ त्रिशिरा देवो न च शक्तित्रयात्मकः ॥ ११ ॥
नादबिन्दुमयो वापि न चन्द्रार्धनिरोधिकाः ।
न चक्रक्रमसम्भिन्नो न च शक्तिस्वरूपकः ॥ १२ ॥

स्वात्मभैरव एव परमार्थतोऽकथ्योऽपि यः काञ्चित्कल्पनामाश्रित्य—

'स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्यादद्वयात्मनः ।
प्रभुरीशादिसङ्कल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ॥'

इति प्रत्यभिज्ञानिरूपितनीत्या उपदिदिक्षाविषयीकृतः स न प्रश्नितनवात्म-शब्दराश्याद्यष्टकस्वरूपः ॥ ११-१२ ॥

अनुवाद—क्योंकि तत्त्वतः भैरव न तो नवात्मा (नवशक्तिस्वरूप) है, और न शक्तित्रयस्वरूप है। न वह त्रिशिरा है न नादबिन्दुस्वरूप है। न अर्द्धचन्द्रस्वरूप है और न निरोधिका (स्पष्ट रेखा) ही। न (षट्) चक्रात्मक है और न (वर्ण) चक्रात्मक और न (कुण्डलिनी आदि) शक्तिस्वरूप ही ॥ ११-१२ ॥

किमर्थं तर्हि तत्र तत्र तथा तथोक्त इत्याशङ्कां कृन्तति—

अप्रबुद्धमतीनां हि एता बालविभीषिकाः ।
मातृमोदकवत् सर्वं प्रवृत्त्यर्थमुदाहृतम् ॥ १३ ॥

न प्रकर्षेण बुद्धा तीव्रशक्तिपातेन पूता तावन्मात्रोपासोन्मुखीभूता मति-र्येषां, तेषामेता नवात्मादिरूपणाः कदभिनिवेशप्रशमाय बालविभीषिका इव। यथा बालानामवस्त्वभिनिवेशो मिथ्याविभीषिकाभिरपास्यते तथा सांसारिक-कर्मानुष्ठाननिरतानां विषयाग्रहग्रह एतैर्विभीषिकाप्रकारैः। किञ्च यथा माता मोदकदानेन बालं सत्कर्मणि प्रवर्तयति तद्वत्सिद्धिसाधनप्रदर्शनेन भगवदाराधने जनः प्रवर्त्यते क्रमात्क्रममासादयितुं परभैरवभावमिति ॥ १३ ॥

हे प्रभो ! जब आप उस भैरव के स्वरूप को अवर्णनीय बतला रहे हैं तो तंत्र-शास्त्रों में जहाँ-तहाँ 'उसका' वर्णन क्यों किया गया है ? मैंने तंत्रान्तरों में उसके स्वरूप को पढ़ कर ही प्रश्न किया था। इस शंका का उत्तर देते हुए भैरव पुनः कहते हैं—

अनुवाद—नासमझ लोगों के लिए ये बच्चों को डराने जैसी बाते हैं। यह सब प्रवृत्ति के लिए माता के मोदक की तरह बतलाया जाता है।

व्याख्या—जैसे कि बालक का अवस्तु (जैसे कि चंदामामा को माँगना) में अभिनिवेश झूठे डरों द्वारा दूर किया जाता है, उसी प्रकार सांसारिक कर्मों में लगे हुए लोगों का विषय के प्रति आग्रह डर दिखला कर दूर किया जाता है। और जैसे एक माता बच्चे को कड़वी औषध पिलाने के लिए बच्चे से कहती है—'यह दवा पी ले, मैं लड्डू दूँगी।' यह मिथ्या लड्डू भी जिस प्रकार हितकर औषध पिलाने की सत्प्रवृत्ति के लिए होता है, उसी प्रकार सिद्धि साधनों के प्रदर्शन द्वारा प्रभु की आराधना में व्यक्तियों को प्रवृत्त किया जाता है, क्रमशः वे परम भैरव के स्वरूप का साक्षात्कार करते हैं ॥ १३ ॥

यद्येतत् सकलं भैरवस्वरूपं तर्ह्युच्यतां निष्कलं तत्, यत् पराशक्तिविषय-संशयनिर्णोदनमपि भविष्यति इदं तदुच्यते—

दिक्कालकलनोन्मुक्ता देशोद्देशाविशेषिणी ।
व्यपदेष्टुमशक्यासावकथ्या परमार्थतः ॥ १४ ॥
अन्तः स्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा ।
यावस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मनः ॥ १५ ॥
तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम् ।

अन्तरिति पूर्णाहन्तायां, स्वानुभवः स्वप्रकाश आनन्द एव रूपं यस्यास्तादृशी, अत एवामूर्तित्वात् पूर्वापरदिक्कालकलनाशून्या, देशेन दूरासन्नादिना उद्देशेन च इदन्तानिर्देश्येन लक्षणीयेन रूपेण न विद्यते विशेषो यस्यास्तादृशी, अत एव व्यपदेष्टुमशक्या मध्यमाजल्पाविषया, अतश्चाभिधित्सागोचरत्वाभावादकथ्या वैखर्याप्यव्यावर्णनीया, परमार्थतो वास्तवेन रूपेण, कल्पनया त्वदूरविप्रकर्षेण उक्तनीत्या व्यपदेश्या कथ्या च, तदाह। यावस्थेति अवस्थातु-भैरवरूपस्यात्मनो ममाव्यतिरिक्ता शक्तिरवस्था, भरितोऽशेषविश्वाभेद-चमत्कारमय आकारः स्वरूपं यस्याः सा तादृशी, तदेव च तत्त्वतः परमार्थतो विमलं स्वभित्त्याभासितजगदनाच्छादितं, विश्वपूरणमशेषावभासकं वपुः स्वरूपं ज्ञेयं, न त्वन्यदाकृत्यादि ॥ १४–१५½ ॥

अनुवाद—दिशा और काल के व्यापार से मुक्त दूर या समीप के भेद से रहित प्रतिपादन के अयोग्य यह तत्त्वतः अनिर्वचनीय है। वास्तव में भीतर ही भीतर अपने अनुभवमात्र से आनन्द देने वाली और संकल्प-विकल्प से मुक्त होकर अनुभूत होने वाली जो परिपूर्ण आकार वाली अवस्था है, वही भैरवी शक्ति है। इस प्रकार विश्व को भरने वाले, विमल भैरव वास्तविक स्वरूप को जानना चाहिए ॥ १४-१५½ ॥

एवं परस्वरूपं तत्त्वतो विमृश्य यदुक्तं क्रियाडम्बरेति तत् प्रमाणी-करोति—

एवंविधे परे तत्त्वे कः पूज्यः कश्च तृप्यति ॥ १६ ॥

पूज्यपूजकपूजानां तर्पकादीनां च चिदानन्दैकघनपरमार्थत्वात् ॥ १६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार के परमतत्त्व के होने पर कौन पूज्य होगा और कौन तृप्त ? ॥ १६ ॥

तदित्थं पराभट्टारिकाविषयः संशयः प्रशान्त एवेत्याह—

एवंविधा भैरवस्य यावस्था परिगीयते ।
सा परा पररूपेण परादेवी प्रकीर्तिता ॥ १७ ॥

परिगीयते इति परिच्छेदार्थं गीयते, भेदेन परं व्यवह्रियते वस्तुतोऽस्या भैरवैक्यात्, सैषा प्रोक्तेन पररूपेण परा प्रकृष्टा सती परादेवीति, न तु नाम-मात्रेण निर्वस्तुकेनेत्याशयशेषः ॥ १७ ॥

इस प्रकार भैरवीशक्ति के सम्बन्ध का प्रश्न शांत हो जाने पर असंदिग्ध हो गया है, अतएव कहते हैं—

अनुवाद—भैरव की यही अवस्था परा है, जिसे पर होने से परादेवी कहा गया है ॥ १७ ॥

ननु भैरवस्यावस्था स्वरूपमेव न तु कालादिकृता उक्तयुक्त्या काचिद् दशास्ति, तद् भैरव एव भैरवीत्युक्तं भवति ? बाढं प्रतिज्ञातमित्याह—

शक्तिशक्तिमतोर्यद्वत् अभेदः सर्वदा स्थितः ।
अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् परा शक्तिः परात्मनः ॥ १८ ॥

शकनं शक्तिः सामर्थ्यं विश्वनिर्माणादिकारिभैरवस्वरूपमेव । तदिति तस्य शक्तिमतः सम्बन्धिना सर्वज्ञता-सर्वकर्तृता-सर्वात्मतादिना धर्मेण धर्मिणी शक्तिः परस्य चिदानन्दैकघनस्यात्मनः ॥ १८ ॥

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भैरव की एक अवस्था विशेष ही 'परादेवी' के रूप में कही गई है न कि दूर-समीप पहले या पीछे दिशाकालादि के द्वारा विभिन्न स्थितियों में जाने योग्य कोई दशा है ? ऐसा कहने पर उत्तर देते हैं कि वास्तव में यही बातें हैं—

अनुवाद—जैसे शक्ति और शक्तिमान का सदा अभेद रहता है, उसी प्रकार परमात्मा की शक्ति उस (परमात्मा के) धर्म (सर्वज्ञत्वादि) से युक्त होने के कारण परादेवी कहलाती है ॥ १८ ॥

एतद् दृष्टान्तप्रमुखं घटयति—

न वह्नेर्दाहिका शक्तिर्व्यतिरिक्ता विभाव्यते ।
केवलं ज्ञानसत्तायां प्रारम्भोऽयं प्रवेशने ॥ १९ ॥

न विभाव्यते विचार्यापि नोपलभ्यते, ज्ञानसत्तायां वह्नि जिज्ञासोर्वह्नि-ज्ञप्तौ यत्प्रवेशनं प्रवेशना तत्र, अयमिति दाहोपलब्धिवशपरिच्छिन्नदाह-शक्त्यात्मा वह्निस्वभावः प्रारम्भः, तन्मुखेन पाचकत्वाद्यनन्तशक्त्यात्मशक्ति-मत्स्वरूपपरिगतेः, उक्तञ्च प्रत्यभिज्ञायाम्—

'फलभेदादारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः' इति ॥ १९ ॥

इसी वस्तु को दृष्टांत में घटाकर दिखलाते हैं—

अनुवाद—वह्नि की दाहात्मिका शक्ति वह्नि के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह ज्ञान की सत्ता में प्रवेश करने के निमित्त प्रारम्भ मात्र है ॥ १९ ॥

व्याख्या—ज्ञानसत्ता में वह्नि को जानने की इच्छा करने पर जो वह्नि ज्ञान में प्रवेश करता है, तब वह जलाने की शक्ति का अनुभव करके ही यह निर्णय कर पाता है—'यह वह्नि है'। प्रथमोपलब्धि दाहात्मिका शक्ति होती है, उसके बाद उसे वह्नि से पाचन शक्ति, भस्मीकरण शक्ति आदि अनेक शक्तियों की उपलब्धि है। 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा' में इसी आशय से स्पष्ट कहा गया है—

'फलभेदादारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः ।'

अर्थात् फल के भेद से जिसमें भेद आरोपित किया जाता है, ऐसे पदार्थ स्वरूप ही शक्ति का स्वरूप है ॥ १९ ॥

दार्ष्टान्तिकयोजनयाह—

शक्त्यवस्थाप्रविष्टस्य निर्विभागेन भावना ।
तदासौ शिवरूपो स्यात् शैवी मुखमिहोच्यते ॥ २० ॥

पराशक्तिरूपामवस्थां यदा प्रविशति वक्ष्यमाणोपायैः समाविशति उप-देश्योऽणुः, तदास्य निर्विभागेन भावना भवति—शक्तेः शिवाभेदात्, तदा स लब्धशाक्तबलः प्रशस्ततमशिवरूपो भवत्येव, यतः शिवस्येयं शैवी शक्तिः, मुखं प्रवेशोपायद्वारमिहागमेषूच्यते ॥ २० ॥

इसी की पुष्टि में दूसरा दृष्टांत प्रस्तुत है—

अनुवाद—इस शैव दर्शन में 'पराशक्तिरूप' अवस्था में प्रवेश करता है तो आगे बतलाए हुए उपायों से जब 'अणुरूप' का उपदेश प्राप्त कर लेता है तब निर्विभाग भावना दृढ़ होती है, तब उस बल को प्राप्त कर जीव शिवस्वरूप बन जाता है। क्योंकि शिव की यह पराशक्ति शिवतत्त्व में प्रवेश करने का प्रधान द्वार है ॥ २० ॥

एतत् स्फुटदृष्टान्ताभ्यां हृदयङ्गमीकरोति—

यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य च ।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये ।। २१ ।।

यथा आलोकेन प्रकाशेन दीपस्य शिखात्मनो, भास्करस्य च मरीचिभिरेवात्मीयैर्दिग्विभागसन्निवेशादि ज्ञायते, न तु अन्येन दीपादिना, तद्वत् स्फुरत्तारूपया स्वशक्त्यैव शिवः स्वात्मा ज्ञायते प्रत्यभिज्ञायते समाविश्यते इत्यर्थः ।।

इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—

अनुवाद—हे प्रिये ! जैसे प्रकाश से दीपक का और किरणों से सूर्य की दिशा का विभाग पता चल जाता है, उसी प्रकार शक्ति के द्वारा शिव का ।। २१ ।।

एवं परास्वरूपे निर्णीते तदुपलब्ध्युपायजिज्ञासया श्रीदेव्युवाच—

देवदेव त्रिशूलाङ्क ! कपालकृतभूषण ! ।
दिग्देशकालशून्या च व्यपदेशविवर्जिता ।। २२ ।।
यावस्था भरिताकारा भैरवस्योपलभ्यते ।
कैरुपायैर्मुखं तस्य परादेवी कथं भवेत् ।। २३ ।।
यथा सम्यगहं वेद्मि तथा मे ब्रूहि भैरव ! ।

देवानां ब्रह्माद्यनाश्रितान्तानां द्योतनादिसतत्त्वकरणरूपाणां च देव स्वामिन् ! स्वातन्त्र्यशक्तिस्फारितेच्छाद्यरात्रयात्मकत्रिशूलाङ्क ! समस्तवाच्यवाचकात्मकजगत्खण्डरूपकपालैश्चैतन्यस्वातन्त्र्याभिव्यञ्जकत्वात् कृतभूषण भ्राजमानानाच्छादितस्वरूप ! दिगित्यादिना भैरवस्येत्यन्तेन प्राग्विभक्तपराशक्तिस्वरूपमनूद्य तदनुप्रवेशप्रकाशनायाह—उपलभ्यत इत्यादि, उपायैरिति बहुवचनमुपलब्धुरणोः प्राणदेहबुद्धिशून्याश्रयोच्चार-करण-ध्यान-वर्ण-स्थानकल्पनाभेदात्, सार्वात्म्यभावनादिशुद्धविकल्पनानात्वात्, अविकल्पोपायवैचित्र्याच्च आणव-शाक्त-शाम्भवोपायनानात्वं वक्ष्यमाणं कटाक्षयति, मुखं तस्येति शैवी मुखमिह, इति यच्छक्तेर्मुखत्वमुक्तं तन्निर्णीतनीत्या भगवदेकात्मनः तस्याः शक्तेः कथमित्येतदुभयप्रश्नितं 'यथा अहं वेद्मि तथा भैरव ! ब्रूहि'—मामामर्शयेति यावत् ।। २२-२३½ ।।

इस प्रकार पराशक्ति के स्वरूप का निर्णय हो जाने पर उसकी प्राप्ति किस प्रकार की जा सकती है । इस अभिप्राय से देवी ने प्रश्न किया—

अनुवाद—हे देवाधिदेव, त्रिशूलधारी, कपाल का आभूषण धारण करने वाले, दिशा, देश और काल की कल्पना से शून्य तथा किसी प्रकार के संकेत से नहीं बतलाने योग्य परिपूर्ण आकार वाली भैरव की अवस्था (पराशक्ति कही जाती है) का किन उपायों से साक्षात्कार हो सकता है ? जिससे कि वह मुझे ठीक प्रकार से समझ में आ जाय । भैरव ! कृपा कर वह उपाय बतलाइए ।। २२-२३½ ।।

इत उत्तरं श्रीशिवोपाध्यायकृता विवृतिः ।

एवं प्रश्नितवस्तुनिर्णयाय क्रमेण भूमिकाज्ञानानि प्रकाशयति—

श्रीभैरव उवाच—

ऊर्ध्वे प्राणो ह्यधो जीवो विसर्गात्मा परोच्चरेत् ।
उत्पत्तिद्वितयस्थाने भरणाद्भरिता स्थितिः ॥ २४ ॥

योऽयमूर्ध्वं इति हृदो द्वादशान्तं यावद् वहन् प्राणः, यश्चाधो जीवो द्वादशान्ताद् हृदन्तमपानः, एषा परादेवी उच्चरेत्, सततं स्वयमुच्चरन्ती स्थिता, कीदृशी विसर्गोऽन्तर्बहिर्भावकरणरूपो विमर्श आत्मा यस्याः सा अप्राणाद्यशाक्तस्पन्दोन्मेषा—तदाच्छुरणेन विना नियतप्राणप्रवाहायोगात् । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'प्राणः प्राणमयः प्राणो विसर्गापूरणं प्रति ।' इति ।

यत एवमत उत्पत्तिद्वितयस्य बाह्याभ्यन्तरोत्पादद्वयस्य यत् स्थानं हृद् द्वादशान्तश्च, तत्र भरणादिति नित्योन्मिषदाद्यस्फुरत्तात्मभैरवीयशक्त्युपलक्षणाद् भरिता स्थितिः भैरवताभिव्यक्तिर्भवतीति यावत् ।

अथ च ऊर्ध्वं इति सर्वेन्द्रियप्रसरेषु प्राणो विषयानुप्राणकः सूक्ष्मप्राणप्रवाहः, यश्चाधो जीवः स्वीकृतसर्वविषयो विशन्नपानः स एवोक्तयुक्त्या परा उच्चरेत्—सततं चकास्ति, ततो ग्राह्योत्पत्तिस्थाने हृदि ग्राहकोत्पत्तिस्थाने च मेयसङ्घट्टपदे । भरणादिति प्राग्वत् ।

किञ्च, ऊर्ध्वं इति प्राणापानोन्मेषपदे प्राणोऽशेषवाचकानुप्राणकोऽकारः, अध इति अन्ते जीवः सकार इत्यादि सान्तो मातृकागतो वर्णपुञ्जः, सैषा विसर्गात्मा प्रान्तदर्शितहकारकलात्मना नादरूपा परा उच्चरेत्—मातृकाचक्रक्रमेणाशेषवाच्यवाचकान्तं जगदुल्लङ्घ्य गच्छति—स्वौजसा भेदपदमभिभूय स्फुरतीति यावत्, अतश्च उत्पत्तिद्वितयस्थाने अकार-हकारौ विमृश्य शिवशक्तिसङ्घट्टः । हृदि द्वादशान्ते चेति प्राग्वत् ।

अपि च, ऊर्ध्वं इति उत्कृष्टतया प्राणो विश्वानुप्राणक इच्छाज्ञानक्रियाप्रसरः, अध इति इदन्ताविमृश्यतया निकृष्ट ईषणीयज्ञेयकार्यात्मा जीवः, सोमरूपतया संसारिणां जीवितस्थितिहेतुः, सैषा भगवती परा शक्तित्रयात्मना परापरेणापरेण च रूपेणोच्चरेत्—उत्कृष्टतयैव चरन्ती विश्वाभेदस्फुरत्तया प्रसरन्ती सदा स्थितेति कृत्वा उत्पत्तौ मेयपदे, द्वितयशब्दवाच्ये प्रकाश्यप्रकाशकसङ्घट्टरूपे प्रमाणपदे, स्थान इति तदुभयविश्रान्तिधाम्नि प्रमातृपदे, भरणात्

'त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम्' (शि० सू० ३।२०) इति दृष्टचा पराभट्टारिकात्मतुर्यानन्दाप्लावनात् भरिता स्थितिः ।

अन्यच्च, ऊर्ध्वं इति मायान्ताध्वोपरि प्राणोऽनुप्राणकं शुद्धाशुद्धाध्वव्यापि शिवशक्तितत्त्वं, तस्यैव चाधो जीवः स्वीकृतमायादितत्त्वग्रामं नरशब्दवाच्यमात्मतत्त्वं यावत्, सैषेत्थं परा उच्चरेत् —शैवी स्वातन्त्र्यशक्तिरेवेत्थं जृम्भते । तेन उत्पत्तिद्वितयस्थाने उत्पद्यमानशुद्धाशुद्धाध्वद्वये भरणात् पराशक्तिव्याप्त्या सर्वसर्वमयत्वभावनया तत्सामरस्यापादनाद्भरिता स्थितिः । अत्र व्याख्याने श्रीपरोक्तमन्त्रव्याप्तिरनुसर्तव्या ।

अपरम्, ऊर्ध्वं प्राणोऽनुत्तराकुलात्मनश्चिद्धाम्नः स्वयमुन्मिषन् हकारः, अधो जीवः सकारो विसर्गात्मा विसर्जनीयानुप्राणितो यः, सैषा हानसमादानहंसीरूपा परैव उच्चरति, अत एव 'अहं सः' इति स्वात्मप्रत्यभिज्ञानविमर्श इवात्रोपलभ्यते । यत एवमतः उत्पत्तिद्वितयस्थाने हकारसकारोदयहृद्द्वादशान्तस्थानयोर्भरणात् तद्वर्णविमर्शपरिशीलनयुक्तितः शक्तिबलासादनाद् भैरवीभावो भवति । एवमत्र प्रथमद्वितीययोर्व्याख्यानयोरविकल्पस्वरूपपरिशीलनात्मा शाम्भवावेश उपक्षिप्तः । चतुर्थपञ्चमयोः सर्वाहम्भावभावनात्मकशुद्धविकल्पावमर्शरूपः शाक्तः । तृतीयषष्ठयोर्वर्णविशेषावमर्शप्रधान आणवः । यदुक्तं मालिनीविजये—

'अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः ।
उत्पद्यते य आवेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः ।।
उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन् ।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ।।
उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ।।'

शाम्भवसमावेशस्यार्थो यथा—

'अकिञ्चिच्चिन्तकस्येति विकल्पानुपयोगिता ।
तया च झटिति ज्ञेयसमापत्तिर्निरूप्यते ।।
सा कथं भवतीत्याह गुरुणातिगरीयसा ।
ज्ञेयाभिमुखबोधेन द्राक्प्ररूढत्वशालिना ।।
तृतीयार्थे तसि व्याख्या वा वैयधिकरण्यतः ।
आवेशश्चास्वतन्त्रस्य स्वतद्रूपनिमज्जनम् ।।
परतद्रूपता शम्भोराद्याच्छक्त्यविभागिनः ।
तेनायमत्र वाक्यार्थो विज्ञेयः प्रोन्मिषत्स्वयम् ।।

मातारमधरीकुर्वत् स्वां विभूतिं प्रदर्शयत् ।
आस्ते हृदयनैर्मल्यातिशये तारतम्यतः ॥
ज्ञेयं द्विधा च चिन्मात्रं जडं चाद्यं च कल्पितम् ।
इतरत्तु तथा सत्यं तद्विभागोऽयमीदृशः ॥
जडेन यः समावेशः स प्रतिच्छन्दकाकृतिः ।
चैतन्येन समावेशस्तादात्म्यं नापरं किल ॥
तेनाविकल्पा संवित्तिर्भावनाद्यनपेक्षिणी ।
शिवतादात्म्यमापन्ना समावेशोऽत्र शाम्भवः ॥
अविकल्पपथारूढो येन येन पथा विशेत् ।
धरासदाशिवान्तेन तेन तेन शिवीभवेत् ॥
निर्मले हृदये प्राग्रस्फुरद्भूम्यंशभासिनि ।
प्रकाशे तन्मुखेनैव संवित्परशिवात्मता ॥
एवं परेच्छाशक्त्यंशसदुपायमिमं विना ।
शाम्भवाख्यं समावेशममन्यन्त निरासिनः ॥' इति ॥ २४ ॥

इस प्रकार प्रश्न का निर्णय हो जाने पर 'भूमिका-ज्ञान' को प्रकट करते हुए श्रीभैरव ने कहा—

अनुवाद—हे प्रिये ! उर्ध्व में (अर्थात् हृदय से द्वादशान्त-पर्यन्त) प्राण है और अधः (अर्थात् द्वादशान्त से हृदय-पर्यन्त नीचे आने वाला वायु) अपान है, परा का ही यह स्पन्दन अन्तः और बाह्य उन्मेष करने वाली दो प्रकार की (बाह्य एवं आभ्यन्तर) उत्पत्तियों के स्थान (हृदय तथा द्वादशान्त) को भरने के कारण भरिता-वस्था है, जो भैरव की अभिव्यक्ति करती है ।

व्याख्या—हृदय से द्वादशान्त तक चलने वाला वायु प्राण कहा जाता है और जो 'जीव' द्वादशान्त से हृदय-पर्यन्त चलता है, वह अपान कहलाता है । यह 'प्राण' और 'अपान' की गमनागमन क्रिया परादेवी कहलाती है । वह नित्य श्वास-प्रश्वास के द्वारा अक्षरोच्चारण करती हुइ विद्यमान है । यह भीतर-बाहर, निर्गम-प्रवेश रूप तथा प्राणापान से रहित केवल स्पन्दोत्पत्ति मात्र जिसका स्वरूप है, वह पराशक्ति है । जैसा कि स्वच्छन्दतंत्र में कहा गया है—

'प्राणः प्राणमय प्राणो विसर्गपूरणं प्रति ।'

अर्थात् प्राण प्राणमय है और अपान अपानमय है । यह प्राणापान का आगम-निर्गम ही 'आपूरण' कहलाता है । इसी को भरिता-स्थिति या पराशक्ति के नाम से कहा गया है । क्योंकि प्राणापान की उत्पत्ति बाह्य-आभ्यन्तर उत्पादन से हृदय और बाह्य-द्वादशान्त में भरने के कारण ही भरिता कहलाती है और नित्य उन्मीषित होने के कारण स्फुरण करती हुई 'भैरवी-शक्ति' 'भरिता-स्थिति' या भैरवताभिव्यक्ति के नाम से कही गयी

है। सम्पूर्ण इन्द्रियों में विषयों का संचार करने वाला सूक्ष्म प्राणप्रवाह 'ऊर्ध्व' कहलाता है तथा 'जीव' जिसने सर्व विषयों के भीतर प्रवेश पा लिया है, वह भीतर सूक्ष्म प्रवाह का संचार करता हुआ अपान के नाम से कहा गया है। वही भीतर प्रवेश करता हुआ सूक्ष्म अपान का संचार पराशक्ति कहलाता है। अतः ग्राह्य सूक्ष्म-प्राण-प्रवाह को ग्रहण करने वाला स्थान हृदय और ग्राहक उत्पत्ति-स्थान को ग्रहण करने वाला द्वादशान्त कहलाता है तथा दोनों स्थानों में संचार करने वाला वायु उन्मेष या संघट्ट पद से प्रतिपादित किया जाता है।

इस प्रकार प्राण और अपान को भरने के कारण ही भरिता-शक्ति कहलाती है। प्राण और अपान 'उन्मेष' और 'पद' के नाम से कहे गये हैं। अतः समग्र वाचक वर्णों के भीतर अनुप्राणित होने वाला अकार 'ऊर्ध्व' कहलाता है। और अंतिम वर्ण (अर्थात् सकार, वा सान्त मातृकागत वर्णसमुदाय) 'अधः' कहलाता है। इस प्रकार अकार से सकार तक और सकार से अकार तक गमनागमनात्मिका शक्ति, जिसके अन्त में 'हकार' दिखलाया गया है, तथा जो कलनात्मा नाद-रूप है 'परा' कहलाती है। वह मातृकाचक्र के क्रम से वाच्य और वाचक के अन्तर्गत सम्पूर्ण जगत् में संचार करती है, जो अपने तेज से भेदक पदों को दबाकर उन्मीषित होती है। इसीलिए दोनों उत्पत्ति के स्थान 'अकार' और 'हकार' का विचार करने पर 'शिव' और शक्ति का संघटन (हृदय और द्वादशान्त के भीतर जो निरन्तर होता है) भरिताशक्ति या पराशक्ति कहलाती है। (अथवा) उत्कृष्ट होने के कारण और सारे संसार में प्राण-शक्ति का संचार करने के कारण इच्छा ज्ञान और क्रिया का प्रसार 'ऊर्ध्व' कहलाता है। तथा विमर्श शक्ति के कारण निकृष्ट अर्थात् इच्छा करने योग्य ज्ञेय रूप कार्यात्मा जीव है।

वह सोमरूप होने के कारण संसार के प्राणियों की जीवित स्थिति का कारण है, वही 'अधः' कहलाता है। इसी प्रकार शक्ति त्रयात्मा-परा अपरा और परापरा के रूप में भगवान् की तीनों शक्तियाँ ही भरिता कही जाती हैं। ये उत्कृष्ट होने के कारण 'स्फुरणा' रूप से सम्पूर्ण विश्व में फैलती हुई ईश्वर की उत्पत्ति के समय में 'उन्मेष' और स्थिति के समय में 'पद' शब्द से प्रतिपादित की गई है। इस प्रकार प्रकाश्य और प्रकाशक रूप से संघट्टात्मक स्थान (हृदय और द्वादशान्त) प्रमाण और 'प्रमातृ' से परिपूर्ण करने के कारण यह पराशक्ति के नाम से तुर्यावस्था के आनन्द से प्लावित होने के कारण भरितास्थिति कही गयी है।

जैसा कि 'शिवसूत्र' में भी कहा गया है—

'त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम्'। (३।२०)

अर्थात् परा, अपरा और परापरा शक्ति से अभिन्न जैसे तिल में तेल रहता है, उसी प्रकार इस त्रिशक्ति में व्याप्त रहने वाली चतुर्थ शक्ति तुर्या (जो केवल आनन्द-मय है) ही भरिताशक्ति है और उसी को पराशक्ति कहते हैं। और भी 'ऊर्ध्व'

शब्द से माया-पर्यन्त चलने का मार्ग 'प्राण' कहलाता है। वह शुद्ध-अशुद्ध अध्व में व्यापक होकर शिवशक्ति रूप से संचार करता है, जिसे ऊर्ध्व कहते हैं। मायिक तत्त्व समुदाय को ग्रहण कर लेने के कारण जीव नर शब्द से वाच्य होकर अभिमुख आता है। इसी प्रकार वह प्राणवायु का प्रवेश-निर्गम हृदय और द्वादशान्त दोनों स्थानों में उत्पन्न होने वाला शुद्धाध्व और अशुद्धाध्व दो मार्गों से व्याप्त पराशक्ति को सर्वसर्व-मयत्व भावना से सामरस्य उत्पन्न करने के कारण 'भरितास्थिति' है। परातंत्र में कहे गये मंत्रों का अनुसरण करना इस स्थिति की प्राप्ति में प्रथम स्थान है।

अथवा 'अनुत्तराकुलात्माचित्तधाम' में स्वयं उन्मीषित होने वाला 'हकार' 'ऊर्ध्व' है और 'सकार' (विसर्गस्वरूप विसर्जनीय से अनुप्राणित) अधः (अर्थात् जीव) स्वरूप है। यह हानोपादान रूप 'हँसी' ही परादेवी है। इसीलिए 'अहं सः' मैं वही हूँ, इस प्रकार का आत्मप्रत्यभिज्ञान विमर्श के समान उपलब्ध होता है। क्योंकि उत्पत्ति के दोनों स्थानों में 'हकार' और 'सकार' के उदय होने के कारण तथा हृदय और द्वादशान्त दोनों स्थानों को भरने के कारण उन वर्णों में विमर्श के परिशीलन की युक्ति से शक्ति का बल प्राप्त होता है, वही भैरवीभाव है। इस प्रकार इस कारिका की पहली व दूसरी व्याख्याओं के अनुसार अविकल्पस्वरूप परिशीलनात्मक शांभव आदेश दिया गया है। चौथी और पाँचवीं व्याख्याओं में 'सम्पूर्ण मैं हूँ' ऐसा सर्वव्यापक भावनात्मक शुद्ध विकल्प विमर्श स्वरूप शाक्तभाव बतलाया गया है। तीसरी व छठी व्याख्याओं में वर्णविमर्श प्रधान 'आणवमार्ग' का निरूपण किया गया है। मालिनीविजय-तंत्र में भी इसका विस्तार से वर्णन है॥ २४॥

अधुना स्वतः सिद्धाः पूरककुम्भकरेचकाः प्राणस्यावस्थाविशेषाः सर्वेषां सकल-प्रलयाकलादीनां प्रमातृणामयत्नेन सम्भवन्ति। यथा—

'बाह्योन्मुखत्वं प्राणानां यद्धृदम्भोजकोटरात्।
स्वैरमेवात्तयत्नानां तं धीरा रेचकं विदुः॥
द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं बाह्यमाक्रमतां हृदः।
प्राणानामङ्गसंस्पर्शो यः स पूरक उच्यते॥
अपानेऽस्तङ्गते प्राणो यावन्नाभ्युदितो हृदि।
तावत्सा कुम्भकावस्था योगिभिर्यानुभूयते॥'

इत्यादिना प्राणापानदशायामेवारोहावरोहक्रमे तच्चिन्तावहितैर्योगिभिर्भूयते इति यद्योगशास्त्रेषु प्रतिपादितं तद्विषयावधानमुपदिशति—

मरुतोऽन्तर्बहिर्वापि वियद्युग्मानिवर्तनात्।
भैरव्या भैरवस्येत्थं भैरवि व्यज्यते वपुः॥ २५॥

मरुतः प्राणस्यापानस्य चान्तर्बहिश्च यद्वियद्युग्मं—हृदाकाशो द्वादशान्तश्च यद्वियद्द्वयं, ततोऽनिवर्तनात् प्रत्यावर्तनाभावेन क्षणमात्रमन्तर्मुखत्वेनावस्थानात्

प्राणापानयोर्द्वयोरस्तंगतत्वात् भैरवीस्वरूपस्य भैरवस्य वपुः 'अन्तः स्वानुभवानन्दा' इत्यारभ्य 'तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम्' इति कृतलक्षणं धर्मिधर्मात्मकत्वेन शिवशक्तिद्वैधं प्रकाशविमर्शस्वरूपं परमार्थत एकमेव तत्त्वं प्रकटीभवेत्, एतदुक्तं भवति—हृदि स्थितात्पद्मयन्त्रात् प्राणस्योदयः, बहिर्द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते आकाशे प्राणस्यास्तं गतिः । एवं बाह्याद् द्वादशान्तादपानोदयः, हृत्पद्मयन्त्रे त्वपानस्यास्तम् । एवमनवरतम्—

'बाह्यानाभ्यन्तरांश्चैतान् कुम्भकादीननारतम् ।
प्राणापानस्वभावान् स्वान् बुद्धवा भूयो न जायते ।।
गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
एते न रोधमायान्ति प्रकृत्या हि चलोऽनिलः ।।'

इत्याद्युक्तनीत्या सर्वेषां प्रमातृणां पशुपक्षिमृगादीनां च सर्वदा सर्वत्र रात्रिन्दिवमष्टौ प्राणायामाः स्वतः सिद्धाः पुरुषप्रयत्नानपेक्षाः । ते च—

'स्वस्वभावतया बुद्धा यदि स्युस्तर्हि मोक्षदाः ।
यत्करोति यदश्नाति बोधेनैतानुस्मरन् ।।
कुम्भकादीन्नरः सोऽन्तस्तत्र कर्ता न किञ्चन ।'

इत्युक्तेः । ते च यथा—हृत्कमलाद्बहिर्मुखत्वं स्वेच्छयैव यत् प्राणस्य सा प्राणरेचकावस्था १ । हृदयात् सकाशाद् बहिर्द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं निःसरतां प्राणानामङ्गसंस्पर्शः पूरकः २ । बहिःप्रदेशात् पुरुषप्रयत्नं विनैवापाने प्रत्यावृत्ते सति योऽङ्गप्रपूरणस्पर्शः सोऽपि पूरकः ३ । अपाने प्रलीने सति हृदयात् प्राणोऽपि योवन्नाभ्युदितस्तावत्कालं कुम्भकावस्था ४ । अस्यामवस्थायां योगिनामेवानुभव इति प्राणवायुः सदा देहाद् बहिरन्तश्च प्राणायामपरः । एवमपानोऽप्यनिशं बहिरन्तश्चापानायामवान्, यथा बहिराकाशेऽस्तङ्गते प्राणे यावन्नोद्गतोऽपानो भवेत् तावत्कालं बहिः पूरकावस्था अपानस्य १ । तथा अपानस्य द्वादशान्तादुत्थाय यद्रूपपीनत्वं सोऽपि बहिः पूरकः २ । तथा बहिर्द्वादशाङ्गुलपर्यन्तप्रदेशेऽपानस्य मृदन्तरस्थानिष्पन्नघटवद्या स्थितिः सा कुम्भकावस्था अपानस्य ३ । उदयं विना यदपानस्यान्तर्मुखत्वं स बाह्यरेचकः ४ इति प्राणपूरकापानपूरकद्वैध्येऽष्टौ प्राणायामाः । एतान् स्वस्वभावत्वेन जानीयात् । हृत्कण्ठतालुललाटरन्ध्रद्वादशान्ताः प्राणगतिविषयाः । हृत्कन्दाननसङ्कोचविकासद्वादशान्ता अपानगतिविषयाः । क्षणमस्तङ्गतप्राणमपानोदयरहितमयत्नसिद्धं यद्बाह्यस्थं कुम्भकं, तथा क्षणमस्तङ्गतापानं प्राणोदयरहितमयत्नसिद्धमन्तःस्थकुम्भकं यत्, तदेव परमं पदं मध्यरूपत्वात् । एतदेव मध्यंवासिष्ठे ब्रह्मदर्शने भुसुण्डोपाख्याने—

'एतत्तदात्मनो रूतं शुद्धैषा सा परैव चित् ।
एतत्तत्सततताभासमेतत् प्राप्य न शोचते ॥
अस्तं गतवति प्राणे त्वपानेऽभ्युदयोन्मुखे ।
बहिः कुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोचति ॥
अपानेऽस्तं गते प्राणे किञ्चिदभ्युदयोन्मुखे ।
अन्तःकुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोचति ॥'

इत्यादिना योगिगम्यप्राणापानमध्यदशाविश्रान्त्या द्वयोरनिवर्तनात् प्रत्यावृत्त्य-भावेन तत्तुटि-लव-क्षणमात्रमन्तर्मुखत्वात् मध्यदशाविर्भावः ॥ २५ ॥

अब स्वतःसिद्ध पूरक, कुम्भक और रेचक रूप प्राणायाम की अवस्थिति विशेष का वर्णन करते हैं, जिससे सभी लोगों को सम्पूर्ण प्रलय-पर्यन्त कलना का प्रत्यक्ष हो सके। प्राण और अपान की दशा में आरोह और अवरोह के क्रम से उस पराशक्ति का चिन्तन करने में योगी जिस क्रिया के द्वारा दत्तचित्त हो जाता है, उस (क्रिया) का प्रतिपादन विषयावधान पूर्वक करते हैं—

अनुवाद—भैरवि ! वायु (प्राण तथा अपान) का भीतर और बाहर व्यापक जो आकाश (हृदयाकाश तथा द्वादशान्त) है, उससे न हटने के कारण भैरव का वह तत्त्व प्रकट होता है ॥ २५ ॥

व्याख्या—प्राण और अपान रूप वायु के भीतर-बाहर हृदयाकाश और द्वादशान्ताकाश से, आवर्तन-प्रत्यावर्तन के रूप से और क्षणमात्र अन्तर्मुख होकर अवस्थित होने से जो स्थिति होती है, वह भैरवरूप भैरवी या भैरवीरूप भैरव के रूप में कही जाती है। वह अन्तःकरण में स्वानुभव से आनन्द मात्र स्वरूप वाली है। यह धर्मी और धर्म के रूप से शिवशक्ति या प्रकाश-विमर्श स्वरूप होते हुए भी परमार्थतः एक ही तत्त्व को प्रकट करती है। यहाँ इस रूप में कहा जा सकता है कि हृदय में स्थित जो 'हृदयपद्मरूप यन्त्र' है, उससे प्राणवायु का उदय होता है। वह (प्राणवायु) बाहर बारह अंगुल पर्यन्ताकाश में संचार करता है, तब तक प्राण कहलाता है। बारह अंगुल के बाद प्राणगति के अस्त हो जाने पर क्षणमात्र के लिए, जब तक उसमें अपान गति उत्पन्न न हो तब तक जो अवस्था रहती है, वह भैरवस्वरूप है। क्षणमात्र के बाद जब वह अपान गति को धारण कर लेता है और भीतर जाने लगता है, तब बाहर द्वादशान्त आकाश से अपान का उदय होने के बाद हृदयाकाश में पहुँचने तक उसमें अपानत्व रहता है। हृदय में पहुँचने के बाद अपानत्व शक्ति के नष्ट हो जाने पर और प्राणवायु की उत्पत्ति के पूर्व जो शून्याकार स्थिति रहती है, वह 'भैरवी-स्वरूप' है।

इसी प्रकार जब उसमें पुनः प्राणशक्ति उत्पन्न हो जाती है और वह द्वादशान्त तक आता है और प्राणत्व नष्ट हो जाने के कारण क्षणमात्र के लिए भैरवस्थिति में

रहकर फिर अपानत्वग्रहण कर लेता है, तब 'प्राणापान' के 'निर्गम-प्रवेश' के मध्य में जो स्थितियाँ आती हैं, वे (स्थितियाँ) भैरवीस्थिति के स्वरूप के समान और भैरवीस्थिति भैरवस्थिति के स्वरूप के समान है। इस प्रकार पुरुष-प्रयत्न की अपेक्षा न रखते हुए भी स्वतःसिद्ध प्रकृति द्वारा आठ प्राणायाम प्रत्येक प्राणी के प्रतिदिन हो जाया करते हैं। उन प्राणायामों को ही जो स्व-स्वभाव से होने वाले हैं, कोई प्राणी समझ ले तो वे स्वयं मोक्षप्रद हुआ करते हैं। व्यक्ति जो कुछ करता है वह करता रहे, को कुछ भी खाता है, वह खाता रहे, किन्तु ज्ञान के साथ इनका स्मरण करता हुआ कुम्भकावस्था में रहकर वास्तव में वह कुछ नहीं करता। ऐसा शास्त्रों में कहा गया है—

'जो प्राण और अपान स्वभाव वाले हैं और निरन्तर चलते रहने वाले हैं, इन कुम्भकों को समझ कर मनुष्य पुनः जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ता। चलते हुए या खड़े हुए, जगते हुए या सोते हुए ये किसी के भी रुकते नहीं हैं, क्योंकि वायु प्रकृत्ति से ही चल है।

उन प्राणायामों का क्रम इस प्रकार है—जो हृदय-कमल से बहिर्मुख होकर स्वतः से ही प्राणवायु की गति उत्पन्न होती है, वह प्राणवायु की 'रेचक' अवस्था है। हृदय से बाहर निकलते हुए प्राणवायु का प्रत्येक अंग से स्पर्श होना, यह प्राणवायु की प्रथम 'पूरक अवस्था' है। बाहर के प्रदेश से बिना किसी प्रयत्न के जब वायु प्रत्यावर्तन करता है, तो प्रत्येक अंग का स्पर्श करता हुआ हृदयाकाश-पर्यन्त जाता है, वह भी अपानवायु की 'पूरक अवस्था' है। जब तक प्राणवायु का उदय नहीं होता, तब तक की उस अवस्था का नाम 'कुम्भकावस्था' है। इस अवस्था में योगियों के अनुभव मात्र से गम्य प्राणवायु सदा देह के बाहर और भीतर भ्रमण करता हुआ प्राणायाम में तत्पर रहता है। इसी प्रकार अपानवायु भी भीतर और बाहर 'अपानायाम' करता रहता है। जैसे बाहर के 'आकाश' में प्राणवायु के अस्त होने पर जब तक अपान वायु का उदय नहीं होता, तब तक की अवस्था 'अपान कुम्भक' है, जैसे मिट्टी के भीतर रहा हुआ घड़ा। कपाल आदि बनकर मिट्टी का अंत होने पर भी जब तक कपाल संजोग न हो, तब तक घटत्व की उत्पत्ति नहीं होती है। और वह अवस्था न मिट्टीरूप है, और न घटरूप। इसी प्रकार वह अवस्था न प्राण-रूप है, न अपान रूप। वही अवस्था अपानवायु की 'कुम्भकावस्था' है।

अपान का अन्तर्मुखत्व होना बाह्य रेचक है और द्वादशान्त से हृदय-पर्यन्त जाने वाली गति बाह्यपूरक है। इस प्रकार प्राणायाम और अपानायाम रूप आठ प्रकार का प्राणायाम प्रकृति-सिद्ध है, जो प्रत्येक चैतन्य प्राणी के शरीर में प्रतिदिन होता रहता है। हृदय, कंठ, तालु, ललाट और द्वादशान्त ये सभी प्राण की गति के विषय हैं। यही बात 'वासिष्ठ' भूषण्डोपाख्यान के बाह्यदर्शन विषय में कही गई है। 'हृदय-कमल' के संकोच और विकास के कारण द्वादशान्त-पर्यन्त अपानगति के विषय हैं। क्षण भर के लिए अस्तंगत प्राण अपान उदय होने के पूर्व तक जिस निर्विकल्प अवस्था में रहता है

वह बाह्यकुम्भक है तथा क्षण भर के लिए अस्त होने वाला अपानवायु जब तक प्राणवायु का उदय न हो, उतने समय तक बिना प्रयत्न सिद्ध 'अन्तः कुम्भकावस्था' है।

मध्यविकासेन प्राणापानयोः प्रवेशनिर्गमाभावमाह—

न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपा विकासिते।
निर्विकल्पतया मध्ये तया भैरवरूपता ॥ २६ ॥

मरुद्रूपा शक्तिर्न व्रजेत्—हृदो द्वादशान्तं न यायात्, न च विशेत्—द्वादशान्तात् हृदयं न गच्छेत्, केवलं मध्ये मध्यनाडीधाम्नि विकल्पहान्युपायतो विकासिते सति। अत्रायं भावः—दर्शनादीनां सर्वशक्तीनां समूहं स्वे स्वे विषये युगपद्भावेन प्रक्षिप्य स्वं स्वभावं स्पन्दतत्त्वात्मकं तदाधारमवलोक्य निर्विकल्पतया निमीलनोन्मीलनसमाधितायुगपद्व्यापकमध्यभूम्यवष्टम्भादध्यासितैतदुभयविसर्गारणिविगलितसङ्कल्पभावाक्रमविस्फारितकरणचक्रतया—

'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा वै भैरवी मुद्रा सद्यस्तत्पददायिनी ॥'

इति भैरवी मुद्रानुप्रविष्टत्वे जाते सति मरुद्रूपा शक्तिर्न बहिः प्रसरेत्, नान्तः प्रविशेत्, एवंविधया तया भैरवरूपता भवेत्, तया प्रशमितप्राणापानभावाभिव्यक्तभैरवीयरूपतया भैरवरूपधारी योगी भवति, एतत् श्लोकद्वयं मध्यमधामाश्रया आणवी भूमिः ॥ २६ ॥

अनुवाद—वायुशक्ति न (हृदय से द्वादशान्त तक) जाये और न (द्वादशान्त से हृदय में) प्रवेश करे बल्कि मध्य (अर्थात् मध्यनाड़ी) में विकल्पविहीन होकर विकसित हो जाय तो उससे भैरवमुद्रा बनती है ॥ २६ ॥

व्याख्या—हृदय से द्वादशान्त-पर्यन्त न तो द्वादशान्त से हृदय में जाये न हृदय से द्वादशान्त में आये, इस प्रकार मध्यनाड़ी के भीतर संकल्प-विकल्प से रहित अवस्था में यह स्थिति ही भैरत्व को देने वाली है—

'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा वै भैरवी मुद्रा सद्यस्तत्पददायिनी ॥'

भैरवीमुद्रा में प्रविष्ट हो जाने पर वायु की शक्ति प्रवेश-निर्गम रूप व्यापार से रहित होकर रहती है। इसी अवस्था का नाम 'भैरवरूपता' है। अथवा जिसमें प्राणापान क्रिया के अभाव की अभिव्यक्ति होती है, वही 'भैरवीरूप' होकर प्रकाश में आता है। उस भैरवीरूप शक्ति से युक्त होकर ही योगी भैरवी मुद्रा सिद्ध हो जाने पर 'मध्यमधाम' में आश्रय करने के कारण 'आणवभूमि' के रूप में साधक की स्थिति होती है।

इन २४, २५ व २६ वीं कारिकाओं में बतलाई क्रमशः पहली, दूसरी और तीसरी धारणा 'आणवीभूमि' कहलाती है ॥ २६ ॥

कुम्भिता रेचिता वापि पूरिता वा यदा भवेत् ।
तदन्ते शान्तनामासौ शक्त्या शान्तः प्रकाशते ।। २७ ।।

रेचिता सती कुम्भिता, बहिः पूरिता वा कुम्भिता अन्तर्यदा मरुद्रूपा शक्तिर्भवति, तदा तदन्ते यदेति अभ्यासात् प्रशान्तकुम्भकावस्थोदये भेदोपशमात् शान्ताख्या असौ शक्तिः, शान्तः परमस्वभावः नामरूपातीतः प्रकाशतेऽभिव्यक्तप्रथो भवति ।। २७ ।।

अनुवाद—प्राणापान वायु की शक्ति रेचक पूरक के द्वारा जब कुम्भित की जाय, उसके अन्त में वह शान्त नामा शक्ति अवस्था में रहती है, उसी से शान्तरूप प्रकाशित होता है ।। २७ ।।

व्याख्या—'रेचक' करने पर बाहर निकलकर प्राणवायु जब तक प्राणत्व को छोड़ने के बाद अन्तःप्रवेश करने के लिए अपानत्व को ग्रहण नहीं करता है, वह मध्य में स्थित 'कुम्भिकाशक्ति' है । और जब भीतर प्रवेश पाने के लिए 'अपानवायु' अपानत्व को त्याग कर प्राणत्व को ग्रहण नहीं करता, तब उसके मध्य में 'कुम्भितावस्था' है । यही भैरव या भैरवी अवस्था है, जिसे 'शान्ता शक्ति' (भी) कहते हैं । इसे शान्ताशक्ति इसलिए कहा गया है क्योंकि यह शांत, परमस्वभाव और नाम रूप से अतीत है । इसकी अभिव्यक्ति होना ही परमतत्त्व का ज्ञान होना है । इसी बात को 'प्रत्यभिज्ञा' में भी स्पष्ट कहा गया है[1] ।

यह प्राणवायु विच्छिन्न होकर अर्थात् प्राणत्व को त्याग कर कुछ काल तक रुकने के बाद अपानत्व को ग्रहण करता है तथा अपानत्व को ग्रहण कर, हृदयाकाश में पहुँचकर, अपानत्व को त्याग कर, प्राणत्व को नहीं ग्रहण करता है । इन दोनों बिन्दुओं के मध्य में क्षण भर के लिए विश्रान्ति रूप विमर्श का अनुभव होता है । 'वही मैं हूँ' ऐसा अनुभव होना यही 'भैरव-भैरवी रूप अवस्था' कही गई है ।

आ मूलात्किरणाभासां सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरात्मिकाम् ।
चिन्तयेत् तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदयः ।। २८ ।।

आ मूलात्—आ जन्माधारात् द्वादशान्तं यावत्, किरणाभासां मरीचिरूपां क्रमात्क्रमं तनुतामाश्रयन्तीं तां मरुच्छक्तिं चिन्तयेत् ध्यायेत्, कीदृशीं द्विषट्कान्ते द्वादशान्ते शाम्यन्तीम्, इत्थं सुसूक्ष्मतमस्यापि ध्येयाकारस्य ध्यानप्रकर्षोत्थापितस्यागलनाद् भैरवस्वरूपता भवति ।। २८ ।।

अनुवाद—आधारचक्र से द्वादशान्त चक्र-पर्यन्त किरण रूप में प्रकाशित होती हुई, क्रमशः सूक्ष्मता को धारण करती हुई, जो प्राणापान वायु की शक्ति है, उसका चिन्तन

---

१. 'इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता ।
या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम् ।।'

करते हुए ध्यान करना चाहिए, जो कि द्वादशान्त में जाकर शान्त होती है। इस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म ध्येय-स्वरूप ध्यान के आधिक्य से उत्थापित वह भैरवस्वरूप को अभिव्यक्ति करने वाली है ॥ २८ ॥

व्याख्या—यह किरण रूप से प्रकाशमान, सूक्ष्म से सूक्ष्म 'मूलाधार' से द्वादशान्त चक्र तक चढ़नेवाली और द्वादशान्त में जाकर प्राणत्व का त्याग कर अपानोदय के पूर्व 'भैरवरूप' को प्राप्त करने वाली, अति सूक्ष्म आकार के भी नष्ट हो जाने पर उसके बाद प्राप्त होने वाली 'भैरवावस्था' है। यह पाँचवीं धारणा है ॥ २८ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति—

उद्गच्छन्तीं तडिद्रूपां प्रतिचक्रं क्रमात्क्रमम् ।
ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं यावत् तावदन्ते महोदयः ॥ २९ ॥

तामेव शक्तिं तडिद्रूपां विद्युद्वत् चलद्दीप्त्योज्ज्वलां प्रतिचक्रं कन्दादिब्रह्मरन्ध्रान्तचक्रेभ्यः क्रमात्क्रमम् उद्गच्छन्तीमुल्लसन्तीं चिन्तयेत्, यावत् परं विश्वपूरकं ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं द्वादशान्तधाम तावत् महाभैरवैकात्मतोदयः ॥२९॥

इसके आगे छठी धारणा बतलाई जा रही है—

अनुवाद—वह बिजली के समान प्रकाशवाली, प्राणवायु की शक्ति मूलाधार से क्रमशः प्रतिचक्र में दौड़ती हुई, बारह अंगुल ऊँचे तक जा रही है—ऐसा चिन्तन करना चाहिए। जब तक कि अपने में सम्पूर्ण विश्व को समा लेने वाले महाभैरवत्व का उदय नहीं हो ॥ २९ ॥

व्याख्या—मूलकन्द से ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त ऊपर उठती हुई, विद्युल्लता के समान देदीप्यमान स्वरूप वाली, बढ़ती हुई प्राणवायु की चित्त (चैतन्य) शक्ति जब द्वादशान्त के अन्त में पहुँचती है, तब महान् प्रकाश का उदय होता है; तब—'यह मेरा स्वरूप है'—इस प्रकार अवमर्श होता है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—'मैं ही सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझसे ही सारे संसार की प्रवृत्ति चलती है[1]।

और भी 'प्रत्यभिज्ञातंत्र' में इसका स्पष्ट निरूपण किया गया है—

'यह सब मेरा वैभव है', इस प्रकार जानता हुआ विश्वात्मा के विकल्पों के प्रसार होने पर भी वह जीव महेशता को प्राप्त हो जाता है[2] ॥ २९ ॥

क्रमद्वादशकं सम्यग् द्वादशाक्षरभेदितम् ।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या मुक्त्वा मुक्त्वान्ततः शिवः ॥ ३० ॥

---

१. 'अहं सर्वस्य प्रभवो मनः सर्वं प्रवर्तते ।' (गीता)

२. सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥ (प्रत्यभिज्ञा)

जन्माग्र-मूल-कन्द-नाभि-हृत्-कण्ठ-तालु-भ्रूमध्य-ललाट--ब्रह्मरन्ध्र--शक्ति-व्यापिन्याख्यं यत्क्रमाणां चक्राणां द्वादशकं, क्रमेण कुटिलाकृत्यनाहतेन युक्तं यदेतदेव द्वादशकं, तत् सम्यगिति क्रमेणादिविसर्गान्तैर्द्वादशाक्षरै रञ्जितं, षण्ठस्वरवर्जं द्वादश स्वरभेदाः, प्रत्येकं 'स्वाभाविकं चलं दीप्तम्' इति—स्थित्या आदौ ध्यानं स्फुटीकृतम्, ततः स्पन्दमानं, ततोऽपि ज्योतीरूपतां प्राप्तम्, स्थूलं सूक्ष्मं परमित्यभिधीयते, इति सोपानपदक्रमं मुक्त्वा मुक्त्वा परित्यज्य अन्ततोऽन्ते परमशिवभावः ॥ ३० ॥

अब सातवीं धारणा बतलाते हैं—

अनुवाद—क्रमशः अकारादि द्वादश स्वरों के द्वारा, द्वादशचक्रों को भेदन करता हुआ, स्थूल और सूक्ष्म परिस्थितियों को छोड़ते-छोड़ते अन्त में जीव शिव रूप बन जाता है ॥ ३० ॥

व्याख्या—अभिप्राय यह है कि जन्माग्र (अकुलचक्र) मूल, कन्द, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भूमध्य, ललाट, ब्रह्मरंध्र, शक्ति और व्यापिनी नाम के बारह चक्र मनुष्य की गुदा से लेकर मस्तक-पर्यन्त क्रमशः ऊपर से ऊपर स्थित है। इन बारह चक्रों में 'शण्डस्वर' (ए, ऐ, ओ, औ) को छोड़कर अकार से लेकर विसर्गान्त बारह स्वर से क्रमशः भेदन करता हुआ साधक स्वभाव से ही, जो दीप्त और चल है,[1] ऐसा ध्यान करता हुआ, इन चक्रों का भेदन करे—तब इस स्पन्दन से ज्योति को प्राप्त करके सूक्ष्म, स्थूल और परमरूप को प्राप्त करने के लिए सीढ़ी-दर-सीढ़ी क्रमशः एक-एक को छोड़ता हुआ अन्त में 'परमस्वभाव' को प्राप्त होता है। तत्पश्चात् ज्योति को प्राप्त होता है। ये दोनों 'सूक्ष्म' और 'पर' के नाम से कहे गये हैं। इससे मनुष्य सर्व-विजयी और सर्वत्र प्रकाशमान् होता हुआ परमार्थतः शिवरूप से प्रकाशित होता है[2] ॥ ३० ॥

खेचरीमुद्रामाह—

तयापूर्याशु मूर्धान्तं भङ्क्त्वा भ्रूक्षेपसेतुना ।
निर्विकल्पं मनः कृत्वा सर्वोर्ध्वे सर्वगोद्गमः ॥ ३१ ॥

तया जन्मादिचक्राक्रमणशक्त्या प्राणाख्यया अर्धचक्रात्मिकया मूर्धान्तं

---

१. स्वाभाविकं दीप्तं चलम् ।

२. विवृत्ति में कहा गया है—

(क) इति सोपानपदक्रमं मुक्त्वा मुक्त्वा परित्यज्य अन्ततोऽन्ते परमशिवभावः ।
(क्षेमराज)

(ख) सर्वजित्वात् सर्वत्रावभासकः शिव एव प्रकाशते परमार्थतः ।
(शिवोपाध्याय)

द्वादशान्तमापूर्य, तथा तमेव द्वादशान्तं भ्रूक्षेपसेतुना भ्रूभेदनक्रमेण सेतुनेव वारिप्रवाहं गुरूपदेशयुक्त्या भङ्क्त्वा, तदनन्तरं निर्विकल्पं मनः कृत्वा, सर्वोर्ध्वे द्वादशान्तादप्यूर्ध्वं परमाकाशे सर्वव्यापकत्वं स्यात् ॥ ३१ ॥

अब आठवीं भूमिका द्वारा खेचरी मुद्रा का साधन बतलाते हैं—

अनुवाद—उस प्राणशक्ति के द्वारा तथा भ्रूभेदन के सेतु से उस द्वादशान्त को तोड़कर, मन को विकल्प रहित करके, सबसे ऊपर (द्वादशान्त आकाश से भी ऊपर) सर्वव्यापकता का उदय होता है[1] ॥ ३१ ॥

शिखिपक्षैश्चित्ररूपैर्मण्डलैः शून्यपञ्चकम् ।
ध्यायतोऽनुत्तरे शून्ये प्रवेशो हृदये भवेत् ॥ ३२ ॥

मयूरस्य पतत्राणि आधारत्वेनैषां सन्ति एतादृशैश्चित्ररूपैश्चन्द्रकैर्दीप्यमानैरपि अन्तर्बहिः शून्यरूपैः सादृश्येन शून्यपञ्चकमूर्ध्वाधोमध्यपार्श्वद्वयस्थितं पञ्चेन्द्रियेषु शून्यरूपत्वं वा हृदये ध्यायतः परमाकाशसमावेशो भवेत् । शिखिपक्षचित्ररूपैरिति पाठे त्वयमर्थः—शिखिपक्षवच्चन्द्रकवच्चित्ररूपैः रूपरसादिग्रहणात् नानारूपैः मण्डलैः, मण्डं रससारं लान्तीदृशि मण्डलानीन्द्रियाणि तैः शून्यपञ्चकं तन्मात्रत्वेनाव्यक्तत्वात् शून्यरूपं विषयपञ्चकं शब्दादिरूपं ध्यायतोऽनुत्तरे शून्ये भैरवरूपे प्रवेशः समावेशो भवेदिति ॥ ३२ ॥

अब नवीं धारणा वर्णित है—

अनुवाद—रंगीन मयूरपंखों की तरह मण्डलों (इन्द्रियों अथवा तन्मात्राओं) को पंचक शून्य मानकर हृदय में ध्यान करते हुए (योगी) का प्रवेश अनुत्तर शून्य में होता है ॥ ३२ ॥

ईदृशेन क्रमेणैव यत्र कुत्रापि चिन्तना ।
शून्ये कुड्ये पर पात्रे स्वयं लीना वरप्रदा ॥ ३३ ॥

ईदृशेन क्रमेण हानादानरूपेण, आक्रमेण, गुदाधार-जन्म-कन्द-नाभि-हृत्कण्ठ-तालु-भ्रूमध्य-लालट-ब्रह्मरन्ध्र-शक्ति-व्यापिन्यन्तं यत्र कुत्रापि स्वात्मनोऽन्यत्र स्वात्मवत् परत्रापि व्योम्नि प्राकारभाजनादौ, यद्वा परे पात्रे निर्मलचित्ते शिष्यादौ चिन्तना स्मरणा, स्वयं लीना अहर्निशं स्वदेहान्तः क्रमद्वादशकारोहणगाढतरध्यानावमर्शनबलात् स्वयमेव लीना सती स्मृतिः वरप्रदा भवेत्—परप्रकाशोदयात्मकोत्कृष्टवस्तुप्रदायिनी भवति । यदुक्तम्—

---

१. जिस प्रकार मयूरपंख चित्र होने के कारण गन्धर्वनगर की भाँति शून्य होते हैं, उसी प्रकार पाँचों इन्द्रियों और पाँचों तन्मात्राओं को शून्य समझने के कारण ही अनुत्तरशून्य में उनका प्रवेश होता है ।

'सर्वोत्तीर्ण रूपं सोपानपदक्रमेण संश्रयतः ।
परतत्त्वरूढिलाभे पर्यन्ते शिवमयीभावः ॥' इति ।

चिन्तनात् इति पाठे तु पूर्वोक्तां मरुच्छक्तिं प्रथमान्तत्वेन विपरिणमय्य मरुच्छक्तिः मण्डूकप्लुत्या अनुवर्तनीया, तेन चिन्तनात् होतोः मरुच्छक्तिः शून्ये बाह्ये कुड्यादौ वा स्वयं लीना सती वरप्रदेत्यन्वयः, बाह्यशून्यकुड्यादिकेऽपि स्वात्मवपुषीव प्राणशक्तिक्रमद्वादशकं चिन्तनीयमिति तात्पर्यम् ॥ ३३ ॥

अब साधक को आगे बढ़ने के लिए दसवीं धारणा निरूपित है—

अनुवाद—इस प्रकार क्रम से जहाँ कहीं भी शून्य प्राकार, अथवा किसी पात्र में चिन्तना होती है, तो उसमें स्वतः लीन प्राणशक्ति वरप्रदा बन जाती है ॥ ३३ ॥

व्याख्या—इसी क्रम से त्याग और ग्रहण के द्वारा गुदा, मूलाधार, जन्म, कन्ध, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरंध्र, शक्ति और व्यापिनी चक्र में चाहे कहीं भी, अथवा किसी भी स्थान में अपनी आत्मा से अन्य स्थान पर, आत्मा के समान की स्थानान्तर में—जैसे आकाश में, अन्य व्यक्ति में, पात्रादि में अथवा उत्तम पात्र, निर्मलचित्त वाले शिष्यादि में चिन्तन करता हुआ, अहर्निश साधना में लीन, अपने शरीर में ही द्वादश चक्र में चढ़ने से, अत्यन्त गाढ़ ध्यान के विचार बल से, स्वयं लीन हो जाने पर जो स्मृति उत्पन्न होती है, वह वरप्रदा (अर्थात् पर प्रकाश के उदय होने के कारण प्राप्त होने वाली उत्कृष्ट वस्तु को देने वाली) होती है। जैसा शास्त्रों में कहा गया है—'सम्पूर्ण चक्रों से पार होकर सोपानक्रम से उत्तरोत्तर उन्नत चक्र का आश्रय करने वाला साधक परमतत्त्व पर चढ़कर अन्त में शिवमय हो जाता है।'

अभिप्राय यह है कि इस प्रकार पूर्वोक्त प्राणायाम रूप वायु की शक्ति को शरीर के द्वादश चक्रों में ध्यान करते हुए अथवा वृक्ष या किसी अन्य सत्पात्र शिष्य में ध्यान करते हुए क्रमशः द्वादश चक्रों का चिन्तन करना चाहिए। जब साधक व्यापिनी चक्र को पार कर लेगा, तब स्वयं शिवस्वरूप हो जायेगा। जैसा कि स्पन्दकारिका में भी कहा गया है—

'जिससे सर्वमय जीव सर्वभाव उत्पन्न होने के कारण संवेदन रूप से तादात्म्य प्रतिपत्ति को प्राप्त हो जाता है, उससे शब्द और अर्थ के चिन्तन से उसके शरीर में ऐसी कोई अवस्था नहीं रह जाती है, जो शिवस्वरूप नहीं है। भोक्ता ही भोग्य रूप बन जाता है और उसकी सर्वदा ऐसी ही स्थिति बनी रहती है, और सभी अवस्थाओं में उसका ज्ञान ऐसा ही रहता है, मानों उसने यह सारा जगत् खेल के लिए बनाया है। जगत् को इस प्रकार देखता हुआ सभी संशयों से मुक्त होकर वह योगी शिवस्वरूप विचरण करता है[1] ॥ ३३ ॥

---

१. 'यस्मात्सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवात् ।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ॥

कपालान्तर्मनो न्यस्य तिष्ठन्मीलितलोचनः ।
क्रमेण मनसो दाढर्यात् लक्षयेल्लक्ष्यमुत्तमम् ॥ ३४ ॥

शिरःकपालमध्ये यदन्तश्छिद्रमस्ति तदन्तरे मनो न्यस्य, कपालरन्ध्रस्थिते स्वप्रकाशे प्रभास्वरे ज्योतिषि आलम्बने धारणाध्यानसमाधीन् सम्पादयित्वा (सम्पाद्य) कूणितनेत्रः स्थितः सन् उत्तमं लक्ष्यं लक्षयेत् ।

'मूर्ध्नज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ।' (योगसूत्र, पा० ३ सू० ३१)

इति न्यायात् । यद्वा—

'कशब्देन पराशक्तिः पालकः शिवसंज्ञया ।
शिवशक्तिसमायोगं कपालं परिपठ्यते ॥'

इति तन्त्रकोशयुक्त्या कपालान्तः प्रकाशविमर्शस्वरूपमध्ये—

'शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।'

इति नीत्या शिवशक्तिमयं सर्वं जगत्, इति-विमर्शविषयं मनो न्यस्य, मीलित-लोचनः सङ्कुचितभेददृष्टिः सन् सर्वोत्तमं लक्ष्यं पश्यतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

अब ग्यारहवीं धारणा वर्णित है—

अनुवाद—कपाल के भीतर मन को लगाकर नेत्र बन्दकर बैठा हुआ योगी क्रम से मन को दृढ़ता के कारण उत्तम लक्ष्य को देखे ॥ ३४ ॥

व्याख्या—सिर और कपाल के भीतर छो छेद हैं, उसे 'कपालछिद्र' कहते हैं । उसमें प्रकाश अर्थात् चमकती हुई ज्योति है । योगी उसमें धारणा से ध्यान को समाधिस्थ करके टेढ़े नेत्र के द्वारा उत्तम लक्ष्य को देखे । तब उसे सिद्धों के दर्शन होंगे । जैसा कि पातंजलयोगसूत्र में निरूपित है—

'मस्तक की ज्योति में संयम करने से सिद्धों के दर्शन होते हैं ।'

अथवा यों कहा जाय—'क' शब्द से पराशक्ति और 'पालक' शब्द का अर्थ शिव है, इस प्रकार शिवशक्ति का समायोग कपाल कहलाता है । ऐसा तंत्रालोक की उक्ति से—'कपाल के भीतर प्रकाश और विमर्शरूप से शक्ति ही सारा जगत् है और शक्ति-मान् (वह) महेश्वर है'—इस नीति से सारा जगत् शिवशक्तिमय है । इस प्रकार के विमर्श में मन लगाकर तथा नेत्र बंद करके संकुचित भेद दृष्टि बनाकर सबसे उत्तम लक्ष्य को देखना चाहिए ॥ ३४ ॥

तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न या शिवः ।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितिः ॥
इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
सम्पश्यत् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥' (स्पन्दकारिका)

मध्यनाडी मध्यसंस्था बिससूत्राभरूपया ।
ध्यातान्तर्व्योमया देव्या तया देवः प्रकाशते ॥ ३५ ॥

मध्यनाडी सुषुम्नाख्या, मध्यसंस्था हृदयमध्यस्था भवतीत्यन्वयः, सूक्ष्मत्वात् मृणालसूत्रतुल्यरूपया ध्यातं चिन्तितमन्तर्व्योम चिदाकाशात्मकं यस्यां सा, तथाविधया देव्या देवः प्रकाशः प्रकाशते, मध्यनाड्यामन्तश्चिदाकाशात्मकं शून्यमेवास्ति, तस्मात् प्राणशक्तिर्निःसरति—इति विमर्शेन प्रकाशप्रादुर्भावः, यद्वा मध्यनाडी मध्यसंस्था चासौ बिससूत्राभरूपा च मध्यनाडी मध्यसंस्थबिसरूपा च इति विशेषणोभयपदः समासः, तया एवंविधया मरुच्छक्त्या तन्मध्यचिन्तिताकाशया देवः प्रकाशते ॥ ३५ ॥

अब बारहवीं धारणा निरूपित है—

अनुवाद—मध्यनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना मध्य (हृदय) में स्थित है, उसका कमलनाल के सूत्र के समान सूक्ष्म चिदाकाशत्मिका देवी का ध्यान करने पर शिव प्रकाशित होता है ॥ ३५ ॥

व्याख्या—मध्यनाड़ी सुषुम्ना हृदय-चक्र में स्थित है। सूक्ष्मता के कारण वह मृणाल-तन्तु सदृश एवं भीतर से पोली है। उसमें चिदाकाश है। उस सुषुम्ना के भीतर पराशक्ति का ध्यान करने से प्राण-शक्ति बाहर निकलती है, इस विमर्श से प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है, उस प्रकाश में 'परमशिव' के दर्शन होते हैं। जैसा कि स्पन्दकारिका में भी कहा है[1]—'जब उस महाकाश में, जिसमें सूर्य और चन्द्र का प्रकाश भी विलीन हो जाता है, सुषुप्ति अवस्था के सदृश ऐसी विशेष जागृत अवस्था होती है, जिसमें गुप्त शिवतत्त्व आविर्भूत होता है ॥ ३५ ॥

कररुद्धदृगस्त्रेण भ्रूभेदाद् द्वाररोधनात् ।
दृष्टे बिन्दौ क्रमाल्लीने तन्मध्ये परमा स्थितिः ॥ ३६ ॥

अङ्गुष्ठतर्जन्यादिक्रमेण कराभ्यां रुद्धानि दृगुपलक्षितानि मुखरन्ध्राणि येन तादृशस्य योगिनोऽस्त्रेण भ्रूमध्यस्थग्रन्थिविदारणात् हेतोर्बिन्दौ दृष्टे क्रमादेकाग्रताप्रकर्षात् लीने संविद्गगने एव मध्येऽस्य योगिनः परमा स्थितिः भैरवाभिव्यक्तिः स्यादित्यर्थः। अयमत्रान्वयः—कररुद्धदृगस्त्रेण करणेन यद् द्वाररोधनं द्वारस्थगनं तस्मात् हेतोर्यो भ्रूभेदस्तस्माद्धेतोः बिन्दुदर्शनम्। यद्वा द्वारं ब्रह्मद्वारं तस्य रोधनं स्थगनं भ्रूमध्यकृतमेव ततो हेतोः—भ्रूमध्यग्रन्थि-

---

१. तदा तस्मिन्महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे ।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृत्तः ॥' (स्पन्दकारिका)

विदारणात् हेतोः परसंविद्दर्शनम् । अथवा रोधनादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी, तेन सर्वद्वाररोधनं कृत्वा भ्रूग्रन्थिविदारणात् संवित्प्रकाशः ॥ ३६ ॥

जब साधक इन बारह धारणाओं की साधना को समाप्त कर ले, तब उसके द्वारा आगे १३वीं धारणा इस प्रकार की जानी चाहिए—

अनुवाद—हाथ के अँगूठे और अँगुलियों से नेत्र को बन्द करके भ्रूचक्र का भेदन करे, तब उसको बिन्दुदर्शन होगा तो उसे अपने भीतर परमस्थिति प्राप्त होगी ॥३६॥

व्याख्या—जब योगी अँगूठे और अँगुलियों द्वारा क्रमशः मुख के सारे छिद्रों को बन्द करके इस प्रकार के साधन द्वारा भ्रूमध्य की ग्रन्थि का भेदन करता है, तब उसे ज्योतिबिन्दु का दर्शन होता है ॥ ३६ ॥

धामान्तः क्षोभसम्भूतसूक्ष्माग्नितिलकाकृतिम् ।
बिन्दुं शिखान्ते हृदये लयान्ते ध्यायतो लयः ॥ ३७ ॥

धाम्नो लोचनवर्तिनस्तेजसः, अन्तः क्षोभेण अत्यन्तनिष्पीडनादिनां सम्भूतं सूक्ष्माग्नितिलकाकृतिं नयनरश्मिरूपं बिन्दुं द्वादशान्ते हृदि च ध्यायतो, लयान्ते गलितविकल्पे पर्यवसाने, तेजस्तत्त्वसमावेशः स्यादित्यर्थः । यद्वा धाम्नो दीपादितेजसो योऽन्ते निर्वाणताप्राप्तिसमये क्षोभः—चाञ्चल्यं, ततः सम्भूतं सूक्ष्माग्नितिलकाकृतिं बिन्दुं शिखान्तादौ ध्यायतः ॥ ३७ ॥

अब १४वीं धारणा निरूपित है—

अनुवाद—धाम (अर्थात् नेत्रगत तेज) के क्षोभ से उत्पन्न सूक्ष्म चिंगारी के समान बिन्दु का द्वादशान्त तथा हृदय में ध्यान करते हुए विकल्पों के विनाश हो जाने पर (परमतत्त्व में साधक का) लय हो जाता है ॥ ३७ ॥

व्याख्या—तात्पर्य यह है कि नेत्रवृत्ति तेज को अँगुलियों द्वारा इन्द्रियों के द्वारों को बन्द करके क्षोभ उत्पन्न करने पर जो बिन्दुरूप प्रकाश दिखलाई देता है, उस तेज बिन्दु में ध्यानावस्थित द्वादशान्तचक्र से हृदयचक्र-पर्यन्त ध्यान करते-करते, जब अपने अन्तःकरण (मन) को उसमें लीन कर देता है, और जब मन निर्विकल्पावस्था में पहुँच जाता है, तब साधक उस 'तेजबिन्दु स्वरूप शिव' में लय होकर तदाकार हो जाता है ॥ ३७ ॥

अनाहते पात्रकर्णेऽभग्नशब्दे सरिद् द्रुते ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ३८ ॥

पात्रे कर्णौ यस्य तस्मिन्, न पात्रे कर्णौ यत्र तादृशि अन्तरुपलभ्ये इति केचित्, तत्त्वतो हि अनाहतध्वनिः कर्णगोचर एव श्रूयते इति साधकाः, सरिद्वद् द्रुते वेगवाहिनि । यद्वा परिश्रुते इति पाठे परितः समन्तात् सर्वेषु प्रदेशेषु

निर्गलिते श्रवणगोचरं गते इत्यर्थः। अभग्नशब्दे अहर्निशं विच्छेदनरहित-शब्दने, अनाहते न केनचित् आहते स्वरसत एवोत्थिते, नादभट्टारकात्मनि शब्दब्रह्मणि यो निष्णातः कृतधारणाध्यानसमाधिः, स परं ब्रह्माप्नोति ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः। अविच्छिन्नानाहतध्वनिविषयचित्तैकाग्र्यतया परमाकाशस्वरूपा-विर्भावः॥ ३८॥

अब पन्द्रहवीं धारणा बतलाई जा रही है—

अनुवाद—अनाहत, श्रवणगोचर, अविच्छिन्न ध्वनिवाले एवं नदी के वेग के समान शब्दब्रह्म में निष्णात (योगी) परब्रह्म प्राप्त कर लेता है॥ ३८॥

व्याख्या—योग्यताशाली कर्णविवरों में आधाररहित उत्पन्न अविच्छिन्न ध्वनि नदी के प्रवाह के सदृश प्रवाहमान रहती है और सम्पूर्ण प्रदेश में निरन्तर सुनाई देती है। उसका ध्यान करते हुए उसमें लीन होता हुआ साधक परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। कहीं-कहीं पर 'अपात्रकर्णे' यह पाठ भी मिलता है। उनके मत में जिस अन्तर्ध्वनि के श्रवणार्थ ये स्थूल कर्णपात्र नहीं है, ऐसे शब्दब्रह्म में निष्ठापूर्वक ध्यान करता हुआ साधक नदी के प्रवाह के सदृश अविच्छिन्न प्रवाहमान शब्दब्रह्म के प्रवाह में द्वादशान्त से हृदय तक और हृदय से द्वादशान्त तक चिन्तन करते हुए तन्मय होकर शब्दब्रह्म में लीन हो जाता है (ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है)॥ ३८॥

प्रणवादिसमुच्चारात्प्लुतान्ते शून्यभावनात्।
शून्यया परया शक्त्या शून्यतामेति भैरवि॥ ३९॥

प्रणवादयः प्रणवप्रकाराः, आदिशब्दः प्रकारे, यथा—वेदप्रणव ओंकारः, शिवप्रणवः हूंकारः, मायाप्रणवः ह्रींकार इत्यादिबहवः प्रकारास्तन्त्रेषु उद्दिष्टाः, तेषां समुच्चारो ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदेनोच्चारः। तथा चाथर्वशिखोपनिषत्—

> 'यावसाने चतुर्थ्यर्धमात्रा सा विद्युद्वती सर्ववर्णा
> पुरुषदैवता, स हि एष ओंकारश्चतुरक्षरश्चतुष्पाद-
> श्चतुरक्षरमात्रः स्थूलमेतद्ह्रस्वो दीर्घः प्लुतः।'

इति।

> 'ओं ओं ओं इति त्रिरुक्त्वा चतुर्थः शान्तात्मा
> प्लुतप्रयोगेण समस्तमोमिति प्रयुज्य आत्मज्योतिः
> सकृदावर्त्य।'

इति गुर्वक्षरेषु शून्यपात्रध्वनिवत् दीर्घकालमुच्चरितो यः प्लुतो मात्रात्रय-परिमितो वर्णः, एवंविधप्लुतान्ते प्लुतविश्रान्तौ बिन्द्वादिप्रमेयानारोहेण शून्य-भावनात् शून्यया वेद्यशून्यतामाप्तया पराशक्त्या शून्यतामेति—भेदशून्यपर-भैरवतामाप्नोति, अर्धमात्रायाः प्लुतोच्चारणेन हि सूक्ष्मा ध्वनयो बिन्द्वर्ध-

चन्द्राद्या निष्पन्ना भवन्ति, अत एव समुदायशक्त्या अखण्डं ब्रह्म बोधयति प्लुतोच्चारणमिति प्लुतं कृत्वापि यदन्ते शून्यमुच्चारयितुमशक्यमूर्ध्वार्धमात्रात्मकमखण्डचिन्मात्रस्वरूपं तदपि समस्तमन्ते भवति। प्रणवार्थस्तु अकार-उकार-मकारास्तस्य परब्रह्मणो व्यस्तत्वेन वाचकाः चतुर्थेनार्धमात्रास्वरूपेणाक्षरेण समस्तं ब्रह्मतत्त्वं वक्ति प्रणवः—

'तस्य वाचकः प्रणवः।' (योगसूत्र, पा० १ सूत्र २)

इति न्यायात् सर्वविकारातीतं तुरीयं धामाखण्डचैतन्यात्मकमेकं तत्त्वमर्धमात्राया विषयः यत्र परामर्शनीयनिष्ठविशिष्टरूपतास्थगनमेव परामर्शौचित्यस्य जीवितं, तत्र समस्तभावनिर्भरात्मकसंविन्मयपरमेश्वरपरामर्शादौ—

'वाक्यार्थे पदवचनं वर्णवचनं तदंशांशवचनम्।'

इति वा न्यायेन प्रणवादिबीजपिण्डतदंशगतमेव, प्रत्युत मुख्यं वाचकत्वमिति परिपूर्णाद्वितीयपरमशिववाचकः प्रणव इति निर्णयः। यच्छ्रीमान् पुष्पदन्तः—

'त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि स्वरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति ।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम् ॥ ३९ ॥' इति ।

अब सोलहवीं धारणा का निरूपण है—

अनुवाद—प्रणव का उच्चारण करता हुआ तथा प्लुतोच्चारण के अन्त में शून्यभाव में धारणा करता हुआ, शून्यात्मिका परमशक्ति की सहायता से, हे भैरवि ! शून्यभाव को प्राप्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

व्याख्या—प्रणवादि समुच्चारात्—यहाँ पर 'आदि' शब्द प्रकार वाचक है। वेद का प्रणव-ओंकार, शिव प्रणव हूँकार, माया प्रणव ह्रींकार इत्यादि अनेक प्रकार के प्रणव तंत्रशास्त्र में बतलाये गये हैं। ह्रस्व से अर्धमात्रा, अर्धमात्रा से बिन्दु, बिन्दु से नाद, नाद से शून्य, शून्य से परा में और परा से शून्य भाव में परमभैरवत्व को प्राप्त होता है।

ये अर्द्धमात्रा के प्लुतोच्चारण करने से उत्पन्न होने वाली सूक्ष्मध्वनियाँ बिन्दु अर्द्धचन्द्रादि के रूप में उत्पन्न होती हैं। इसीलिए शब्द समुदाय शक्ति से अखण्ड ब्रह्म का बोध कराती हुई प्लुत कहलाती है। और वह प्लुत के अन्त में शून्य का उच्चारण करने में असमर्थ होकर ऊर्ध्वारि मात्रा के रूप में अखण्डचिन्मय मात्रा का स्वरूप बन कर अन्त में परिपूर्णता को प्राप्त होती है।

प्रणव का अर्थ तो 'उकार' और 'मकार' है, जो व्यस्त रूप से परब्रह्म का प्रतिपादक है। इसीलिए पातंजलयोगसूत्र (१।२) में कहा गया है—'तस्य वाचकः

प्रणवः' इस न्याय से सम्पूर्ण विकारों से चतुर्थावस्था अखण्ड चैतन्यस्वरूप तत्त्व अर्द्ध-मात्रा का विषय है। जिस जगह स्थित विशिष्ट रूप से शब्द-स्थगन होने पर परामर्श-पूर्वक चिन्तन करना ही उसका जीवन है। सम्पूर्ण भावों से परिपूर्ण संवित्मय परमेश्वर का विचार करने पर वाक्यार्थ में पद, वर्ण, वचन, उनके अंश और अंश का भी निर्वचन इस न्याय से, प्रणव आदि बीजपिण्ड का अंशगत प्रत्युत मुख्यतः वाचकत्व परिपूर्ण परमशिव ही उसका निर्णय करने पर वाचक सिद्ध होता है। जैसा कि अथर्वशिखोपनिषद् में भी कहा गया है—

जो अन्त में चौथी अर्द्धमात्रा है, वह विद्युत्वेग से समस्त वर्णों में पुरुषदेवता के रूप में अवस्थित है। वही ओंकार चार अक्षर, चार पाद और चतुराक्षर मात्रा से, स्थूल रूप से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ओम्, ओम् २, ओम् ३, इस प्रकार तीन बार उच्चारण करके शांतात्मा चतुर्थावस्था को प्लुत रूप में करने पर समस्त वर्ण ओम् ५ (इस तरह उच्चरित होता है) उच्चारण करता हुआ सूक्ष्म ध्वनियाँ उत्पन्न करता है और क्रमशः शून्य में लीन हो जाता है।

इसी प्रकार इस प्रणव की उपासना का वर्णन 'शिवमहिम्नस्तोत्र' में भी उपर्युक्त प्रकार से ही वर्णित है ॥ ३९ ॥

यस्य कस्यापि वर्णस्य पूर्वान्तावनुभावयेत् ।
शून्यया शून्यभूतोऽसौ शून्याकारः पुमान्भवेत् ॥ ४० ॥

पूर्वान्ताविति उच्चिचारयिषाविरामौ, शून्यानुगततया भावयेत्, शून्ययेति प्राग्वत्, पुमान् अन्तः शून्याकारः निवृत्तदेहादिप्रमातृताभिमानः ॥ ४० ॥

अब सत्रहवीं धारणा निरूपित है—

अनुवाद—किसी भी वर्ण को लेकर उसके आदि-अन्त का चिन्तन करना चाहिए। शून्य से उत्पन्न होकर जैसे वह शून्य होता है, वैसे ही साधक को भी अपने आपको शून्याकार बना लेना चाहिए ॥ ४० ॥

व्याख्या—प्रथम तो वर्णोच्चारण की शिक्षा, तत्पश्चात् उसके अन्त का अनुभव, पुनः गुरुकृपा से वर्णविराम के अन्त में जिस स्थान में उसका लय होता है, उसका निश्चय, तदनन्तर शरीर के भीतर स्थित नाड़ीचक्र की परीक्षा; तत्पश्चात् शून्य से भी शून्य तत्त्व में ओम् का निश्चय करना और उस ओंकार को ब्रह्म में विलीन करना। तब जाकर कहीं साधक 'शून्यातिशून्यावस्था' को प्राप्त होगा। यह सब वृत्तान्त गन्धर्वनगर के तुल्य है, अतएव सभी नश्वर है। आगे की अवस्था ही ब्रह्म-स्वरूप है, जो बुद्धि से परे है ॥ ४० ॥

तन्त्र्यादिवाद्यशब्देषु दीर्घेषु क्रमसंस्थितेः ।
अनन्यचेताः प्रत्यन्ते परव्योमवपुर्भवेत् ॥ ४१ ॥

तन्त्रीः आदिरवयवो येषां तानि तन्त्र्यादीनि, तानि च तानि वाद्यानि वादनीयद्रव्याणि, शततन्त्री-परिवादिनी-तुम्बवीणादीनि तेषां ये शब्दाः मूर्च्छनात्मकाः स्वराः, क्रमस्थित्या दीर्घेषु बहुलेषु तेषु विषये योऽनन्यचेताः तदालम्बनचित्तवृत्तिसन्तानयुक्तः तत्तच्छब्दैकाग्रतया परमाकाशतनुर्भवेत्, प्रत्यन्ते तच्छब्दनिवृत्तौ आलम्बनान्तरानुदये परव्योमसमावेशः, दीर्घता अत्रानन्यचेतस्त्वोचितो हेतुः ॥ ४१ ॥

अब अठारहवीं धारणा वर्णित है—

अनुवाद—सितार आदि वाद्यों के शब्दों में क्रमपूर्वक स्थिति होने पर दीर्घकाल तक जब अनन्यचित्त होकर साधक विचार करता है, तब अविच्छिन्न काल में क्रमशः उच्चारण करने पर यह नादचिन्तन साधक को परमाकाश रूप बना देता है ॥४१॥

व्याख्या—अभिप्राय यह है कि सितार, सारंगी आदि वाद्य-यन्त्रों से उठने वाले स्वरात्मक शब्द मूर्च्छना के रूप में क्रमबद्ध स्थित होने पर अनन्यचित्त से क्रमबद्ध नाना राग उत्पन्न करते हैं और उनमें तदाकार चित्तवृत्ति वाला साधक एक समय पर क्षणभर के लिए समपरस्थिति होकर अत्यन्त आनन्द का अनुभव करता है। उसी प्रकार ओंकारादि प्रणव का उच्चारण करने से उत्पन्न होने वाले नाद का अनुसंधान करने वाला साधक निरन्तर अभ्यास करने पर नाद के लय होने पर क्षण भर के लिए परमाकाश रूप बन जाता है। इस समय उसका आकाशतत्त्व लय होकर शून्य में सत्ता होकर स्वयं परब्रह्मस्वरूप शून्यात्मक बन जाता है ॥ ४१ ॥

पूर्वं स्थूलवर्णक्रमानन्तरं बिन्द्वादिप्रमेयानारोहेण प्लुतोच्चारान्ते शून्यभावनामुक्त्वा अधुना सूक्ष्ममन्त्रार्धमात्रात्मारोहदशायां प्लुतान्ते शून्यधारणामाह—

पिण्डमन्त्रस्य सर्वस्य स्थूलवर्णक्रमेण तु ।
अर्द्धेन्दुबिन्दुनादन्तः शून्योच्चाराद्भवेच्छिवः ॥ ४२ ॥

पिण्डमन्त्रः ह्-स्-र्-क्षादिरूपः, अस्य स्थूलो वर्णक्रमः हकारात् प्रभृति षष्ठस्वरान्तः, अस्य नवात्मकस्य परं बिन्दुस्ततोऽर्धचन्द्रः अनन्तरं नादः एतस्य स्वकीयछायापुरुषदर्शनादिसमये बिन्द्वर्द्धचन्द्रनादानामन्ते पर्यवसाने शून्यरूपात् प्लुतोच्चारात् परमशिवीभावः। स्थूलवर्णक्रमेणेति विशेषणे तृतीया, तेन स्थूलवर्णक्रमेणोपलक्षितस्य पिण्डमन्त्रस्येत्यर्थः। यद्यपि अकारादीनां प्लुतोच्चारसम्भवः तथापि उवर्णनिष्पन्नप्लुतोच्चारस्य बाहुल्यं शास्त्रप्रसिद्धत्वं च। यदाह पाणिनिः—

'ऊकालोऽज्-ह्रस्वदीर्घप्लुतः।' (१।२।२७)

इति। अन्ये तु आहुः नाभ्यादिद्वादशान्तं यावत् प्रणवमात्रासोपानेषु आरोह-

क्रमम्—नाभौ अकारं, हृदि उकारम्, आनने मकारं, भ्रूमध्ये बिन्दुं, ललाटे अर्द्धचन्द्रं, ललाटोर्ध्वे निरोधिनीं, शिरसि नादं, ब्रह्मरन्ध्रे नादान्तं, शक्तिं त्वक्स्थां, व्यापिनीं शिखामूलस्थां, शिखास्थां समनां, शिखान्तस्थाम् उन्मनामुल्लङ्घ्य द्वादशान्तं यावत् षोडश भूमिका अपि उल्लङ्घ्य सप्तदशे निरञ्जने द्वादशान्तस्थे परमशिवे व्योमाकारे स्वमात्मानं भावयेत्—इत्येवं लक्षणं कलादीक्षासम्प्रदायमुपदिशति 'पिण्डमन्त्रस्य' इति, अत्र बिन्दुर्द्धचन्द्रनादान्तेति पठनीयं, बिन्दोरनन्तरं हि अर्द्धचन्द्रोच्चारः, एवं शरीरं षट्चक्राधारं, तद्रूपो यो मन्त्रः प्रणवाख्यः, 'सोहं' रूपो वा, सोहम्–इत्यत्र सकारहकाररूपहलो लोपे ओमित्यवशिष्यते, यतोऽयं नाभ्यादिद्वादशान्तं यावत् पिण्डे विभक्तः अतः पिण्डमन्त्रः ओङ्कारः, सोहमित्यजपागर्भितः हृदयविषयेऽत्यर्थं ध्वनति । यदुक्तं–

'ओमिति स्फुरदुरस्यनाहतं गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम् ।
दन्ध्वनीति हृदि यत्परं पदं तत्सदक्षरमुपास्महे महः ।।'

इति । हृत्कण्ठतालवादिक्रमेण स्वा द्वादश मात्रा अकाराद्या उन्मन्यन्ताः स्थानान्तरेषु नाभ्यादिषु शिखान्तावधिषु विभज्य स्थितः, तस्य यः स्थूलो वर्णक्रमः—उच्चार्याक्षरपरिपाटी, नाभिहृदाननेषु हि मात्रात्रयस्य उच्चार्यत्वात् स्थूलत्वं, बिद्वन्तानां स्थूलवर्णानामुच्चारणकालो मात्रा, बिन्द्वादिसमनान्तानामर्द्धमात्रा, तदूर्ध्वे तु परमशिवस्थानं, तया स्थूलाक्षरानुपूर्व्या उपलक्षितस्य पिण्डमन्त्रस्य बिन्दुर्द्धचन्द्रनादान्तशून्याः, अत्र निरोधिनी-नाद-शक्ति-व्यापिनी-समना अनुक्ता अपि द्रष्टव्याः, शून्याशब्देन तु उन्मनी उक्तैव, तेनायमर्थः—बिन्दुर्द्धचन्द्र-निरोधिनी-नाद-नादान्त-शक्ति-व्यापिनी–समनोन्मनीनामुच्चारात् द्वादशमात्रोच्चारणकालभावनया शिव एव भवेत् । यद्वा अकारादिसमनान्तानां मात्राणां शून्योच्चारात् शून्यताविमर्शनात् उन्मनारूपपरमशिवीभावो भवेत्, समनान्तस्य विश्वस्य हेयत्वाद् उन्मनापरतत्त्वसमावेश उपादेयः । उन्मनादीनां लक्षणानि आह नेत्रतन्त्रे—

'सा शक्तिः परमा सूक्ष्मा उन्मना शिवरूपिणी ।
अस्तित्वमात्रमात्मानं क्षोभ्यं क्षोभयते यदा ।।
समना सा विनिर्दिष्टा शक्तिः सर्वाध्ववर्तिनी ।
क्रोडीकरोति या विश्वं संहृत्य सृजते पुनः ।।
कुण्डलाख्या महाशक्तिस्तृतीयाप्युपचर्यते ।
ध्वनिरूपो यदा स्फोटस्त्वदृष्टाच्छिववविग्रहात् ।।
प्रसरत्यतिवेगेन ध्वनिनापूरयञ्जगत् ।
स नादो देवदेवेशः प्रोक्तश्चैव सदाशिवः ।।'

अत्र नादान्तोऽप्यनुप्रविष्टः—

'ध्वनिरध्वगतो यत्र विश्राम्यत्यनिरोधितः ।
निरोधिनीति विख्याता सर्वदेवनिरोधिका ॥
निरुद्धस्य महेशत्वमहिमा न प्रवर्तते ।
असङ्ख्यातास्तु कोटयो वै मन्त्राणां तत्र संस्थिताः ॥
लभते तत्प्रविष्टा वै .... ।'

या चेयं निरोधिकाख्या मान्त्री कला—

'..... ..... स बिन्दुश्चेश्वरः स्मृतः ।
यदा शिवामृतं मूर्ध्नि पतति सृष्टिकारणम् ॥
आप्यायस्तु भवेत् तेन सोऽर्द्धचन्द्र इति स्मृतः ।'

एष चार्द्धेन्दुः बिन्दुपदाद् ऊर्ध्वमारोहताम्—

'संहारः सर्वभूतानां ....'

नादादवरोहतां तु—

'..... सृष्टिकारणमेव च ॥
मकारो ह्यत्र वै रुद्रो वर्णसङ्घट्ट उत्तमः ।
यदा स्थितिं तु लभते स्वोन्मुखं सृष्टिकारणम् ॥
प्रतिष्ठाख्य उकरस्तु विष्णुः साक्षाद्भवत्यसौ ।'

इति ॥ ४२ ॥

पूर्वकारिका में स्थूलवर्णों के क्रम के बाद बिन्दु आदि प्रमेय में आरोहण न होने तक प्लुत के उच्चारण के अन्त में शून्य भावना का साधन बतलाया गया था । अब सूक्ष्म मन्त्र को अर्द्धमात्रात्मक रूप आरोह दशा में प्लुत का अन्त होने पर शून्य की धारणा का वर्णन १९वीं धारणा के रूप में निरूपित है—

अनुवाद—हे देवी ! पिण्ड मंत्र के स्थूलवर्णों के क्रम से उच्चारण के बाद अर्द्धेन्दु, बिन्दु, नाद और नादान्त के बाद शून्योच्चारण से मनुष्य शिवस्वरूप बनता है ॥४२॥

व्याख्या—'पिण्ड मंत्र' जिन्हें 'कूट' कहा करते हैं, जैसे ह् स् र् क्ष् आदि रूप में तंत्र-ग्रन्थों में दिखलाए गए हैं । इसका स्थूल वर्णक्रम हकार से छठे वर्ण पर्यन्त नौ प्रकार का है । उससे बिन्दु, तत्पश्चात् अर्द्धचन्द्र, उससे आगे नाद, तथा स्वकीय छाया के दर्शनादि के समय पुरुष बिन्दु अर्द्धचन्द्र और नाद के अन्त में समाप्त होने पर शून्य रूप होकर पुनः प्लुत का उच्चारण करने पर उसके लय होने की अवस्था में परम-शिव भाव को प्राप्त होता है ।

यद्यपि अकारादि वर्णों से भी प्लुतोच्चारण सम्भव था, परन्तु उससे न करके उकार से प्लुत के उच्चारण का बोध कराया गया है । यह प्रक्रिया शास्त्रों में बहुतायत से प्रसिद्ध होने के कारण की गई है । वस्तुतः प्रत्येक स्वर पशुपक्षी 'प्रकृति' से

उच्चारण करते हैं और ब्राह्ममुहूर्त में मुर्गा ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत का तथा नाद का उच्चारण नादान्त पर्यन्त करता है। इसीलिए वैयाकरणाचार्य पाणिनी ने भी—'अकालोऽज्-ह्रस्वदीर्घप्लुतः'—कहकर उकार से ही ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत उच्चारण मात्रा का निरूपण किया है और वह प्रकृतिक पशुपक्षी के द्वारा अतिशुद्ध मात्रा में अनुकरण करने के लिए साधक की साधनावस्था में अतीव सुलभ और सहायक होती है।

अन्य आचार्यों ने तो नाभि से लेकर द्वादशान्तचक्र-पर्यन्त जितने भी चक्र हैं, उसमें चढ़ने के लिए प्रणव को ही सीढ़ी माना है और आरोह क्रम से नाभि में अकार, हृदय में उकार, मुख में मकार, भ्रूमध्य में बिन्दु, ललाट में अर्द्धचन्द्र, ललाट के ऊपर निरोधिनी, सिर में नाद, ब्रह्मरन्ध्र में नादान्त को, त्वचा में पराशिक्ति को, शिखामूल में व्यापिनी को, शिखा में समना को तथा शिखान्त में स्थित उन्मना का उल्लंघन करके द्वादशान्त में प्रवेश की १६वीं भूमिका को पार करके, १७वीं स्थिति निरंजन द्वादशान्त के भीतर स्थित है। वहाँ पर स्थित परमशिव आकाशस्वरूप है। ऐसी अपनी आत्मा की भावना करनी चाहिए। इस प्रकार कलादीक्षा सम्प्रदाय के अनुसार इस धारणा का उपदेश दिया जाता है। यहाँ पिण्ड मंत्र में बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, नादान्त, बिन्दु के बाद अर्द्धचन्द्रोच्चारण—इस क्रम से सारा शरीर षट्चक्राधार रूप होकर जो प्रणव मंत्र 'सो हम्' रूप से यहाँ जपा जाता है, वह सकार और हकार के लोप होने पर 'ओम्' के रूप में शेष रह जाता है, जिससे कि यह नाभि से द्वादशान्त पर्यन्त पिण्ड में विभक्त होता है। अतः ओंकार ही पिंडमंत्र कहा गया है।

'सोऽहम्' इस 'अजपा' मंत्र से गर्भित 'ओंकार' हृदय के भीतर अतिमात्रा से ध्वनित होता रहता है। जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है—

'हृदयचक्र में बिना किसी प्रेरणा के ओंकार का जप होता रहता है। जिसके गर्भ में सम्पूर्ण शब्दशास्त्र व्याप्त है तथा हृदय में निरन्तर ध्वनि करते रहने के कारण उस परम पद ओंकार का—वही सत्य है, वही अक्षर है—इस प्रकार तेज के रूप में हम सदैव उसी का ध्यान करते हैं। हृदय, कण्ठ, तालु क्रम से अपनी द्वादश मात्रा अकार से लेकर उन्मनी पर्यन्त प्रत्येक स्थल में नाभि से लेकर शिक्षा पर्यन्त, विभागों में स्थित, ओंकार की इस स्थूल वर्णक्रम उपासना से उच्चारण की जाने वाली परम्परा नाभि, हृदय और मुख में (क्रमशः) 'अ', 'उ' और 'म्' के रूप में उच्चरित होती हुई स्थूल भावना है। 'बिन्दु' से लेकर 'समना' पर्यन्त अर्द्धमात्रा और उसके ऊपर 'परमशिव' का स्थान है। उसके द्वारा स्थूलाक्षर के आनुपूर्वी से उपलक्षित पिण्डमंत्र का बिन्दु, अर्द्धचन्द्र नादान्त और शून्य—इसमें निरोधिनी, नाद, शक्ति, व्यापिनी, समना और अनुक्ता आदि भी द्रष्टव्य है। शून्या शब्द से तो उन्मनी कही ही है। अतः इसका स्पष्टार्थ बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, निरोधिनी, नाद, नादान्त शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मनी आदि के उच्चारण से द्वादश मात्रा उच्चारण काल की भावना से साधन करता हुआ मनुष्य शिवस्वरूप बन जाता है। अथवा 'अकार' से

'समना' पर्यन्त मात्राओं का शून्य रूप उच्चारण करने से, शून्य विमर्श से, उन्मना रूप परमशिव भाव प्राप्त होता है, क्योंकि समनान्त साधन संसार रूप होने से हेय है। केवल उन्मना रूप जो परमतत्त्व है, उसमें प्रवेश करना ही उपादेय है। जिसके लक्षण नेत्रतंत्र में निम्न रूप में वर्णित हैं—

वह सूक्ष्म पराशक्ति उन्मना शिवस्वरूप है, उसका अस्तित्व क्षोभ करते समय क्षोभ्य वस्तु के रूप में ही आत्मा में आभासित होता है। उसी का नाम समना है, जो सभी मार्गों में सदा गतिशील है, और सम्पूर्ण विश्व को अपने भीतर समा लेती है तथा पुनः उत्पन्न कर देती है। वह 'कुण्डलिनी' नामक महाशक्ति है, जो तृतीया के रूप में भी व्यवहार में लायी जाती है तथा उसके द्वारा शिव के शरीर से ध्वनि के रूप में स्फोट रूप से प्रादुर्भूत होता है, और वह अतिवेग से सम्पूर्ण जगत् को परिपूर्ण करता हुआ अत्यन्त वेग से उस देवदेव महादेव के नादस्वरूप सदाशिव के नाम से कहा गया है।

इसके भीतर नादान्त शक्ति भी समाविष्ट हो चुकी है। ध्वनि के मार्ग में गया हुआ नादान्त जहाँ पर बिना रोके हुए विश्राम करता है, उस शक्ति का नाम निरोधिनी है। वह सभी देवताओं का निरोध करने में समर्थ है। उस निरोधिनी शक्ति सम्पन्न महेश्वर की महिमा अवर्णनीय है। उस महेश्वर में असंख्य कोटि मंत्रों की सत्ता है। जो उसमें प्रवेश करता है वही उस शक्ति को पाता है। यही निरोधिका नामिका मंत्रशक्ति की कला है और वही बिन्दु महेश्वर कहलाता है। जब यह शिवामृत मस्तक पर गिरता है, तो सृष्टि का कारण बनता है और जो इससे परिप्लावित होता है, वह अर्द्धचन्द्र कहलाता है। यही अर्द्धचन्द्र बिन्दुपात से ऊपर चढ़ता है, तब संहार नाम धारण करता है और वही सभी भूतों का कारण है तथा वही नाद का अवरोहरण सृष्टि का कारण बनता है। मकार यहाँ पर रूद्र है, जो उत्तम वर्ण संघट्टन से उत्पन्न होता है। जब यह स्थिति को पा जाता है, जो अपने अभिमुख होकर सृष्टि का कारण बन जाता है तथा जब यह ठीक स्थान पर प्रतिष्ठित होता है तो पालन करने के कारण 'उकार' रूप से समक्ष आता है॥ ४२॥

निजदेहे सर्वदिक्कं युगपद्भावयेद्वियत्।
निर्विकल्पमनास्तस्य वियत्सर्वं प्रवर्तते॥ ४३॥

एकाग्रमनाः सर्वासु दिक्षु पुरतो दक्षिणे वामे पृष्ठतश्च अक्रमेण शून्यं भावयेत्, ततस्तस्य परमाकाशसमावेशः॥ ४३॥

पूर्वोक्त प्रकारों में जब साधक १९वीं धारणा को प्राप्त कर लेता है, तत्पश्चात् उस परम शून्य की इस धारणा का अभ्यास करना चाहिए—

अनुवाद—विकल्प विहीन होकर अपने शरीर में सभी दिशाओं में व्याप्त आकाश की एक साथ भावना करते ही समग्र आकाश उस (साधक) के समक्ष प्रकाशित हो जाता है। (अर्थात् साधक का परमाकाश में समावेश हो जाता है।)॥ ४३॥

व्याख्या—अभिप्राय यह है कि संकल्प-विकल्प से रहित एकाग्र मन से सभी दिशाओं में निर्विकल्प आकाश वाली भावना बनाते हुए, जब मन निर्विषयक हो जाता है, और शून्य से अभेदभाव हो जाता है, तब उस अवस्था को परमशून्य कहते हैं। उसमें आत्मा भी शून्याकार ही भासमान होती है। जैसा कि प्रत्यभिज्ञातंत्र में कहा गया है—

'जो चित्त माया को छोड़कर भिन्न रूप में प्रकाश में आता है तथा देह, बुद्धि और प्राण आकाश के समान मन में कल्पित किये जाते हैं, उसका मैं प्रमाता हूँ'—इस प्रकार के विमर्श से अन्य भावों के अपोह हो जाने पर परप्रतियोगी होकर वही विकल्प निर्विकल्प के समान अवभासित होता है[1]। वह शून्यातिशून्यावस्था शिवतत्त्व है; ऐसी भावना करनी चाहिए। जैसा कि वहीं पर प्रत्यभिज्ञातंत्र में कहा है—'जब तक आत्मा की प्रलयकला शून्यादि अबोध रूप हैं, तब तक उनमें 'कार्मण', 'आणव' 'मायिक' मल भी रहते हैं और जब शून्य रूप हो जाता है तो ये मल शमित हो जाते हैं[2] ॥ ४३ ॥

पृष्ठशून्यं मूलशून्यं युगपद्भावयेच्च यः।
शरीरनिरपेक्षिण्या शक्त्या शून्यमना भवेत् ॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वाधःशून्यभावनया निराश्रयदेहसम्पत्तौ शरीरनिरपेक्षणीयत्वं शक्तेः ॥

अब तक की ये बीसों धारणाएँ परा धारणाएँ थीं। अब अपरा धारणाएँ वर्णित हैं—

अनुवाद—जब साधक आगे और पीछे के शून्य का एक साथ चिन्तन करता है तब शरीर निरपेक्ष शक्ति के द्वारा (उस साधक का) मन शून्य हो जाता है ॥४४॥

पृष्ठशून्यं मूलशून्यं हृच्छून्यं भावयेत् स्थिरम्।
युगपन्निर्विकल्पत्वान्निर्विकल्पोदयस्ततः ॥ ४५ ॥

पृष्ठे ऊर्ध्वे प्रमातृरूपं शून्यतया भावयेत् मूलमपि अधोदेशात्मकं प्रमेयं तदपि शून्यमिति भावयेत्, हृच्छून्यं हृदयमध्येऽपि प्रमाणात्मके शून्यतां भावयेत् भावकस्यापि हृदो मध्यवर्तिनः शून्यतात्राधिका, स्थिरमिति क्रियाविशेषणं, निर्विकल्पस्य चिद्घाम्नः उदय अभिव्यक्तिः। श्रीवासुदेवोऽप्याह—

---

१. 'चित्तत्वं मायया हित्वा भिन्न एवावभाति यः।
देहे बुद्धावथ प्राणे कल्पिते नभसीव वा ॥
प्रमातृत्वेनाहमिति विमर्शोऽन्यव्यपोहनात्।
विकल्प एव स परप्रतियोग्यवभासजः ॥

२. 'शून्याद्यबोधरूपास्तु कर्तारः प्रलयाकलाः।
तेषां कार्ममलोऽप्यस्ति मायीयस्तु विकल्पितः ॥'

'ऊर्ध्वशून्यमधःशून्यं मध्ये शून्यं निराश्रयम् ।
त्रिशून्यं योऽभिजानाति स भवेत् कुलनन्दनः ॥'

इति । कुलं देहादिशक्त्यन्तं परमाकाशत्वनिष्पादनेनानन्दमयं करोतीत्यर्थः ।४'५।

अब २२वीं धारणा कही गई है—

अनुवाद—ऊर्ध्व शून्य (प्रमातृरूप) मूल शून्य (प्रमेयरूप) तथा मध्य शून्य (प्रमाणरूप) का स्थिर चिन्तन करे तब एक साथ निर्विकल्पता के कारण निर्विकल्प (चैतन्यधाम) का उदय होता है ॥ ४५ ॥

जैसा कि भगवान् वासुदेव ने कहा है—'ऊर्ध्व, अधः और मध्य में अर्थात् प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता रूप त्रिपुरी को जो निराधार शून्यमय जान लेता है, वह 'कुल' अर्थात् शरीर में शक्ति-पर्यन्त तत्त्वों को आनन्दमय (अर्थात् शिवमय) बना लेता है ॥ ४५ ॥

तनूदेशे शून्यतैव क्षणमात्रं विभावयेत् ।
निर्विकल्पं निर्विकल्पो निर्विकल्पस्वरूपभाक् ॥ ४६ ॥

तनूशब्द ऊकारान्तः 'स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इति अमरः, तनूदेशे परिमितग्राहकपदे शून्यतैव इत्येतावन्मात्रं क्षणमल्पकालमपि निर्विकल्पं कृत्वा भावयेत्, किं कथम् ? ऊर्ध्वाधरादिशून्यभावनया इत्याशयः, निर्विकल्प इति निरालम्बनताप्रतिपत्त्या अनाहितत्रासः ॥ ४६ ॥

अब २३वीं धारणा कही गई है—

अनुवाद—शरीर के भीतर क्षणमात्र के लिए शून्यता मात्र का चिन्तन करता हुआ साधक स्वयं निर्विकल्प होकर सभी तत्त्वों को निर्विकल्प रूप से देखता है ॥४६॥

व्याख्या—अभिप्राय यह है कि शिवतत्त्व के अतिरिक्त यह दृश्यमान संसार कुछ भी नहीं है । चैतन्य के विलास से चित्रकार के द्वारा चित्रित चित्र के समान यह सम्पूर्ण जगत् साधक के समक्ष कल्पनामात्र है । जैसा कि सिद्धान्तमुक्तावली में कहा है—'सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् जो कि द्वैत के रूप में मेरे समक्ष आता है, उसे चित्र के समान जानता हूँ । मैं ही अकेला अनेक रूपों में होकर उपस्थित हो जाता हूँ । उस अद्वितीय, अनन्त, केवल सुखस्वरूप आत्मा को सभी प्रपंच के जली हुई रस्सी के समान उसी का स्मरण करता हूँ ।'[1] अतः यह सारा प्रपंच गन्धर्वनगर या इन्द्रजाल के समान प्रत्यक्ष होता है, जो वस्तुतः कुछ नहीं है ॥ ४६ ॥

---

१. 'पश्यामि चित्रमिव सर्वमिदं द्वितीयं तिष्ठामि निष्कलवदेक अनेकरूपः ।
आत्मानमद्वयमनन्तसुखैकरूपं स्मरामि दग्धरशनामिव सुप्रपञ्चम् ॥
आश्चर्यमप्यनुभवामि करस्थबिल्ववतुल्यं शरीरमहिनिर्लुयनीव वीक्षे ।
एवं च जीवनमपि प्रतिभासनं च निःश्रेयसोऽधिगमनं च मम प्रसिद्धम् ॥'
—सिद्धान्तमुक्तावल्याम्

सर्वं देहगतं द्रव्यं वियद्व्याप्तं मृगेक्षणे ।
विभावयेत् ततस्तस्य भावना सा स्थिरा भवेत् ॥ ४७ ॥

प्रोक्तशून्यभावना यस्य न झगिति हृदयमध्यास्ते, स देहगतमस्थिमांसादि सर्वं द्रव्यं वियता व्याप्तं विशेषेण भावयेत्, तदनन्तरं तस्य संयमिनः सा भावना उपादेयशून्यवासना दृढा भवेत् ॥ ४७ ॥

अनुवाद—देह में रहने वाला सम्पूर्ण द्रव्य (अस्थि-मांसादि) आकाश से व्याप्त है। मृगेक्षणे (साधक) इस (बात) का विशेष रूप से चिन्तन करे तो उसकी भावना स्थिर हो जायेगी ॥ ४७ ॥

देहान्तरे त्वग्विभागं भित्तिभूतं विचिन्तयेत् ।
न किञ्चिदन्तरे तस्य ध्यायन्नध्येयभाग्भवेत् ॥ ४८ ॥

देहान्तरे स्वस्मिन् देहविषये त्वग्लक्षणो यो विशिष्टो बंहिष्ठो भागः तं भित्तिभूतं जडबाह्यभित्तिकल्पं भावयेत्, तस्य चान्तर्न किञ्चिदस्ति इति ध्यायन्नपि अध्येयभाक् परव्याप्तिरूपः स्यात्—पुर्यष्टकप्रमातृभावोपशमात् ॥

अब २५वीं धारणा वर्णित है—

अनुवाद—शरीर की त्वचा का जो (बाह्य) विभाग है, उसे दीवार के समान समझे कि उसके भीतर कुछ नहीं है। यह ध्यान करने से साधक अध्ये (परमव्याप्ति) को पा लेता है ॥ ४८ ॥

हृद्याकाशे निलीनाक्षः पद्मसम्पुटमध्यगः ।
अनन्यचेताः सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात् ॥ ४९ ॥

हृदि भवे हृद्ये, हारिणि च आकाशे प्राणापानान्तरालपदे, निलीनमक्षं मनस्तद्द्वारेण चान्येन्द्रियचक्रं यस्य तादृक्, ऊर्ध्वाधरगतपद्मसम्पुटमध्यं गतो—भावनयानुप्रविष्टः, ऊर्ध्वगतं पद्मं प्रमाणं, अधरगतं प्रमेयं, तयोर्मध्ये चिन्मात्राख्ये प्रमातरि स्वस्वरूपे स्थितः, अत एव नान्यस्मिंश्चिन्मात्रातिरिक्ते चेतो यस्य तादृशः सन्, परं सौभाग्यं–विश्वेश्वरतास्वरूपं परमानन्दं विकासेन स्पृहणीयतां प्राप्नोत्येव, प्रमेयादिरूपस्य संसारस्य निमेषोन्मेषात्मकसङ्कोचविकासधर्मकत्वात् पद्मसम्पुटेन रूपणा, चित्प्रकाशतामभिनिविशमानं चित्तं तदाच्छुरितं विश्वं पश्यतीत्यर्थः ॥ ४९ ॥

अब २६वीं धारण कही गई है—

अनुवाद हृदयाकाश में जिसकी आँखें गड़ी हुई हैं, जो पद्मसम्पुट के बीच विराजमान है, जिसका मन किसी दूसरे में नहीं लगा है (ऐसा साधक) हे सुन्दरि, परम सौभाग्य को पा लेगा ॥ ४९ ॥

व्याख्या—मनोहर हृदयाकाश में अर्थात् प्राण और अपान के मध्य जिसका चित्त तथा इन्द्रियसमूह ऊर्ध्व, अधः और मध्य अर्थात् द्वादशान्त, नाभि और हृदयचक्र में संचरण करता हुआ प्रमाण, प्रमेय और प्रमातृ तथा प्रमातृस्वरूप में स्थिर होकर चैतन्य के अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं है, ऐसी भावना करता हुआ साधक स्वयं विश्वेश्वर स्वरूप धारण कर परमानन्द को प्राप्त करता है, क्योंकि प्रमेयादि रूप संसार के निमेषोन्मेष का संकोच-विकास रूप द्वादशान्त से नाभिचक्र-पर्यन्त भ्रमण करने के कारण चैतन्यतत्त्व के प्रकाश में चित्त ही जगत् के रूप से भासमान होता है। अतः वह उस विश्व को हस्तामलकवत् देखता है ॥ ४९ ॥

सर्वतः स्वशरीरस्य द्वादशान्ते मनो लयात् ।
दृढबुद्धेर्दृढीभूतं तत्त्वलक्ष्यं प्रवर्तते ॥ ५० ॥

सर्वतो रोमकूपान्तरेषु अपि चैतन्यदेवस्य प्रवेशेन शरीरे द्वादशान्तो योऽस्ति तत्र दृढीभूतं प्राप्तैकाग्र्यं मनो, लयात् विश्रान्तेर्हेतोः, दृढबुद्धेः योगिनः, तत्त्व-लक्ष्यं परतत्त्वप्रकाशं प्रवर्तते–प्रसरति ॥ ५० ॥

अनुवाद—अपने शरीर के सभी ओर से द्वादशान्त में मन के लीन हो जाने से स्थिर बुद्धि वाले योगी के स्थिर मन में परमतत्त्व प्रकाशित होता है ॥ ५० ॥

यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत् ।
प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत् ॥ ५१ ॥

यथा तथा इति स्वरसोदितेन येन तेन संवित्प्रसरणप्रकारेण, यत्र तत्र इति पूर्वोक्तेषु मध्यात् यस्मिन् तस्मिन् प्रदेशे द्वादशान्ते, प्रतिक्षणं मुहुर्मुहुः, मनः क्षिपेत् एकाग्रीकुर्यात्, इत्थं क्षीणवृत्तेः प्रशान्तचाञ्चल्यस्यास्य, दिनैरिति–अल्पेनैव कालेन, वैलक्षण्यम्–असामान्यपरभैरवरूपता भवति, 'यथा यथा यत्र यत्र' इति पाठे तु येन येन प्रकारेण यस्मिन् यस्मिन् विषये मनोनिक्षेपणं तथा तथा तत्र तत्र वैलक्षण्यं भवेदित्यन्वयः ॥ ५१ ॥

अनुवाद—ज्यों-ज्यों और जैसे-जैसे साधक अपने मन को प्रतिक्षण द्वादशान्त (चक्र) में स्थिर करता है, त्यों-त्यों प्रतिक्षण उसकी वृत्तियाँ क्षीण होती हैं और कुछ दिनों में ही वैलक्षण्य (असामान्य भैरवावस्था) प्रकट हो जाती है ॥ ५१ ॥

कालाग्निना कालपदादुत्थितेन स्वकं पुरम् ।
प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभासस्तदा भवेत् ॥ ५२ ॥

ओं र-क्ष-र-य-ऊं तनुं दाहयामि नमः इति दक्षिणवादाङ्गुष्ठात् कालाग्नि-रुद्रमुत्थितं ध्यात्वा तज्ज्वालया शरीरं भस्मीभूतं भावयेत् इत्येतदाह—'काला-

ग्निना' इति, कालपदात्-दक्षाङ्गुष्ठात्, स्वकं पुरम्-आत्मीयं देहमेव गुग्गुलम्, शरीरदाहादिचिन्तनयुक्त्या आत्मभावनया दग्धं ध्यायेत्। एषोऽप्याणवोपायः ॥ ५२ ॥

अनुवाद—दाहिने पैर के अँगूठे से उत्पन्न कालाग्नि से अपने शरीर को जला हुआ ध्यान करे, तब योगी को शान्त प्रकाश होता है ॥ ५२ ॥

व्याख्या—जब साधक दाहिने पैर के अँगूठे से 'ओं-र-क्ष-र-य-ऊँ' मंत्र का जाप करता हुआ (जिसे कालाग्निरुद्र कहते हैं) तथा उस पैर के अँगूठे से उठती हुई ज्वाला से शरीर भस्म हो रहा है, ऐसी भावना करता हुआ मनुष्य (योगी) शान्त प्रकाश प्राप्त करता है, अर्थात् वह शिवस्वरूप हो जाता है। यह आणवी भूमिका है ॥ ५२ ॥

एवमेव जगत्सर्वं दग्धं ध्यात्वा विकल्पतः।
अनन्यचेतसः पुंसः पुंभावः परमो भवेत् ॥ ५३ ॥

कालाग्निना उत्थितेन, सर्वमिति—देहस्थं बाह्यस्थं च, परमः पुंभावः—अपरिमितप्रमातृभैरवता, इति पूर्वोक्तधारणार्थ एव दृढीकृतः, परं तु पूर्वं स्वपुरदाहचिन्तनमुक्तम् इह सर्वजगद्दाहभावना इति विशेषः ॥ ५३ ॥

अनुवाद—इसी प्रकार सम्पूर्ण संसार को विकल्पों से जला हुआ समझ कर अनन्य चित्त वाले पुरुष (योगी) का परमपुरुष भाव हो जाता है ॥ ५३ ॥

स्वदेहे जगतो वापि सूक्ष्मसूक्ष्मतराणि च।
तत्त्वानि यानि निलयं ध्यात्वान्ते व्यज्यते परा ॥ ५४ ॥

निजदेहविषये, अथवा सर्वस्य जगतः सम्बन्धीनि यानि सूक्ष्माणि सूक्ष्मतराणि च तत्त्वानि—प्रकृतिमहदहङ्कारादीनि, तथा पृथिव्यादीनि तद्विकारभूतानि मांसादीनि च यानि सन्ति तेषां निलयं-स्वस्वकारणेषु मृतिदशायां लयं ध्यात्वा, पर्यन्ते परादेवी प्रकटीभवेत्, 'तत्त्वानि यातानि लयम्' इति पाठे तु सर्वतत्त्वानि लयं यातानि नष्टप्रायाणि एव इति ध्यात्वा पराभट्टारिकाविर्भावः ॥ ५४ ॥

अनुवाद—अपने शरीर तथा सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त सूक्ष्म और सूक्ष्मतर तत्त्व (प्रकृति से महत् तत्त्व अहंकारादि तथा उनके विकार स्थूल पंचभूतादि जितने भी तत्त्व) अपने-अपने कारण में लय हो जाने वाले हैं, ऐसा ध्यान करने पर 'परादेवी' का प्रकाश होता है ॥ ५४ ॥

पीनां च दुर्बलां शक्तिं ध्यात्वा द्वादशगोचरे।
प्रविश्य हृदये ध्यायन्मुक्तः स्वातन्त्र्यमाप्नुयात् ॥ ५५ ॥

प्राणशक्तिमादौ पीनां-पीवरां, ततः क्रमेण कृशां-सूक्ष्मां भवन्तीं, प्राणायामविधिना द्वादशान्ते ध्यात्वा, हृदये च यो ध्यायन् स स्वतन्त्रपरमेश्वररूपः स्यात् ॥ ५५ ॥

अनुवाद—प्राणशक्ति प्रारम्भ में स्थूल और अन्त में सूक्ष्म होती हुई साधक के द्वादशान्तचक्र में प्रवेश हो रही है, ऐसा हृदय में ध्यान करता हुआ साधक उससे मुक्त होकर स्वातंत्र्य को प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत् क्रमशोऽखिलम् ।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते मनोलयः ॥ ५६ ॥

स्थूलसूक्ष्मपरात्मकभुवनाध्वादिषट्कस्वभावं जगत् ध्यायेदित्याह—'भुवनाध्वेति' अत्रायमर्थः—वर्ण-मन्त्र-पद-कला-तत्त्व-भुवनाख्यस्य षडध्वनोऽपि परसूक्ष्मस्थूलरूपतावस्थितवाचकतद्वाच्याभासरूपक्रियाशक्तिस्फारस्वरूपत्वम्, तत्राप्यभेदेन विश्वं विमृशन्ति वर्णाः, भेदाभेदाभ्यां मन्त्राः, भेदेन पदानि, पूर्वः पूर्वश्चाध्वा उत्तरत्र व्यापकतया स्थितः, उत्तर उत्तरः पूर्वत्र व्याप्यतयान्तर्भूतः इति सर्वं सर्वत्रास्ति, अत एव गर्भीकृतेतराध्वपञ्चकैकाध्वशुद्धिस्तत्र तत्र शास्त्रे चोदिता । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'भुवनव्यापिता तत्त्वेष्वनन्तादिशिवान्तके ।
व्यापकानि च षट्त्रिंशन्मन्त्रवर्णपदात्मकाः ॥
तत्त्वान्तर्भाविनः सर्वे वाच्यवाचकयोगतः ।
कलान्तर्भाविनस्ते वै निवृत्त्याद्याश्च ताः स्मृताः ॥'

इत्यनन्तादिशिवान्तं यानि भुवनानि तद्व्याकत्वं तत्त्वेषु, तानि च तत्त्वानि व्यापकानि षट्त्रिंशत्, ये तु अन्ये त्रयोऽध्वानः—मन्त्र-वर्ण-पदात्मकाः, पञ्चाशत् पदानि नवात्मसम्बन्धीनि एकाशीतिः, ते च सर्वे तत्त्वान्तर्भाविनः तत्त्वानि अन्तर्भावयन्ति इति कृत्वा, कथं वाच्यवाचकयोगतः तत्त्वादीनि वाच्यानि मन्त्रादयो वाचकाः, कलाशोधनदीक्षायाः प्रस्तुतत्वात् । तदन्तर्भावं तावत् पञ्चाध्वनामाह—'कलान्तर्भाविन' इति । अस्य सर्वाध्वग्रन्थस्यायं पिण्डार्थः—परमेश्वरश्चिदानन्दघनः स्वतन्त्रभट्टारकः उन्मनाख्यया स्वस्वातन्त्र्यशक्त्या शून्यादिक्षित्यन्तमनन्तं वाच्यवाचकरूपं स्वभित्तौ स्वानधिकमपि अधिकमिव युगपत् अवभासयति, तत्र वाचकं ग्राहकभागावस्थितं परसूक्ष्मस्थूलभेदेन वर्ण-मन्त्र-पदात्मकं त्रिधा, वाच्यमपि ग्राह्यभागाभिनिविष्टं कला-तत्त्व-भुवनात्मकं तथैव । वर्णा हि अभेदविमर्शसाराः किञ्चित्स्थौल्येन भेदाभेदविमर्श-नादात्मकमन्त्ररूपताम् आश्रित्य ततोऽपि स्थौल्येन भेदविमर्शावगमकपदरूपतया भान्ति । एवं वाच्यरूपा पारमेश्वरी कलाख्या शक्तिः उत्तरोत्तरवैशिष्ट्येन

भुवनात्मतां गृह्णाति । वस्तुतश्च इयम् अक्रमैव पारमेश्वरी शक्तिः स्फुरति, तत्रापि च स्वस्वातन्त्र्यात् दर्पणनगरवत् क्रममपि आदर्शयति । क्रमेऽपि च पूर्वं पूर्वम् उत्तरत्र व्यापकतया स्थितं मृदिव घटादौ, उत्तरं उत्तरं तु पूर्वत्र शक्त्यात्मना स्थितं वृक्ष इव स्वबीजे इति सर्वं सर्वात्मकमेव । अत एव पञ्चतत्त्वदीक्षायाम् अनाश्रिततत्त्वपर्यन्ता भूतव्याप्तिर्भविष्यति । एवं च एकैकोऽपि प्रमाता भावो वा, वस्तुतः षडध्वरूपारमेशशक्तिमय-आदि-हान्तपरामर्शसारा-हन्ताविश्रान्तिसतत्त्वः परभैरवरूप एव । एवं भुवनादिषडध्वात्मकं सर्वं जगत् विमृश्य, तत्र स्थूलतरं किञ्चित्स्थूले विगाल्य, तं च सूक्ष्मे विलीनं कृत्वा, तं च परे चिन्मात्रबोधे, इत्थम् अध्वप्रक्रियया शैवतत्त्वविमर्शात्मिकया महोदयः इत्यर्थः । तत्तत् तत्त्वलयक्रमेणापि शून्यताभावना इयम् उक्ता—

'भुवनादित्रयं वाच्यं पदादिवाचकं त्रयम् ।
शक्तिरेतच्चाध्वषट्कं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥'

इति सङ्ग्रहः ॥ ५६ ॥

अनुवाद—भुवनाध्वा के रूप में सब कुछ का स्थूल, सूक्ष्म और पर की स्थिति में क्रमशः तब तक चिन्तन करे, जब तक कि मन का लय न हो जाय ॥ ५६ ॥

व्याख्या—स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप भुवनाध्वा से लेकर छः अध्वों में क्रमशः ध्यान करना चाहिए । अभिप्राय यह है कि वर्ण, मन्त्र, पद, कला, तत्त्व और भुवन ये छः मार्ग हैं । इन छः अध्वाओं में परम सूक्ष्म स्थूल रूप से अवस्थित जो वाचक तथा वाच्य के आभास रूप से क्रिया-शक्ति का स्पन्दन होता है, उसी के स्वरूप का ध्यान करे, क्योंकि उसी में अभेद रूप से सम्पूर्ण जगत् का चिन्तन निहित है । वे वर्ण-भेदाभेद से मंत्र रूप बन जाते हैं और भेद रूप से पद बन जाते हैं । ये सभी पूर्व-पूर्व अध्वा ३ हैं तथा उत्तरोत्तर व्यापक स्थिति में आते हैं । उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व में व्यापक बनकर अन्तर्भाव होते जाते हैं । अतः यह सम्पूर्ण जगत् सर्वत्र व्याप्त है । इसीलिए एक अध्वा दूसरे अध्वा को गर्भित करके स्थित होने से···प्रथम अध्वा दूसरे ५ अध्वाओं को भी गर्भित करके स्थित है । इस प्रकार यह षडध्व शोधन की प्रक्रिया शास्त्रों में बतलाई गई है । जैसा कि स्वच्छन्दतंत्र में भी कहा है—'तत्त्वों में भुक्तों की व्याप्यता आकाश से शिवतत्त्व-पर्यन्त हैं । ३६ तत्त्व, मंत्र, मंत्रों के वर्ण और पद व्यापक हैं । ये सभी सांसारिक पदार्थ वाच्य-वाचक योग से तत्त्वों में अन्तर्भूत होते हैं । ये तत्त्व कला में अन्तर्भूत होते हैं और वह कला निवृत्ति आदि नाम से प्रसिद्ध है ।

इस प्रकार अनन्त से लेकर शिव-पर्यन्त जितने भुवन हैं, उन सभी में तत्त्वों की व्यापकता है । वे सभी व्यापक तत्त्व ३६ हैं और जो दूसरे ३ अध्वा हैं, वे मंत्र, वर्ण और पद रूप से ५० पद है । नवात्मेश्वर सम्बन्धी तत्त्व ८१ हैं । वे सभी तत्त्वों के

भीतर अन्तर्भूत होने वाले तत्त्व हैं। साथ ही उनका अन्तर्भाव वाच्य-वाचक योग से होता है। उनमें तत्त्व वाच्य है और मंत्रादि वाचक। 'कला-शोधन दीक्षा' में प्रस्तुत किए गये हैं। उसके भीतर पाँच अध्वाओं का अन्तर्भाव होने के कारण वे 'कलान्तर-भावी' कहलाते हैं। इस सवाध्व ग्रन्थ का पिण्डार्थ है—'परमेश्वर' सच्चिदानन्दघन स्वयं स्वतन्त्र हैं। वह उन्मनाख्य शक्ति से शून्य से लेकर पृथ्वी पर्यन्त अनन्त रूप से वाच्य-वाचक रूप बन कर अपनी ही भित्ति पर, जो उससे अधिक नहीं है—उसको अधिकवत प्रतिबिम्बित करता हुआ दिखलाई देता है। उसमें वाचक ग्राहक भाग में अवस्थित परम सूक्ष्म और स्थूल भेद से वर्ण, मंत्र और पदात्मक तीन प्रकार से वाच्य होने पर भी ग्राह्य भाग में अभिनिविष्ट होकर कलातत्त्व और भुवनात्मक रूप से प्रतिबिम्बित होता है। अभेद के विचार का सार ही वर्ण है, जो कुछ स्थूल भेदाभेद विमर्श के रूप नादात्मक मंत्ररूपता को धारण करता है। उससे भी जब स्थूलविमर्श में उतरते हैं तो वह भेद-विमर्श के कारण पद रूप में सामने आते हैं। इस प्रकार वाच्य रूप जो परमेश्वर की शक्ति है, वह कलाशक्ति उत्तरोत्तर विशिष्टता को धारण करती हुई भुवनात्मकता को प्राप्त हो जाती है।

वस्तुतः तो इसका क्रम बतलाया जाना भी कठिन है। यह परमेश्वर की कला-रूपा शक्ति अक्रम से ही भासमान होती है, क्योंकि क्रम बदलने में भी इसकी स्वतंत्रता है। जैसे दर्पण की शक्ति नगर को दिखलाने के लिए स्वतन्त्र होती है, उसी तरह इसमें भी कोई क्रम नहीं है। क्रम बाँध लेने पर भी यह पूर्व-पूर्व शक्ति में उत्तरोत्तर व्यापक होकर स्थिति रहती है, जैसे कि मिट्टी घड़े में व्यापक होकर रहती है। उत्तरोत्तर शक्तियाँ पूर्व-पूर्व शक्तियों में व्यापक होकर स्थित रहती हैं, जैसे कि वृक्ष बीज में स्थित होता है। अतः स्पष्ट रूप से सिद्ध है कि सभी सर्वत्र सर्वात्मा के रूप में है। इसीलिए पंचतत्त्व दीक्षा में—'अनाश्रित दीक्षा पर्यन्त भूतों की व्याप्ति होती है' ऐसा बतलाया गया है। और इसी प्रकार एक-एक प्रमाता या एक-एक भाव वस्तुतः षडध्वा के फैलाव के रूप में परमेश्वर की शक्तिमय अकार लेकर हकार पर्यन्त वर्ण-विमर्श सम्पूर्ण अहन्ता विश्रान्ति पर्यन्त सत् तत्व है और वह परमेश्वरस्वरूप ही है। इसी प्रकार भुवनादि जो छः अध्वा हैं, तदात्मक सारे जगत् का विचार करता हुआ स्थूलतर को सूक्ष्म में और स्थूल को सूक्ष्म में विलीन करके सूक्ष्म को परमेश्वर की चिन्मात्र बोधकला में लय करे। इस प्रकार अध्व प्रक्रिया से शैवमत विमर्शात्मक क्रिया तक लय करने पर मनुष्य के सामने उस महान् चैतन्यशक्ति (परमेश्वर) का आविर्भाव होता है।

तत्त्वों का तत्त्वों में लय करने से उस महान् शून्यता की भावना का उदय होता है। उसके साधन के प्रकारों का वर्णन यहाँ किया गया है, उसका संक्षेप इस प्रकार है—'भुवनादि तीन तत्त्व वाच्य और पदादि तीन तत्त्व वाचक हैं। इस प्रकार शक्ति ही छः अध्वा के रूप में प्रकट होती है। ये छः प्रकार की शक्तियाँ जिसके भीतर हैं

वह शक्तिमान महेश्वर कहलाता है।' इस प्रकार षडध्व शोधन की प्रक्रिया से अध्वातीत होने वाला साधक शिवस्वरूप हो जाता है। ऐसा मालिनीविजयतंत्र[1] में उल्लिखित है ॥ ५६ ॥

अस्य सर्वस्य विश्वस्य पर्यन्तेषु समन्ततः ।
अध्वप्रक्रियया तत्त्वं शैवं ध्यात्वा महोदयः ॥ ५७ ॥

शिवः प्रकाशविमर्शात्मा परमेश्वरः, तस्य इदं 'शैवं तत्त्वं' स्वरूपं 'ध्यात्वा, महोदयः' प्रकाशाभिव्यक्तिः। तेन भुवनतत्त्वकलात्मको वाच्यवर्गः प्रकाश-परमार्थः, वर्णमन्त्रपदस्वरूपो वाचकसमूहः विमर्शवपुः इति उभयसंसर्गारणि-स्वभावः उन्मेषनिमेषशक्तिद्वययौगपद्यानुभवचमत्कारं ध्यायेत्। भुवनादि-अध्वपर्यन्तेषु हि जगतः शिवाद् विना न किञ्चित् इति जग्रद्रूपं त्यक्त्वा, शिव-मेव ध्यायतो महोदयः स्यात्। उक्तं च कर्मकाण्डक्रमावल्याम्—

'त्रयीसप्तचतुर्युग्ममये त्रितयवर्त्मनि ।
स्थितो यः शक्तिसहितः स जयत्यमृतेश्वरः ॥'

इति। अयम् अत्र उपाध्यायोपदिष्टोऽर्थः—प्रथमम् अनुत्तरेच्छोन्मेषलक्षणा 'त्रयी' ह्रस्वरूपा, तत आनन्देशनोर्मिषण्डस्वररूपं सप्तकं, चत्वारः सन्ध्यक्षर-वर्णाः, 'युग्मम्' अनुस्वारविसर्जनीयलक्षणम्, 'तन्मये' तत्स्वरूपे षोडशकलात्म-पुरुषस्वभावे, 'त्रितयवर्त्मनि'—वर्ण-मन्त्र-पदस्वरूपाध्वत्रये वाचकरूपे अभेद-भेदाभेदाश्रयभूते, 'यो' मृत्युञ्जयः कालदेहापहारी बोधात्मा परमेश्वरः, 'शक्तिसहितः' कलाख्यया स्वशक्त्या तत्त्वभुवनरूपतां गृह्णन्त्या मिलितः। एतेन कला-तत्त्व-भुवनलक्षणस्य अध्वत्रयस्य वाच्यत्वं सूचितम्। एवंविधस्य अध्वषट्कस्य पर-सूक्ष्म-स्थूलरूपत्वं ज्ञेयम्, वाच्यस्य वाचकान्तर्भूतत्वेन पृथक् निर्देशाभावात् त्रितयवर्त्मनि इत्युक्तम्, शेषं पूर्वोक्तमेव इति अलम् ॥ ५७ ॥

अनुवाद—इस सम्पूर्ण विश्व के चारों ओर अध्वप्रक्रिया से शिवतत्त्व का ध्यान करते हुए साधक के हृदय में परमशैवतत्त्व उदित होता है ॥ ५७ ॥

व्याख्या—अभिप्राय यह है कि प्रकाश विमर्श रूप परमेश्वर के इस शैवतत्त्व के स्वरूप का ध्यान करने पर साधक के शरीर में प्रकाश की अभिव्यक्ति होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि कलात्मक भुवन तत्त्व वाच्य वर्ग है, प्रकाश परमार्थ है और पदस्वरूप मंत्रवर्ण वाचक है। ये समुदाय-त्रय ही विमर्श का शरीर है। द्वादशान्त तथा नाभिचक्र ये दोनों संसर्गात्मक अरणि हैं। उन्मेष और निमेष दोनों शक्तियों का एक साथ अनुभव करना—यह प्रकाश रूप है। इसीलिए भुवन से अध्व पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् शिव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसमें से जगत् रूप का त्याग करके शिव

१. अध्वातीतो भवेच्छिवः। (मालिनीविजय)

रूप का ध्यान करते हुए साधक के हृदय में ज्ञान का उदय होता है। जैसा कि कर्मकाण्डकर्मावली नामक ग्रन्थ में कहा गया है—'तीनों वेद, छः अध्वा और चारों अवस्थाएँ तथा दोनों चक्र—इन तीनों मार्गों में अवस्थित शक्ति पर्यन्त सदाशिव का ध्यान करता हुआ वह अमृतेश्वर (अर्थात् शिव) बन जाता है।' इस जगह उपाध्याय का संकेत निम्नस्थ है—सर्वप्रथम अनुत्तर इच्छा का उन्मेष ही जिसका लक्षण है, उस अवस्था का नाम त्रयी है जो ह्रस्व-स्वरूप (सूक्ष्मावस्था) है। उसके बाद आनन्द ही जिसका अनुभव में प्राप्त होने वाला स्वरूप है, ऐसे सात 'षण्ड-स्वर' हैं, वे सप्तक कहे गये हैं और चार सन्ध्यक्षर-वर्ण, युग्म, अनुस्वार और विसर्जनीय में षोडशकलात्मक पुरुष मार्ग में, त्रितया मार्ग में, वर्ण, मंत्र और पद स्वरूप तीनों अध्वों में, जो कि अभेद, भेदाभेद और भेद के आश्रयभूत हैं, उसका चिन्तन करते हुए मनुष्य मृत्युंजय होता है। (अर्थात् काल–देह का अपहरण कर सकती है) वह बोध स्वरूप परमेश्वर है ॥ ५७ ॥

इदानीं बाह्यशून्यतालम्बनक्रमेण आदिशति—

विश्वमेतन्महादेवि शून्यभूतं विचिन्तयेत् ।
तत्रैव च मनो लीनं ततस्तल्लयभाजनम् ॥ ५८ ॥

'विश्वम्' इति जगत्, 'शून्यभूतं' शून्यातिशून्यताम् आप्तम्। तत्र लयः तन्मयीभावः ॥ ५८ ॥

अनुवाद—इस सम्पूर्ण संसार को शून्यमय विचार करे, और वहीं मन को लीन करता रहे तो साधक उस शून्य में लय होकर तन्मयता को प्राप्त कर लेता है ॥ ५८ ॥

व्याख्या—यह सम्पूर्ण जड़-चेतनात्मक जगत् वस्तुतः कुछ भी नहीं है। गन्धर्व-नगर या इन्द्रजाल के तुल्य मिथ्याध्यास से उत्पन्न होने के कारण असत् है। जब वस्तु ही नहीं है तो उसके नाम-रूपादि भी सभी काल्पनिक ही हैं। सद् वस्तु तो स्वतः प्रकाशमान चैतन्यमात्र है। इस प्रकार ध्यान करने वाला इस लययोग के अभ्यास का पात्र है ॥ ५८ ॥

घटादिभाजने दृष्टिं भित्तीस्त्यक्त्वा विनिक्षिपेत् ।
तल्लयं तत्क्षणाद् गत्वा तल्लयात् तन्मयो भवेत् ॥ ५९ ॥

अन्तःसुषिरे वस्तुनि पार्श्वानि त्यक्त्वा दृष्टिं क्षिपेत्, तत्रैव लयात् विश्रान्तेः, परब्रह्मसमाविष्टो भवेत् ॥ ५९ ॥

अनुवाद—जैसे मनुष्य भित्ति को छोड़कर घटादि पात्रों पर दृष्टि स्थापित करता है, उसी प्रकार अन्तःकरण में रहने वाली वस्तु पर दृष्टि जमा कर यदि पार्श्व भाग (हृदय तथा द्वादशान्त) को छोड़कर दृष्टि स्थापित करे, तो वहीं पर विलीन होकर विश्रान्ति को प्राप्त कर लेता है। (अर्थात् परमेश्वर में बिलीन हो जाता है) ॥५९॥

दृष्टिबन्धनभावनाम् आह—

निर्वृक्षगिरिभित्त्यादिदेशे दृष्टिं विनिक्षिपेत् ।
विलीने मानसे भावे वृत्तिक्षीणः प्रजायते ॥ ६० ॥

'निर्वृक्षादिदेशः' शून्या दिक्, तत्र दृङ्निक्षेपात् 'मानसे भावे' चित्तस्वरूपे, आलम्बनाभावात् 'विलीने' गलिते सति, योगी 'वृत्तिक्षीणः' क्षीणसमस्तवृत्तिः महाप्रकाशरूपो भवति ॥ ६० ॥

अब दृष्टिबंधन भावना का वर्णन करते हैं—

अनुवाद—वृक्ष, पर्वत, भित्ति आदि से रहित शून्य में दृष्टि को स्थापित करे, उससे मानस-संस्कार विलीन हो जाने पर (योगी) क्षीण वृत्ति वाला हो जाता है ।

व्याख्या—वृक्ष, वन, पर्वतादि से रहित केवल शून्य मानसाकाश में निरालम्ब रूप से विलीन होने पर क्षीण वृत्ति वाले योगी ब्रह्म समाविष्ट होकर ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं (अर्थात् ब्रह्ममय हो जाते हैं) और कलाख्य नामक स्वशक्ति से त्रिभुवरूपता में मिलता है, इससे कलातत्त्व भुवन लक्षण है, अध्वत्रया वाच्य है, ऐसा बोध होता है । इस प्रकार छहों अध्वों को परम सूक्ष्म और स्थूल रूप समझना चाहिए । वाच्य वाचक के अन्तर्भूत रहने के कारण उसका पृथक् निर्देश न कर केवल त्रितय मार्ग ही कहा गया है । जैसा कि मालिनीकल्पोत्तर ग्रन्थ में भी कहा है—'छह अध्वों को त्यागकर, इन्द्रियमण्डल पर विजय प्राप्त कर तथा कारणों से निवृत्त होकर कृतकृत्य होने वाला वह पुरुष पृथ्वी पर सूर्य के समान शोभित होता है'[1] ॥ ६० ॥

निरालम्बभावनाम् आह—

उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ध्यात्वा मध्यं समाश्रयेत् ।
युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते ॥ ६१ ॥

भावद्वयस्य प्रतीतिकाले 'मध्यम्' अन्तरालं तद्भावद्वयावच्छेदहेतुं शून्यं ध्यात्वा उपलभ्य, सम्यग् ऐकाग्र्येण 'आश्रयेत्' । तत एव च तद्भावद्वयं 'युगपत् त्यक्त्वा' अनालोचनेन परिहृत्य, योगिनः तत्र मध्ये, तत्त्वं-परं धाम व्यज्यते ॥ ६१ ॥

अब निरालम्बभावना कहते हैं—

अनुवाद—दोनों भावों की प्रतीति के काल में जो मध्य भाग रहता है, उस अवस्था का आश्रय लेने पर और एक साथ दोनों भावों का त्याग कर देने पर, मध्य भाग में परमतत्त्व का प्रकाश होता है ॥ ६१ ॥

---

१. अध्वषट्कादि सन्त्यज्य जित्वा चेन्द्रिय मण्डलम् ।
कारणैः कृतकृत्योऽसौ राजते सूर्यवद् भुवि ॥ (मालिनीकल्पोत्तरे)

व्याख्या—अभिप्राय यह है कि यह घट है, यह पट है, इत्यादि अनेक प्रकार की ज्ञातव्य वस्तुओं के समुदाय का सार समझकर यह ज्ञाता है, यह ज्ञान है, यह ज्ञेय है—ऐसी कल्पना करके ज्ञाता और ज्ञेय भाव का त्याग कर ज्ञान रूप एक भाव में (जो कि शून्य रूप है) भावत्यागलक्षणा से चित्त की एकाग्र वृत्ति करके मनुष्य शिवस्वरूप बन जाता है ॥ ६१ ॥

ध्येयाकारभावनाम् आह—

भावे न्यक्ते निरुद्धा चित् नैव भावान्तरं व्रजेत् ।
तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यति भावना ॥ ६२ ॥

'न्यक्ते' अन्तर्हिते—अदृष्टे 'भावे' पदार्थे त्रिनेत्रचतुर्भुजाद्याकारे ध्येयवस्तुनि, 'चित्' चेतना 'निरुद्धा' अभ्यासपाटवेन नितरां रुद्ध्वा स्थापिता सती, 'भावान्तरम्' अन्यपदार्थं दृष्टदेहघटादिकं 'नैव व्रजेत्' । न्यक्तं-ब्रुडितं, तिरोहितम्-अन्तर्हितम् इति वेदभाष्यकारः । 'न्यक्तम्' इति छान्दसः प्रयोगः । 'भावे व्यक्ते' इति पाठे तु अकारप्रश्लेषेणापि 'अव्यक्ते' इति पूर्वोक्त एव अर्थः । एवं सालम्बनध्यानयोगे अपि—

'ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम् ।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥'

इति योगशास्त्रनीत्या ध्यातृध्याने विहाय, ध्येयनिरालम्बनशून्यमध्यधामविश्रान्तेः उपेयत्वात्, 'तयोः' व्यक्ताव्यक्तयोः भावयोः 'मध्यभावेन' न किञ्चिद्रूपमध्यधामविश्रान्त्या 'भावना' मध्यदशाविश्रान्तिसंस्कारः, अतिशयेन 'विकसति' उद्बोधम् आयाति, तेन व्यक्ताव्यक्तभावद्वयादिमध्यान्तदशाव्यापकतद्द्वयैकानुसन्धातृचिन्मात्ररूपमध्यविश्रान्तिः भवेत् इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

अब ध्येयाकार भावना कहते हैं—

अनुवाद—अदृष्ट पदार्थ में निरुद्ध चित्त दूसरे पदार्थ में नहीं जायेगा और चित्त के भावान्तर में नहीं जाने पर उस समय मध्यस्थ भाव से उत्कृष्ट भावना की अभिव्यक्ति होती है ॥ ६२ ॥

व्याख्या—तीन नेत्र, चार भुजाएँ, भ्रू, दृष्टि इत्यादि आकृति वाले, ध्यान करने योग्य, इष्टदेव के स्वरूप वस्तु में जब भाव डूब जाते हैं, तो चित्तवृत्ति निरुद्ध हो जाती है । अभ्यास के चातुर्य से अत्यन्त निरुद्ध चित्तवृत्ति पुनः भावान्तर में नहीं जाती । इस प्रकार सालम्बन ध्यान में भी उसके मध्यगत ज्ञान रूप भावना में स्थित रहने वाले योगी में उत्कृष्ट भावना उत्पन्न होती जाती है । अर्थात् उसका विशाल मन ईश्वरमय हो जाता है । योगशास्त्र के अनुसार—'जिस समय ध्याता और ध्यान का त्यागकर ध्येय मात्र ही क्रम से जिसकी दृष्टि के सामने रहता है, उस समय

साधक का चित्त 'निर्वातस्थदीपशिखा' के समान निश्चल होता है। उस अवस्था का नाम ही समाधि है। जिससे व्यक्त-अव्यक्त दोनों भाव आदि, मध्य और अन्त अवस्था में व्यापक होकर (उन दोनों को एकाकार में लीन करने वाले) चिन्मय स्वरूप में विश्रान्ति हो जाती है ॥ ६२ ॥

पुनः शाक्तीं भूमिकाम् आह—

सर्वं देहं चिन्मयं हि जगद्वा परिभावयेत् ।
युगपन्निर्विकल्पेन मनसा परमोदयः ॥ ६३ ॥

आ पादात् केशान्तं 'सर्वं देहं चिन्मयं' प्रत्यंशं चिदेकरूपम्, 'युगपत्' अक्रमं 'जगत् वा' सर्वं 'निर्विकल्पेन मनसा' स्फुरच्चिच्चमत्कारव्याप्त्या, परितः अन्तर्बहिश्च 'भावयेत्' ।

'प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात्, अन्यथा चेत्यमानत्वानुपपत्तेः ।'
इति न्यायात् प्रकाशः प्रकाशते इति भावयेत् ॥ ६३ ॥

अब शक्ति की भूमिका कहते हैं—

अनुवाद—सम्पूर्ण शरीर अथवा जगत् को चिन्मय विचारते हुए एक साथ निर्विकल्प मन से भी परमतत्त्व का उदय होता है ॥ ६३ ॥

व्याख्या—पैर से लेकर केश तक पूरे शरीर को चिन्मय विचार करने से अथवा एक साथ बिना किसी क्रम से सम्पूर्ण जगत् को चिन्मय चिन्तन करने से विकल्प रहित मन से भीतर और बाहर सर्वत्र चिन्मय भावना करते हुए साधक के मन में परम तत्त्व का उदय होता है। प्रकाशमान वस्तु प्रकाश से पृथक् नहीं होती है। इसी न्याय से परम प्रकाश का उदय होता है।

वायुद्वयस्य सङ्घट्टादन्तर्वा बहिरन्ततः ।
योगी समत्वविज्ञानसमुद्गमनभाजनम् ॥ ६४ ॥

'अन्तः' हृदये, 'बहिः' द्वादशान्ते, 'अन्ततः' प्रवेशनिर्गमनयोः पर्यवसाने प्राणापानसङ्घट्टम् अनुल्लिखितभेदं निर्गमप्रवेशविनाकृतं शून्यकल्पं ध्यात्वा (योगिनः) समदृष्टित्वम् उदियात् ॥ ६४ ॥

अनुवाद—भीतर और बाहर (अर्थात् हृदय और द्वादशान्त में) दो वायुओं (प्राण तथा अपान) संघट्ट होने से योगी समत्व विज्ञान के आविर्भाव का पात्र बनता है ॥ ६४ ॥

व्याख्या—अभिप्राय यह है कि अन्तः अर्थात् हृदयचक्र में, बहिः अर्थात् द्वादशान्त चक्र में, अन्ततः अर्थात् प्रवेश और निर्गमन करता हुआ, अन्त में प्राण और अपान के संघर्ष से अनुल्लिखित (लिखने में न आये ऐसी) अवस्था का भेदन करता हुआ,

शून्य तुल्य निर्गम और प्रवेश का ध्यान करने से योगी के हृदय में 'समत्व' का उदय होता है ॥ ६४ ॥

सर्वं जगत्स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत् ।
युगपत् स्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत् ॥ ६५ ॥

'स्वानन्दभरितं' त्यक्तविषयात्मानन्दं, 'स्वामृतेनैव' स्वानन्देन भरितं स्वानन्दभरितं स्वकीयचिदानन्दपूर्णं 'सर्वं' चिन्तयेत् ।

'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥'

इति वाजसनेयब्राह्मणश्रुतेः । इह आश्यानचिद्रसरूपस्य जगतोऽपि भासनात्—

'सर्वं देहं चिन्मयं हि .... ।'

इति पूर्वस्याः प्रकाशधारणायाः सकाशात् विशेषः ॥ ६५ ॥

अनुवाद—इस सम्पूर्ण जगत् अथवा अपने शरीर को आत्मानन्द से परिपूर्ण है, ऐसी युगपद् धारणा से उत्पन्न होने वाले आत्म अमृत से (साधक) परमानन्दमय हो जाता है ॥ ६५ ॥

व्याख्या—सम्पूर्ण जगत् को तथा स्वशरीर को भी स्वात्मानंद चिन्मयामृत से परिपूर्ण, सच्चिदानन्दघन के रूप में ध्यान करते हुए समूहालम्बन भावना से चिन्तन करते हुए योगी परमानन्दमय हो जाते हैं । यथा वाजसनेय ब्राह्मण में उद्धृत है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

'यह आत्मा पूर्ण है, यह जगत् भी पूर्ण है और पूर्ण से ही पूर्ण की व्याख्या की जाती है तथा पूर्ण में से पूर्ण को लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है ।' यहाँ पर सम्पूर्ण जगत् चिद्रसरूप है, ऐसी भावना करने से पूरा शरीर चिन्मय स्वरूप है, यह भी अन्यत्र कहा गया है । पूर्व को प्रकाश की धारणा की अपेक्षा इसमें यही विशेषता है । आनन्द से ही सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्द में ही विचरण करते हैं और आनन्द में ही लय हो जाते हैं । इस प्रकार की दृष्टि धारण करता हुआ मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है ॥ ६५ ॥

कुहनेन प्रयोगेण सद्य एव मृगेक्षणे ।
समुदेति महानन्दो येन तत्त्वं प्रकाशते ॥ ६६ ॥

'सद्य एव' विस्मयजनकः, 'कुहनप्रयोगः' अद्भुतमायाप्रयोगः, ऐन्द्रजालिक-रचितमायीयोद्यान-तत्स्थितचित्रकुसुमवृक्षादितत्स्थस्वात्मविहरणस्वाङ्गच्छेदन-पुनस्तत्संयोजनादि-अत्यद्भुतत्वजनककुहनप्रयोगदर्शने योगिनो निर्विकल्पावस्था तत्क्षणमेव भवेत् इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

अनुवाद—'हे मृगेक्षणे ! मायीव प्रयोगों के द्वारा जो तुरन्त महान् आनन्द उत्पन्न होता है, उससे (भी) परमतत्त्व प्रकाशित होता है ॥ ६६ ॥

व्याख्या—आश्चर्यजनक कुहनन प्रयोग अर्थात् मायिक प्रक्रियाएँ—'किसी मनुष्य के हाथ-पैर काटते हुए दिखलाना, काल्पनिक वृक्षों में पुष्पादि पुष्पित करना और अपने अंगों को काटकर पुनः जोड़ देना—ऐसे अद्भुत आश्चर्य उत्पन्न करने वाले प्रयोगों को देखने पर भी योगी को निर्विकल्पावस्था तत्क्षण प्राप्त हो जाती है ॥६६॥

अधुना प्राणापानगतिविच्छेदविधियोगाभ्यासकालेऽपि परमानन्दावाप्तिः स्वयमेव यदा भवेत् तदुपदेशम् आह—

सर्वस्रोतोनिबन्धेन प्राणशक्त्योर्ध्वया शनैः ।
पिपीलस्पर्शवेलायां प्रथते परमं सुखम् ॥ ६७ ॥

श्रोत्र-चक्षुर्नासा-मुख-गुह्योपस्थरन्ध्रनिरोधेन, आधारात् द्वादशान्तं यावद् ऊर्ध्वं क्रमेण वहन्त्या 'प्राणशक्त्या' द्वादशान्ते आत्मविषयानुभवसमये 'पिपीलस्पर्शवेलायां' पिपीलिकाया इव शनैः चरतः प्राणस्य यः 'स्पर्शः' जन्माग्रादिसकाशात् मूलकन्दादिस्थानस्पर्शः । तद्वेलायां हि योगिनः परीक्षन्ते—अमुतः स्थानात् उत्थाय अद्य अदः स्थानं प्राणः प्राप्तः इति । अत्र इयं योगशास्त्रप्रक्रिया श्रीभगवता पतञ्जलिना निगदिता—

'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः
परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।' (२।५०)

इति श्वासप्रश्वासयोः प्राणापानधर्मयोः या गतिः—पुरुषप्रयत्नम् अन्तरेण स्वाभाविकप्रवहणं, क्रमेण युगपच्च पुरुषप्रयत्नविशेषेण तस्या विच्छेदो निरोधः प्राणायामः । तस्मिन् सति—

'श्वासप्रश्वासयोः गतिविच्छेदलक्षणः प्राणायामः ।' (२।४९)

इति हि उक्तम् । बाह्यगतिनिरोधरूपत्वात् बाह्यवृत्तिः पूरकः, आन्तरगतिनिरोधरूपत्वाद् आन्तरवृत्तिः रेचकः । कैश्चित्तु बाह्यशब्देन रेचकः, आन्तरशब्देन च पूरको व्याख्यातः, युगपत् उभयगतिनिरोधः स्तम्भः, तद्वृत्तिः कुम्भकः । तदुक्तम्—'यत्र उभयोः श्वासप्रश्वासयोः सकृदेव विधारकात् प्रयत्नाद् अभावो भवति, न पुनः पूर्ववद् आपूरणप्रयत्नौघविधारणम्, नापि रेचनप्रयत्नौघविधारणम्, किं तु यथा तप्ते उपले निहितं जलं परिशुष्यत् सर्वतः सङ्कोचम् आपद्यते'—एवम् अयमपि मारुतो वहनशीलो बलवद्विधारकप्रयत्नावरुद्धक्रियः शरीर एव सूक्ष्मभूतोऽवतिष्ठते, न तु पूरयति येन पूरकः, न तु रेचयति येन रेचकः इति । त्रिविधोऽयं प्राणायामः 'देशेन, कालेन, सङ्ख्यया च

परीक्षितो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञो भवति' यथा घनीभूतस्तूलपिण्डः प्रसार्यमाणो विरलतया दीर्घः सूक्ष्मश्च भवति, तथा प्राणोऽपि देशकालसङ्ख्याधिक्येन अभ्यस्यमानो दीर्घो दुर्लक्षतया सूक्ष्मोऽपि सम्पद्यते। तथाहि—हृदयात् निर्गत्य नासाग्रसम्मुखे द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते देशे श्वासः परिसमाप्यते, तत एव च परावृत्त्य हृदयपर्यन्तं प्रविशन्ती स्वाभाविकी प्राणापानयोः गतिः, अभ्यासेन तु क्रमेण नाभेः आधारात् वा निर्गच्छति, नासान्तश्चतुर्विंशत्यङ्गुलपर्यन्ते षट्त्रिंशदङ्गुलपर्यन्ते वा देशे समाप्यते। एवं प्रवेशोऽपि तावान् अवगन्तव्यः। तत्र बाह्यदेशव्याप्तिः निवाते देशे इषीकादिसूक्ष्मतूलक्रियया अनुमन्तव्या, अन्तरपि पिपीलिकास्पर्शसदृशेन स्पर्शेनानुमन्तव्या,–सा इयं देशपरीक्षा। तथा निमेषक्रियावच्छिन्नस्य कालस्य चतुर्थो भागः क्षणः, तेषाम् इयत्ता अवधारणीया, स्वजानुमण्डलं पाणिना त्रिः परामृश्य छोटिकावच्छिन्नः कालो मात्रा, ताभिः षट्त्रिंशन्मात्राभिः प्रथम उद्घातो मन्दः, स एव द्विगुणीकृतो द्वितीयो मध्यः, स एव त्रिगुणीकृतः तृतीयः तीव्रः इति। नाभिमूलात् प्रेरितस्य वायोर्विरिच्यमानस्य शिरसि अभिहननम् उद्घातः इति उच्यते, सा इयं कालपरीक्षा। सङ्ख्यापरीक्षा च प्रणवजपावृत्तिभेदेन वा श्वासप्रवेशगणनया वा। यद्यपि कुम्भके देशव्याप्तिः न अवगम्यते, तथापि कालसङ्ख्याव्याप्तिः अवगम्यते एव। स खल्वयं प्रत्यहम् अभ्यस्तो दिवसपक्षमासादिक्रमेण देशकालप्रचयव्याप्तितया दीर्घः, परनैपुण्यसमधिगमनीयतया च सूक्ष्मः, प्राणस्य सूक्ष्मीभवनं मनःप्रशान्तिप्रयोजनं, मनःशान्त्या प्राणशान्तिः, प्राणशान्त्या विकल्पक्षयः इति कष्टयोगस्यापि निर्विकल्पदशाप्राप्तिः प्रयोजनम् इति अलम्। तदेतदुक्तम्—पिपीलस्पर्शवेलायां देशकालादिपरीक्षया परानन्दावाप्तिः इत्यर्थः ॥ ६७ ॥

अब प्राणापान की गति-विच्छेदन के अभ्यास से भी स्वयं परमानन्द-प्राप्ति हो जाती है, उस अभ्यास का उपदेश करते हैं—

अनुवाद—सम्पूर्ण (इन्द्रिय) छिद्रों का निरोध करके प्राणशक्ति को धीरे-धीरे ऊपर उठाना उस समय मूलकन्दादि स्थानों में जब चींटी की गति के समान स्पर्श होता है, तभी (साधक) परम सुख को प्राप्त होता है ॥ ६७ ॥

व्याख्या—श्रोत्र, चक्षु, नासिका, मुख, गुदा और उपस्थ (लिंग) आदि इन्द्रियों के छिद्रों को रोककर मूलाधार से द्वादशान्त पर्यन्त उर्ध्वगति से चलती हुई प्राणवायु की शक्ति द्वादशान्त में जाती है। उस समय चींटी की गति के तुल्य सूक्ष्म गति से चलता हुआ प्राणवायु मूलाधार से द्वादशान्तचक्र तक गति करता है। उस समय योगी को आभास होता है कि मेरा प्राणवायु अमुक चक्र से अमुक चक्र तक पहुँच चुका है। इस प्रकार योगशास्त्र की प्रक्रिया से श्वास-प्रश्वास के द्वारा बिना किसी पुरुष

प्रयत्न के प्राणवायु की गति स्वाभाविक क्रम से होती है। जब पुरुष स्वप्रयत्न से उसका निरोध करता है—उसे 'प्राणायाम' कहते हैं। वह बाह्यगति-निरोध रूप बाह्य वृत्ति है—उसे 'पूरक' कहते हैं तथा आभ्यन्तरगति-निरोध 'रेचक' कहलाता है। कुछ लोगों ने बाह्यगति-निरोध को 'रेचक' और आभ्यन्तरगति-निरोध को 'पूरक' भी कहा है तथा 'रेचक' 'कुम्भक' उभयगति-निरोध को 'कुम्भक' कहा है। यथा शास्त्रान्तरों में कहा है—'जहाँ श्वास-प्रश्वास दोनों की गति एक साथ धारण की जाय ऐसे प्रयत्न से जो श्वास-प्रश्वास का अभाव उत्पन्न होता है, न कि पहले की तरह पूरक प्रयत्न समूह के विधारण करने से अथवा रेचक प्रयत्न विधारण करने के प्रयत्न से। किन्तु जैसे तपे हुए पत्थर या लोहे पर रखा हुआ जल सूखकर सब ओर से संकोचता को प्राप्त होता है, उसी प्रकार यह प्रवहणशील वायु बलपूर्वक धारण करने के प्रयत्न से अवरुद्ध होकर शरीर के भीतर ही सूक्ष्म होकर स्थित रहता है। उस अवस्था में न तो यह 'पूरक' रहता है न 'रेचक'। तब वह कुम्भक कहलाता है।

इस प्रकार पूरक, कुम्भक और रेचक तीनों प्रकार का प्राणायाम देश, काल और संख्या से परीक्षित दीर्घ अथवा सूक्ष्म होता है। जैसे जमा हुआ रूई का गोला फैलाने पर विरल, दीर्घ अथवा सूक्ष्म हो जाता है, उसी प्रकार यह प्राणवायु भी देश, काल और संख्या की अधिकता से अभ्यास किया जाने पर दीर्घ अथवा सूक्ष्म हो जाता है तथा हृदय से निकल कर नासिकाग्र भाग के समक्ष द्वादश अंगुलपर्यन्त प्रदेश में समाप्त होता है। वहाँ से लौटकर हृदय-पर्यन्त प्रवेश करता हुआ वायु जब अपान रूप से भीतर उतरता है, अपानख को त्यागता है और अभ्यास के क्रम से नाभि के आधार चक्र से निकलता है तथा नासिका पर्यन्त, २४ अंगुल पर्यन्त अथवा ३६ अंगुल पर्यन्त देश में समाप्त होता है। इसी प्रकार प्रवेश के समय में भी उतना ही समझा जाना चाहिए। वहाँ पर बाह्यदेश में उसकी व्याप्ति निर्वात प्रदेश में अतिसूक्ष्म रूई के कण के सदृश उसका अनुमान करना चाहिए। इसी प्रकार आभ्यन्तर का भी चींटी के स्पर्श मात्र से इसका अनुमान किया जाना चाहिए। इस अनुमान करने का नाम 'देश-परीक्षा' है। इस प्रकार एक निमेष में होने वाली क्रिया के समान जो काल है उसका चतुर्थांश क्षण कहा जाता है तथा उन क्षणों के द्वारा इस प्राणवायु के निरोध के काल की गति का अनुमान करना चाहिए। अपने घुटने के मण्डल पर हाथ को तीन बार फिराया जाय, उतने समय का नाम 'छोटिका' है। जो छोटिकावच्छिन्न काल है वह मात्रा है तथा ३६ मात्राओं से उत्पन्न होने वाला प्रथमोद्घात 'मन्द' कहलाता है। वही 'मन्द' द्विगुणित किया तो वह मध्यम काल 'द्वितीय' कहा जायेगा। इस प्रकार त्रिगुणित मन्दकाल 'तृतीय' अर्थात् तीव्र कहलाता है। नाभिमूल से प्रेरित वायु का जब विरेचन किया जाय तो वह सिर में टकराता है। वह उद्घात कहलाता है। इस प्रकार यह काल परीक्षा है। तथा प्रणव जपादि के भेदवृत्ति से जो संख्या लगायी जाती है अथवा श्वास के प्रवेश की गणना से जो संख्या लगाई जाती है वह भी एक प्रकार की 'काल-परीक्षा' ही है।

यद्यपि 'पूरक' तथा 'रेचक' की संख्या की परीक्षा उक्त प्रकार से परिगणित हो सकती है, तथापि कुम्भकावस्था में उसकी व्याप्ति का आभास होना असंभव है; फिर भी काल की व्याप्ति की संख्या का ज्ञान अवश्य होता है। वह प्रतिदिन अभ्यास करने पर दिन, पक्ष, मासादि क्रम से देश, काल, समुदाय की व्याप्ति से दीर्घ और परम निपुणता के अवगमन से सूक्ष्म समझा जाता है। प्राण का सूक्ष्म होना मन को शान्ति देने का प्रयोजन है। मन की शांति से प्राण की शांति होती है और प्राण की शांति से विकल्प क्षय होते हैं। यह कष्ट योग भी निर्विकल्प अवस्था प्राप्ति का कारण हो सकता है। पिपीलिका स्पर्श तुल्य समय में देशकालादि की परीक्षा के समय परमानन्द की प्राप्ति होती है। ऐसा शास्त्रों में भी कहा गया है तथा भगवान् पतंजलि ने भी कहा है ॥ ६७ ॥

मध्यविकासकारणं शक्तिसङ्कोच-शक्तिविकासोपायम् आह—

वह्नेर्विषस्य मध्ये तु चित्तं सुखमयं क्षिपेत् ।
केवलं वायुपूर्णं वा स्मरानन्देन युज्यते ॥ ६८ ॥

अनुप्रवेशक्रमेण सङ्कोचभूमिः वह्निः, नासापुटोर्ध्वस्पन्दनक्रमोन्मिषत्सूक्ष्म-प्राणशक्त्या भ्रूभेदनक्रमासादितोर्ध्वकुण्डलिनीपदे तद्विश्रान्तिरूपसङ्कोचस्थानं विषस्थानं प्रसरयुक्त्या विकासपदम्। अधः कुण्डलिन्यां षष्ठवक्त्रगुह्याधार-रूपायां प्राणशक्ति प्रगुणीकृत्य, प्रसररूपो विकासः तन्मूल-तदग्र-तन्मध्यभूमि-स्पर्शावेशः। अनयोः वह्निविषयोः मध्ये–मध्यनाड्यां सृष्टिग्रन्थिभूतायाम् आनन्दमयं मनः भावनया क्षिपेत्–चिन्तयेत्। वायुनिर्गमप्रवेशधारणां विहाय मध्यभूते उन्मेषभट्टारके तन्निर्गमप्रवेशकारणे तद्द्वयैकानुसन्धात्रात्मके तद्धार-णया आनन्दमयं चित्तं क्षिपेत्। केवलम् आरोहावरोहविषयसम्बन्धरहितं वायुपूर्णं च मध्यनाडीस्थिताक्रमोच्चारानच्चकलात्मकप्राणशक्तिभरितं च। ततः स्मरानन्दमयो भवेत्, स्मरानन्देन कामानन्देन युज्यते। सर्वविषयविस्मार-कारणत्वात् कामानन्दस्य आनन्दान्तरेभ्यः परत्वम्।

यद्वा, वह्निः मेढ्रात् ऊर्ध्वं नाभ्यधोऽङ्गुलानां चतुष्टये अग्निर्नाम पवना-धारः षोडशपवनाधारमध्ये गणितः। विषनामा पवनाधारो मेढ्रमध्ये ज्ञेयः। तयोः पवनाधारयोर्मध्ये सुखमयचित्तनिक्षेपणम्। श्रुतमतप्रकारैव भावना कर्तव्या इति हि योगिसम्प्रदायः। ततः कामानन्दावाप्तिः। षोडशाधारास्तु कुलाम्नाये कथिताः—

'मेढ्रस्याधः कुलो ज्ञेयो मध्ये तु विषसंज्ञितः।
मूले तु शाक्तः कथितो बिन्दुनादप्रवर्तकः॥

अग्निसंज्ञस्ततश्चोर्ध्वमङ्गुलानां चतुष्टये ।
नाभ्यधः पवनाधारो नाभावेव घटाभिधः ।।'

इत्यादि । इयं स्थानध्यानाश्रया आणवी भूः ।। ६८ ।।

अब मध्य विकास के कारण संकोच विकासादि उपायों को बताया जा रहा है—

अनुवाद—आग और विष के बीच चित्त को आनन्दमय अथवा केवल वायुपूर्ण बनाये रखना (चित्त की यह अवस्था) कामजन्य आनन्द के लिए उपयुक्त नहीं है ।। ६८ ।।

व्याख्या—जहाँ नासापुट से प्राणवायु के निर्गम और प्रवेश के द्वारा भ्रूचक्र के भेदन के लिए उठती हुई 'कुण्डलिनी' का संकोच स्थान है और जहाँ जाकर कुण्डलिनी विश्राम करती है, उसे 'विषस्थान' कहते हैं तथा नीचे की ओर छठे मुँह आधारचक्र के भीतर प्राणशक्ति प्रगुणित होकर प्रसरण करने लगती है, उस मूलाधार चक्र का भाग और उसके मध्य भूमि में जहाँ-जहाँ स्पर्श का अनुभव होता है, उसका नाम 'वह्नि स्थान' है । इस प्रकार वह्नि और विषय के मध्य भ्रूचक्र के भीतर जहाँ 'सृष्टिनाड़ी' का मध्य है, उस 'सृष्टि ग्रन्थिभूत चक्र' में आनन्दमय मन को भावना के द्वारा चिन्तन करने से केवल आरोह-अवरोह विषय से सम्बन्धित वायु से परिपूर्ण मध्यनाड़ी में स्थित अच्-कला से रहित और प्राणशक्ति से परिपूर्ण उस स्थान के स्मरण से मनुष्य कामानन्दमय हो जाता है । उसे ही 'परानन्द' कहा जाता है । सम्पूर्ण विषयों को विस्मरण कराने के कारण ही यह कामानन्द दूसरे विषयों से परे माना गया है । अथवा लिंग से ऊपर और नाभि से नीचे चार अंगुल जो पवन का आधार स्थल है, उसी का नाम 'अग्नि' है । जो सोलह वायु के आधारों का मध्य गिना गया है, और जो लिंग के मूल में वायु का आधार है, उसको 'विषस्थान' कहते हैं । इन दोनों 'वायु' के मध्य सुखमय चित्त की धारणा के द्वारा चिन्तन करने से कामानन्द की प्राप्ति होती है ।

ये सोलह आधार 'कुलामनाय' नामक ग्रन्थ में इस प्रकार निरूपित किये गये हैं—लिंग के नीचे 'कुल' है और मध्य में 'विष', मूल में शाक्तचक्र जो बिन्दु और नाद का प्रवर्तक है । अग्निचक्र इससे चार अंगुल ऊँचा है, जो नाभि के पवन का आश्रय है । वही नाभि के भीतर घट के नाम से अभिहित किया जाता है । यह 'स्थान ध्यानाश्रय नामक आणवी भूमिका' है । ऐसा योगियों का सम्प्रदाय है ।।६८।।

शक्तिसङ्गमसङ्क्षुब्धशक्त्यावेशावसानिकम् ।
यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं स्वाक्यमुच्यते ।। ६९ ।।

शक्तिसङ्गमः स्त्रीसङ्गः, तेन सङ्क्षुब्धः सम्प्रवृत्तः, शक्त्यावेशः आनन्दशक्तिसमावेशः, तदावसानिकं तत्पार्यन्तिकम् ।

'न सृष्टिर्जायते लिङ्गान्न भगान्नापि रेतसः।
आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना ॥'

इति उक्तरीत्या स्त्रीसङ्गानन्दाविर्भूतानन्दशक्तिसमावेशान्ते यत् घण्टचनुरणनरूपं ब्रह्मतत्त्वस्य सुखं परब्रह्मानन्दः, त्यक्तस्त्रीपुरुषद्वैतपर्यालोचनं स्वात्ममात्रनिष्ठं, तत् सुखं स्वकमेव स्वाक्यम् (स्वार्थे ष्यञ् चातुर्वर्ण्यत्रैलोक्यादिवत्) आत्मन एव सम्बन्धि, न अन्यत आयातं भावयेत्। स्त्रीसङ्गस्तु अभिव्यक्तिकारणमेव, यतः स्वक एव स आनन्दः, ततश्च स्त्रीसङ्गेन य आनन्दः अनुभूयते तामेव स्त्रियं ध्यात्वा आनन्दमयो भवेत् इति भावः। उक्तञ्च—

'जायया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तरम्।
निदर्शनं श्रुतिः प्राह मूर्खस्तं मन्यते विधिम् ॥'

इति। विश्वस्फुरणशक्तिसङ्गमसङ्क्षुब्धा या चिच्छक्तिः तस्या य आवेशः इति केचित् ॥ ६९ ॥

अनुवाद—स्त्री-संग से संक्षुब्ध शक्ति के आवेश पर्यन्त जहाँ आनन्दशक्ति का समावेश होता है, वहाँ तक जो ब्रह्मतत्त्व के सदृश सुख मनुष्यों को होता है, वह सुख भी आत्मा का ही है ॥ ६९ ॥

व्याख्या—स्त्री-संग से संक्षुब्ध होकर, आनन्दशक्ति के समावेश पर्यन्त जो सुख उपलब्ध होता है, वह सुख भी आत्मानन्द रूप ही है। इसीलिए कहा भी है—'न तो सृष्टि लिंग से उत्पन्न होती है और न भग से और न ही वीर्य से, किन्तु आनन्दोल्लास से उल्लसित शक्ति अपने आप आत्मा से ही आत्मा का सृजन करती है। स्त्री-संग तो केवल उसकी अभिव्यक्ति का कारण है। अतः स्त्री-संग से जिस आनन्द का अनुभव होता है (उस स्त्री के बिना भी) उसी स्त्री का ध्यान कर आनन्दमग्न हो जाओ। कहा भी है—'स्त्री के आलिंगन करने पर न तो मनुष्य बाह्य वस्तु को जानता है न आन्तरिक वस्तु को। इस प्रकार बाह्य-आभ्यन्तर शून्य होने का नाम ही विवाह-विधि है'—ऐसा वेदों में कहा गया है। जो बाह्य विधि को विधि मानते हैं, वे मूर्ख हैं ॥ ६९ ॥

लेहनामन्थनाकोटैः स्त्रीसुखस्य भरात्स्मृतेः।
शक्त्यभावेऽपि देवेशि भवेदानन्दसम्प्लवः ॥ ७० ॥

लेहनं वक्त्रासवास्वादनं, परिचुम्बनम् इति यावत्। मन्थनं प्रधानाङ्गविलोडनम् आलिङ्गनं वा। आकोटः पुनः पुनर्मर्दनं नखक्षतादि वा। शक्त्यभावः स्फुटस्त्र्यादीनां कारणानामभावः। शक्त्यभावेऽपि इत्यनेन स्वकीय एव स आनन्दः तत्सम्मुखीभावेन आयातो, न पुनः तत्र स्त्री कारणम् इति स्वयमेव आत्मानं सानन्दमयं ध्यायेत् इत्यर्थः। लेहनाद्यैः स्त्रीसुखस्य स्मरणभरात्

आनन्दः इति । भरात् स्मर्यमाणो हि स स्पर्शः तत्स्पर्शक्षेत्रे च मध्यमाकृत्रिम-पराशक्तिनालिकाप्रतिबिम्बितः उन्मुखशाक्तस्पर्शाभावेऽपि तदन्तर्वृत्तिशाक्त-स्पर्शात्मकवीर्यक्षोभकारी भवति इति अभिनवगुप्तपादाः ॥ ७० ॥

अनुवाद—हे देवेशि ! लेहन (मुखासव का आस्वादन), मन्थन (आलिंगन), अकोट (पुनः पुनः मर्दन, नख क्षतादि) आदि स्त्री के साथ (पूर्वानुभूत) सुख के स्मरण से स्त्री के अभाव में भी सुख की बाढ़ आ जाती है ॥ ७० ॥

व्याख्या – यह स्मरण मात्र से अनन्त शक्ति (पराशक्ति) के प्रतिबिम्ब होने के कारण ही शक्ति के स्पर्शाभाव में भी अन्तर्वृत्ति से कल्पित शक्ति का स्पर्श करना वीर्य क्षोभ का कारण होता है, और उससे प्राप्त होने वाला आनन्द भी आत्मानन्द ही है । ऐसा 'अभिनवगुप्तपाद' का मत है ॥ ७० ॥

आनन्दे महति प्राप्ते दृष्टे वा बान्धवे चिरात् ।
आनन्दमुद्गतं ध्यात्वा तल्लयस्तन्मना भवेत् ॥ ७१ ॥

स्फुटस्त्र्यादिशक्तिभावे सति महानन्दप्राप्तिः इत्यर्थः । दारिद्र्याद्युपद्रुतस्य कस्यचिद् अनन्तनिष्कण्टककोशप्राप्तेः महान् आनन्दः तस्मिन् प्राप्ते सतीत्यर्थः । चिरकालं प्रवासात् आगते इष्टे बान्धवे पुत्रमित्रादौ प्राप्ते सति आनन्दम् उद्गतं ध्यायेत्, उद्गतमात्रमेव गृहीत्वा तद्ध्यानान्तर्मनस्कत्वेन आनन्दे एव विश्रान्तः स्याद् इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

अनुवाद—(अकस्मात् प्रभूत धन पाने पर दरिद्र व्यक्ति भी) महान् आनन्द की प्राप्ति होने पर अथवा चिरकाल के बाद बन्धु-बान्धव के मिलन से उत्पन्न होने वाले आनन्द का ध्यान कर तल्लीन एवं तन्मय हो जाता है ॥ ७१ ॥

जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात् ।
भावयेद्दुरितावस्थां महानन्दस्ततो भवेत् ॥ ७२ ॥

क्षुदतिशयनिवर्तकयत्किञ्चिन्मात्रभक्ष्यादिभक्षणं जग्धिः, पिपासातिशय-निषेधकशीतलजलादेः मधुरक्षीरादेर्वा आस्वादनं पानं, ताभ्यां प्रतिग्रासं प्रतिसिक्तं प्रतिबिन्दु तुष्टिपुष्टिक्षुन्निवृत्त्याख्यकार्यत्रयहेतुभ्यां कृता ये उल्लासरसानन्दाः, करचरणादीनां स्वाङ्गानां स्पर्शनादिविमर्शनेन उच्चैः द्योतनम् उल्लासः, सर्वासु स्थूलसूक्ष्मगर्भनाडीषु शुष्कताया अभावे स्नेहार्द्रतालक्षणो रसः, भोजनाद्यभावे हि नाडीनां रूक्षता जायते, तद्भावे तु रसवितननम्, तदनन्तरम् आनन्दः, अहंविमर्शसञ्चेतनं रसरूपो वा आनन्दः इति वा ।

'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।'

इति श्रुतेः, तस्य 'विजृम्भणात्' सर्वगात्रविषयविकसनात् हेतोः स्वदेह-पूर्णतादशां भावयतो महानन्दप्राप्तिः इत्यर्थः। ये तु रसनीयवीरद्रव्यपानाव-दंशचर्वणादिना आनन्दविकासात् भरितावस्थाम् अभिदधति, तत्र अत्युन्माद-विधायिभावकवलने स्वानन्ददशावमर्शनविषये सहृदया एव प्रमाणम् इति त एव प्रष्टव्याः,–तादृग्दशायां तत्त्वचिन्ता किम् अस्ति इति। यदि पुनः तत्रापि तेषाम् अवहितचित्तत्वं भवेत् तर्हि तेऽतिधन्याः सर्वपूज्याः सर्वनमस्कार्या महा-चाराः इति तान् न निन्देत्, किं तु नमस्येत्।

'न निन्देदथ वन्देत वीरद्रव्यपरान्नरान्।'

इत्युक्तेः ॥ ७२ ॥

अनुवाद—भोजन और पान से उत्पन्न उल्लास, रस और आनन्द के विजृम्भण से पूर्णता की अवस्था की भावना करे, उससे महान् आनन्द होगा ॥ ७२ ॥

व्याख्या—भूख तथा प्यास की निवृत्ति करने वाले भक्ष्य, भोज्य, लेह, पेय और चोष्य अन्नादि तुष्टि, पुष्टि और क्षुत से निवृत्त होकर के शरीर में रस का वर्द्धन कर आनन्द उत्पन्न करते हैं और नाड़ियों की रूक्षता मिट जाती है। इसी प्रकार यदि मनुष्य सांसारिक भोग में आसक्त रह कर भी उस रसमय परमात्मा की आन-न्दावस्था (जिसे भरितावस्था कहते हैं) को प्राप्त कर लेता है, तो उस वीर का वह पान भक्ष्य और चर्वण भी परमात्मा की भरितावस्था को प्राप्त करने में समर्थ होने के कारण धन्य व स्तुत्य है। इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है—'वीर पुरुषों के मद्यपान करते हुए और विषयासक्त रहते हुए भी उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिए, प्रत्युत प्रशंसा ही करनी चाहिए। उपनिषदों में भी 'रस' के सम्बन्ध में ऐसा ही कहा गया है ॥ ७२ ॥

गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता ॥ ७३ ॥

गीतं गायनम्—ऊर्ध्वमध्याधोग्रामत्रयस्थस्वरावृत्त्या उच्चारणं, हालाक-पाठकनिर्वर्तितं शब्दनम् इति यावत्, आदिशब्देन स्पर्शरूपरसादिग्रहणम्, तेन शब्दादिविषयाणां यत् आस्वादनं श्रवणेन्द्रियवृत्त्या गीतशब्दग्रहणं तच्चमत्क-रणम्, एवम् अतिसुन्दररूपवद्दर्शनचमत्कारः, तथा मधुरादिरसचर्वणास्वादः, तस्मात् हेतोः यत् असमम् अनुपमं–स्वानुभवगम्यं सौख्यम्, तेन या एकता, तद्रूपः आत्मा यस्य योगिनः, तस्य मनोरूढेः हेतोः यत् तन्मयत्वं–शाक्तस्पर्शा-वेशः, तेन हेतुना तदात्मता–परब्रह्ममयत्वापत्तिः। एषापि शाम्भवी भूः ॥७३॥

अनुवाद—संगीतादि विषयों के आस्वाद के अनुपम आनन्द से एकरूप योगी

का तन्मय होने से होने वाली मानस स्थिरता के कारण शिवात्मकता हो जाती है ॥ ७३ ॥

यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत् ।
तत्र तत्र परानन्दस्वरूपं सम्प्रवर्तते ॥ ७४ ॥

मनस्तुष्टिः इति मनसः प्रमोदः, न तु मनःक्षोभो वक्ष्यमाणः । यस्मिन् यस्मिन् वस्तुनि मनोहरे कामिनीवदनकमलादौ मनः सज्जते, तत्रैव धारयेत् स्थिरं कुर्यात् मनः, न तु मनोनियमनम् अकृत्वा नानाविधविकल्पक्षोभैः स्वात्मानं योगारूढत्वदशाया अधः पातयेत् । मनसो धारणमपि इत्थं कामादिक्षोभं प्रशमय्य, अत्र नितम्बिनीसुन्दरकायमन्दिरे 'चिदानन्दात्मकः शिवोऽहम् अस्मि, ममैव इयं भङ्गिः' इति यथाशक्ति, न पुनः केवलकामपरतन्त्रतया करचञ्चत्कुचपरपरिमर्दन-पेशलकोमलकुन्तलकर्षणललनाविरचितचक्षुःकूणन-बाहूद्धूनन-सीत्कृतिबोधन-त्वरितसभाजन-मानन-स्वरचितवेणीग्रहण-वशीकृत-पश्चात्ग्रीवानवरतप्रेङ्खोलनसन्दर्शन-प्रसृतोत्क्षेपण-करनखलेखन-रदनोद्वर्तितमञ्जुकपोलद्वन्द्वोच्चुम्बन-सक्थिश्लेषण-स्वप्रोथद्वयपृथुलविघट्टन-श्यामारक्ताधरभव-षष्ठवर्णप्लुतसम्बोधन-दीपितमन्मथवह्निचुट्टङ्कितप्रजननतेजन-यष्टि-प्रक्षेपण-सङ्घट्टन-रेतःसिञ्चनपर्यन्तक्षोभविधानेन आत्मानं गर्ते पातयेत् । यदुक्तम् अत्रैव अग्रे—

'कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यगोचरे ।
बुद्धिं निस्तिमितां कृत्वा····· ॥'

इति कामादिक्षोभं स्वात्मनि प्रशमय्य, एकाग्रां निश्चलां मतिं विधाय, तत् तत्त्वं सामान्यस्पन्दात्मकं प्रत्यवभ्रष्टुम् अवशिष्यते इति भावः । तत इह मनस्तुष्टिः इति मनो नियच्छेत् इति च सूक्तम् । अन्यथा तु तत्रभवज्जगद्गुरुवासुदेववचनव्याघातापत्तेः । यथा—

'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥'

(गीता अ० १६ श्लो० २१-२२)

इति । तथा—

'यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ।' (१।९)

इति स्पन्दोपदेशानर्थक्यापत्तेश्च । रूपातिशयं दृष्ट्वापि स्वशक्त्यनुसारेण पूतः असक्तो भवेत्, न तु अपवित्रः । मुमुक्ष्वभिप्रायेण अयम् अर्थो निर्वाहितः ।

मुक्तानां तु एवंविधक्षोभकल्लोलोदयदशा नैव भाविनी, तेषां समाधिषट्क-परिपाकलब्धनित्यसमाधिसाक्षात्कारः। समाधिषट्कलक्षणम् अग्रे व्याख्यास्यामः। सप्तमश्च नित्यसमाधिसाक्षात्काररूपः। समाधिश्च व्याख्यास्यते, एतदभिप्रायेण अग्रे वक्ष्यति—

'यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाऽभ्यन्तरेऽपि वा।
तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति॥'

तथा—

'चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः।'

इति।

'देहेऽपि विस्मृते यस्य चिद्विमर्शस्य भावनात्।
महात्मनो विरक्तस्य भोगासङ्गो न रोचते॥'

इति उक्तत्वात् देहाभिमान एव भोगासक्तिजनकः, मुक्तस्य तु तदपायात् भोगविषयारुचिरेव, यदि कदाचित् तस्यापि प्रारब्धकर्मशेषवशात् जातु अपि सम्भवेत्, तत् कादाचित्कमेव जगति, न तु सर्वत्र प्रायिकम् इति न कश्चिद् दोषः॥ ७४॥

अनुवाद—जहाँ-जहाँ मन को संतोष प्राप्त होता है, वहीं धारणा के द्वारा मन को लगाना चाहिए; वहीं परमानन्द का स्वरूप प्रकाशित होता है॥ ७४॥

व्याख्या—जहाँ-जहाँ सुन्दर वस्तु पर मन जाता है, उसे वहीं स्थिर करके—'यह मैं सुन्दर रूप में शिवस्वरूप दिखलाई दे रहा हूँ' ऐसी धारणा करनी चाहिए अर्थात् शय्या पर आई हुई स्त्री के हाव, भाव, कटाक्ष तथा शारीरक सौन्दर्य में भी साधक को—'यह मैं परम शिव इस रूप में कितना सुन्दर आनन्दमयी बना हुआ हूँ' इस प्रकार की भावना से मन को स्थिर करना चाहिए, न कि विक्षोभ उत्पन्न कर मन में चाञ्चल्योत्पत्ति को अवसर देना चाहिए। इससे मन संतुष्ट होकर शांति प्राप्त करेगा। यदि साधक ऐसी धारणा नहीं करेगा, तो फिर भगवान् कृष्ण द्वारा बतलाये हुए 'घोरनरक' में गिरने से कभी नहीं बच पायेगा। जैसा कि कहा है—'काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं और आत्मा का विनाश करने वाले हैं। हे कौन्तेय! इन तीनों अंधकार द्वारों से वर्जित मनुष्य ही अपनी आत्मा का कल्याणप्रद मार्ग ढूँढ़ सकते हैं और उस पर चलते हुए स्वात्मकल्याण साधन कर सकते हैं।

अतः पूर्वोक्त प्रकार से कामिनी के हाव-भाव मे भी ईश्वर का ही सौन्दर्य प्रकट हो रहा है। इस प्रकार मन को स्थिर कर जब चित्त का विक्षोभ शांत हो जाता है, तो मनुष्य परमपद को प्राप्त कर लेता है। ये सब साधन मुमुक्षु के निर्वाह हेतु बतलाए गये हैं। मुक्त पुरुषों के लिए तो ऐसी अवस्था ही सामने नहीं आती, क्योंकि उनके मन में विक्षोभ की लहरें ही उत्पन्न नहीं होती। उनके मन में तो छः प्रकार की

समाधि का परिपाक हो जाने के कारण साक्षात्कार रूप सप्तम समाधि प्राप्त हो जाने पर मन के सारे विक्षोभ शांत हो जाते हैं। इन छः प्रकार की समाधियों का वर्णन हम आगे करेंगे। इसी अभिप्राय से आगे कहा जायेगा—'जहाँ-जहाँ मन जाता है, चाहे बाहर जाए या आभ्यन्तर जाए, उन सभी स्थानों पर व्यापक शिवावस्था का चिन्तन करना चाहिए। उस व्यापक अवस्था से अतिरिक्त कोई स्थान ही नहीं है, तो फिर मन अन्यत्र जायेगा कहाँ? क्योंकि जब सब कुछ शिवमय है, तो उसके लिए चलकर जाने के लिए अन्यत्र कोई स्थान ही नहीं है। देह विस्मृति होने पर भी चैतन्य विमर्श की भावना के कारण उस विरक्त महात्मा को भोग की आसक्ति अच्छी नहीं लगेगी।' ऐसा आचार्यों ने कहा है कि देहाभिमानियों को ही भोगासक्ति होती है। मुक्त पुरुष में तो देहाभिमान न होने के कारण भोग विषय की रुचि ही उत्पन्न नहीं होती। कदाचित् किसी योगी के प्रबल प्रारब्ध कर्म शेष रह जाने के कारण भोगासक्ति हो जाय तो वह अपवाद स्वरूप ही है। परमार्थतः योगी भोगासक्ति रहित ही होते हैं ॥ ७४ ॥

अनागतायां निद्रायां प्रणष्टे बाह्यगोचरे।
सावस्था मनसा गम्या परा देवी प्रकाशते ॥ ७५ ॥

अनागतायां निद्रायां-चित्तवृत्तेः तमश्छादने, बाह्ये च विषयपञ्चके विनष्टदर्शने, या अवस्था निरावरणा मध्येऽस्ति, सा मनसा गम्या-स्वसंविदवष्टम्भस्वीकार्या, तथा सति सैव परादेवीत्वेन भाति इति एषापि शाम्भवी भूः।

तथा च वासिष्ठे दर्शने—

'निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपजायते।
तं भावं भावयन्साक्षादक्षयानन्दमश्नुते ॥'

इति ॥ ७५ ॥

अनुवाद—निद्रा के न आने पर तथा बाह्य विषयों का दर्शन नष्ट हो जाने पर जो मनोगोचर अवस्था है, वही परादेवी के रूप में प्रकाशित होती है ॥ ७५ ॥

व्याख्या—यह शांभवी भूमिका है। यथा वासिष्ठ दर्शन में भी कहा गया है—'निद्रा के आदि में तथा जाग्रतावस्था के अन्त में जो भाव उत्पन्न होते हैं, उस भाव का चिन्तन करता हुआ मनुष्य साक्षात् अक्षय आनन्द का अनुभव करता है ॥७५॥

बाह्यसूर्यादितेजश्छुरिताकाशालम्बनाम् आणवीं ध्यानभूमिम् आह—

तेजसा सूर्यदीपादेराकाशे शबलीकृते।
दृष्टिर्निवेश्या तत्रैव स्वात्मरूपं प्रकाशते ॥ ७६ ॥

दिवसे ऊर्ध्वाधःस्थबाह्यमहाकाशे दिनातपप्रकाशेन कर्बुरीभूते, रात्रौ चन्द्रज्योत्स्नया शवले चन्द्रमण्डलान्तः तद्बाह्ये च महाकाशे, तथा गृहैकदेश-स्थदीपमण्डलान्तर्बहिर्व्यापके कोष्ठाकाशे—तज्ज्वालाप्रकाशेन चित्रे दृष्टिं बद्ध्वा निर्निमेषदृष्टिबन्धनसतत्त्वसंयमात् स्वात्मरूपम्—स्वस्वरूपं सर्वं भुवन-जातं चिद्घनाकारं ज्ञानदृष्ट्या पश्यति। तथाहि आह भगवान् पतञ्जलिः—

'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' (पा० ३ सू० २५)

'चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्' (पा० ३ सू० १६)

इति। तेजश्छुरितत्वं विना केवलनिर्मलाकाशमात्रालम्बनम्। दृष्टिबन्धनं तु अग्रे वक्ष्यति—

'आकाशं विमलं पश्यन् कृत्वा दृष्टिं निरन्तराम्।'

इति। यद्वा सूर्यादिसंयमकालेऽपि स्वस्वरूपचिदाकाशैकीभाव एव स्वात्म-रूपप्रकाशनं, तदेव हि मुख्यं फलम् उपादेयतमत्वात्, भुवनादिज्ञानं तु अवान्तर-फलं धारणायाः, इत्यलम्॥ ७६॥

अनुवाद—सूर्य तथा दीपक आदि के तेज से चित्रित आकाश में दृष्टि को लगाना चाहिए। वहीं स्वात्म स्वरूप प्रकाशित होता है॥ ७६॥

व्याख्या—साधक दिन में ऊपर या नीचे स्थित बाह्य महाकाश में आतप के प्रकाश से चितकबरा होने पर तथा रात्रि में चन्द्रमा की चाँदनी से चन्द्रमण्डल के भीतर और बाहर महाकाश में शवलित होने पर, तथा घर के एक देश में रखे हुए दीपमण्डल के अन्दर व बाहर व्यापक कमरे के आकाश में उसकी ज्वाला के प्रकाश से प्रकाशित चित्र पर दृष्टि को बाँधने से निर्निमेष दृष्टि बँधन करके तत्त्व पर संयम करने से स्वात्मरूप सर्वभुवनत्रय को चैतन्याकाश में ज्ञान दृष्टि से देखता है। जैसा कि भगवान् पतंजलि ने अपने योगसूत्र में कहा है—'सूर्य में संयम करने से त्रिभुवन का ज्ञान तथा चन्द्र में संयम करने से ताराव्यूह का ज्ञान। इस प्रकार तेज के अभाव में भी केवल निर्मल आकाश मात्र में दृष्टि-बंधन कर धारणा करने का उपाय आगे बतलाया जायेगा—वस्तुतः तो निर्मल आकाश में ही धारणा करनी चाहिए। जिससे आकाश से भी व्यापक शिवतत्त्व का साक्षात्कार होगा।' किसी-किसी आचार्य का तो यह मत है कि सूर्य, चन्द्र और दीपक में धारणा करने पर भी उस धारणा के साथ महाकाश की धारणा को भी साथ ही करनी चाहिए, जिससे चिदाकाश की भावना के कारण आत्मप्रकाश होगा। यह आत्मप्रकाश प्राप्त करना ही भावना बंधन का मुख्य उद्देश्य है। भुवनत्रयादि ज्ञान तो इसके अवान्तर फल हैं। धारणा का मुख्य फल तो आत्मसाक्षात्कार करना ही है॥ ७६॥

करङ्किण्या क्रोधनया भैरव्या लेलिहानया।
खेचर्या दृष्टिकाले च परावाप्तिः प्रकाशते॥ ७७॥

करङ्किण्या–विगतचेष्टं करङ्कमात्रं शवमिव विश्वं पश्यन्त्या, क्रोधनया–क्रोधव्यग्रया, भैरव्या–दृक्शक्त्या, लेलिहानया–भोक्तुमेकाग्रया, खेचर्या—दूरम् आकाशदर्शनार्थं प्रसृतया मुद्रया उपलक्षिते दृष्टिसमये परादेवीप्रकाशनम्, श्रीव्योमेशी-वामेश्वरी-इत्यादिशब्दवाच्यायाः निष्कलादेव्याः सात्म्यम् । पाञ्चभौतिकं शरीरं परमाकाशे या विश्रामयति सा करङ्किणी इति ज्ञानसिद्धानां मुद्रा, चतुर्विंशतितत्त्वकं मान्त्रे वपुषि या क्रोडीकरोति सा क्रोधिनी इति मन्त्रसिद्धानां मुद्रा, स्वस्मिन् या सर्वं संहरते सा भैरवी इति मेलापसिद्धानां मुद्रा, पूर्णत्वेन या सर्वं पुनः पुनः आस्वदते सा लेलिहाना इति शाक्तसिद्धानां मुद्रा, शक्तिव्यापिन्यादिषु खेषु सदा चरति या सा खेचरी इति सा शाम्भवसिद्धानां मुद्रा । तदुक्तम्—

'करङ्किणी क्रोधिनी च भैरवी लेलिहानिका ।
खेचरी चेति मुद्रा याः पञ्चात्मकतया स्थिताः ।।
यो ज्ञानमन्त्रमेलापशाक्तशाम्भवभेदतः ।
क्रमस्तस्य यथा सङ्ख्यमेताभिः सर्वथान्वयः ।।'

इति । करङ्को–देहः, करङ्कानुभवात् करङ्किणी । स्वात्माधारसम्भवात् क्रोधिनी । स्वरूपसंहरणात् भैरवी । वासनात्मकपुर्यष्टकविलापनात् लेलिहाना । निरावरणत्वेन बोधगगनस्वरूपप्रतिष्ठानात् खेचरी ।

'इयं सा परमा मुद्रा ह्यापातालाच्छिवावधि ।
तर्पयित्वा जगत्सर्वं निजसंस्थानतः स्थिता ।।'

इति । निष्क्रयानन्दनाथस्तु कराङ्किण्या इति पठति । यथा—

'करास्त्रयोदशाकाराः सर्वाक्षक्षोभवृत्तयः ।
अङ्कं तु निर्निकेतायाः संविदो देहविस्तरः ।।
एतत्कराङ्कमाख्यातं तस्य ग्रासादनावृतम् ।
निष्करङ्कं समुद्दिष्टं निरालम्बं परं वरम् ।।'

इति । एतद्विस्तरस्तु यथा—प्रथमनभःसमुद्रात् महाकौलात् अकुलरूपिणी या शक्तिलहरी परेण रूपेण गदिता, सैव सूक्ष्मेण रूपेण अकुलात् कुलपञ्चकरूपतया क्रमेण आश्यानतां प्राप्ता सती एकैव श्रीव्योमेश्वरी, निष्कलापि सकलस्वरूपेण रमणशीला त्रिजगति वृन्दचक्रपर्यन्ते सदैव आद्या सर्वकालं स्फुरति, स्फार्यमाणापि एकैव स्थिता, सैव ईषद्विकस्वरत्वेन परमनभःसमुद्रात् मयूराण्डरसवत् खेचर्यादिचतुष्टयं गर्भीकृत्य प्रथमतरस्पन्दरूपा लहरी श्रीवामेश्वरी प्रसृता, इयमेव आदिकोटिः, दिव्यौघचक्रपञ्चकस्फारिणी वृन्दचक्रनायिका श्रीवामेश्येव सर्वं सर्वात्मकम्--इति न्यायात् वृन्दचक्रे पञ्चधा पातनिकाक्रमेण

शाम्भव-शाक्त-मेलाप-मन्त्र-ज्ञानभेदात्मकेन श्रीवामेशी-खेचरी-भूचरी-संहारिणी-रौद्रचधिष्ठितेन चतुःषष्टियोगिनीरूपा। ताश्चतुःषष्टियोगिन्योऽभेदेन यत्र वर्तन्ते सा रौद्रेश्वरीभूमिगता पञ्चषष्टितमा सर्वमङ्गलमङ्गला राज्ञी भगवती, सैव परधाराधिरूढा सामरस्यभूः। तद्यथा--आदिवर्णस्वराः षोडशस्वरत्वेन ज्ञानसिद्धाः, कादि-मकारपर्यन्तं व्यञ्जनपञ्चविंशकं मन्त्रसिद्धाः, द्वादशधा स्वरव्यञ्जनमिश्रिता मात्राः प्रणवकला वा मेलापसिद्धाः, यकारादि हकार-पर्यन्तम् अष्ट शाक्तसिद्धाः, आदिवर्णस्य रौद्रचन्ताः कलाः चतस्रः शाम्भव-सिद्धाः। ता इत्थं कथिता रहस्यशास्त्रे--

'आदौ यस्य शिरो रौद्री वक्त्रं वामा प्रकीर्तिता।
अम्बिका बाहुरित्युक्ता ज्येष्ठा चैवायुधे स्थिता॥'

इत्यादिना। आदिवर्णः चतुःषष्टिधात्वेन ज्ञानमन्त्रमेलापशाक्तशाम्भव-सिद्धानां वाच्यानां वाचकत्वेन अन्तः परामर्शयति। इत्थं वृन्दचक्रं वर्णक्रमेण प्रतिपादितम्। संवित् क्रमस्तु श्रीवामेश्या अक्रमेण प्रत्यावृत्त्या—

'ज्ञानं खकौलार्णवमूर्मिरूपं स्वबोधविश्रान्तिविमर्शमन्त्रः।
मेलापसिद्धाः स्वविमर्शशून्यं शाक्तं महासंहृति शाम्भवं खम्॥'

इति सिद्धयोगिनीसम्प्रदाययुक्त्युपदेशः। वृन्दचक्रनिर्णयस्तु बहुधा भट्टारककृत-प्राकृतत्रिंशकाविवरणे विचार्यः इत्यलम्॥ ७७॥

अनुवाद—करंकिणी, क्रोधनी, भैरवी, लेलिहाना और खेचरी मुद्राओं के द्वारा देखते समय परम प्राप्ति का मार्ग प्रकाशित होता है॥ ७७॥

व्याख्या—'व्योमेशी' 'वामेश्वरी' अथवा 'निष्कला' देवी से इन मुद्राओं की समता बतलाते हुए शाक्तदर्शन में मंत्रशास्त्र द्वारा इनकी उपासना की जाती है। पंच-भौतिक शरीर जब परमाकाश में विश्राम करता है, उस अवस्था को 'करंकिणी' कहते हैं। ज्ञानसिद्ध मुद्राओं में २४ तत्त्वों का मात्रिक शरीर में एकीकरण करने पर जो अवस्था उत्पन्न होती है, उस अवस्था का नाम ही 'क्रोधिनी' है। और मंत्रसिद्ध पुरुष मुद्राओं द्वारा अपने आप में सम्पूर्ण विश्व का जब संहार कर लेता है तो उस अवस्था का नाम भैरवी है। और जब मेलापसिद्ध मुद्राओं द्वारा इन धारणाओं का पुनः पुनः आस्वादन करता है तो वह 'लेलिहाना' कही जाती है। साथ ही शाक्तसिद्ध मुद्राओं द्वारा शक्ति का प्रसरण करके आकाशों में सदा भ्रमण करने की जो अवस्था प्राप्त कर लेते हैं, वह 'खेचरी' है।

ये सभी मुद्राएँ शाम्भव सिद्धों को प्राप्त होती हैं। जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है—'योगी ज्ञान, मंत्र, मेलाप, शाक्त तथा शांभव भेद से करंकिणी, क्रोधिनी, भैरवी, लेलिहाना और खेचरी इन मुद्राओं को प्राप्त करके स्थित रहता है। इन सभी का क्रमशः अन्वय होता है'। 'करंक' नाम देह का है और करंक अनुभव से प्राप्त होने

वाली ज्ञानजन्य मुद्रासिद्धि को 'करंकिणी कहते हैं। अपनी आत्मा का आधार इस आधारचक्र से उपन्न होने के कारण मंत्रशक्ति से होने वाली 'क्रोधिनी' मुद्रा कही जाती है। स्वरूप में संवरण करने के कारण 'भैरवी' और वासनात्मक पूर्यष्टक को अपने भीतर लय करने के कारण 'लेलिहाना' तथा निवारण बोधाकाश स्वरूप में स्थित होने की स्थिति का नाम 'खेचरी' है। जैसा कि और भी कहा है—'यह खेचरी मुद्रा पाताल से लेकर शिव-पर्यन्त सम्पूर्ण तत्त्वों को तृप्त करती हुई सम्पूर्ण जगत् को अपने भीतर समाविष्ट कर लेती है।' श्रीनिष्क्रियानन्दनाथ ने तो 'करंकिणी' आदि की व्याख्या इस प्रकार की है—'सम्पूर्ण इन्द्रियों के क्षोभ से उत्पन्न होने वाली, बिना स्थान के देह के विस्तार रूप संवित् को अंक में दबाकर १३ अवस्थाएँ आती हैं, वे ही 'कर' कहे गए हैं। इन करों की संज्ञा को ग्रसित करने से अनावृत हुई अवस्था निष्करंक कहलाती है, जो परम निराश्रय है। इनका विस्तार इस प्रकार है—सर्वप्रथम आकाश-समुद्र से महाकौलमार्ग से अकुल रूपिणी शक्ति की लहर 'पर' रूप के साथ बतलाई गई है। वही सूक्ष्म रूप से अकुलचक्र से उठकर, कुलपंचक के रूप से क्रमशः अनुभव को प्राप्त होती हुई, एक ही श्रीव्योमेश्वरी निष्कला होती हुई सकल स्वरूप से रमणशील होकर त्रिलोक में सदैव सर्वकाल स्फुरित होती हुई विस्तार को प्राप्त हुई भी एक ही रूप से प्रतीत होने के कारण 'आद्या' कहलाती है। वह अधखिली (कुछ-कुछ विकसित हुई) परमाकाश समुद्र से मयूरी के अंडे के रस के समान खेचरी आदि चारों अवस्थाओं को अपने भीतर समाविष्ट करके प्रथम स्पन्दन के रूप में जो लहर उठती है 'वामेश्वरी' कहलाती है और यही आदि कोटि की है। यही वामेश्वरी शक्ति दिव्यौघ रूप पाँच चक्रों में विस्तार को प्राप्त करती हुई इस चक्रवृन्द की नायिका श्रीवामेश्वरी सबको सर्वात्मरूप से इस वृन्दचक्र में ५ प्रकार से संपात-क्रम से शांभव, शाक्त, मेलापक, मंत्र और ज्ञान के भेद से खेचरी, भूचरी, संवाहरिणी और रौद्री आदि ६४ योगनियों के रूप से प्रत्यक्ष में आती है। ये ६४ योगिनियाँ अभेद रूप से जहाँ निरन्तर विहार करती रहती हैं, वह ६५वीं रौद्रेश्वरी नामिका शक्ति है। इसी को सर्वमंगला, राज्ञी अथवा सामरस्य भूमि की परधारारूढा भगवती नामिका भी कही जाती है, जिनका क्रम इस प्रकार है—प्रथम तो वर्ण स्वर है, जिनकी संख्या १६ है। यही षोडष स्वर 'ज्ञानसिद्धावस्था' कहे गये हैं। क् से म् पर्यन्त २५ व्यंजनों को 'मंत्रसिद्धावस्था' कहा गया है। १२ प्रकार की स्वर-व्यंजन मिश्रित मात्राएँ अथवा ओंकार की कलाएँ 'मेलापसिद्धावस्था' कही गयी हैं। य् से ह् पर्यन्त चारों कलाएँ 'शांभवसिद्धावस्था' कही जाती है, जिनको रहस्यशास्त्र में इस प्रकार बतलाया गया है—'जिसका सिर रौद्री है, मुख वामा है, भुजा अम्बिका है और आयुध ज्येष्ठा है।' आदि वर्ष ६४ प्रकार के हैं। वे ही ज्ञान, मंत्र, मेलाप, शाक्त और शांभव सिद्धों के वाचक होकर अन्तःकरण का परामर्श कराते हैं। इस प्रकार 'वृन्दचक्र' वर्णक्रम से प्रतिपादित किया गया है। श्रीवामेशी ने संवित् क्रम अक्रम से प्रत्यावृत्ति करके बतलाया है—'ज्ञान कोलार्णव मूर्ति रूप है और विमर्श स्वबोध

विश्रान्ति रूप। स्वविमर्शशून्य रूप मेलाप सिद्धावस्था है। महासंहार रूप अवस्था शाक्तावस्था है। महाकाश के समान व्यापकावस्था कहलाती है'। इसका विस्तार 'सिद्धयोगिनीसम्प्रदाय युक्त्युपदेश' नामक ग्रन्थ में वर्णित है ॥ ७७ ॥

मृद्वासने स्फिजैकेन हस्तपादौ निराश्रयम् ।
निधाय तत्प्रसङ्गेन परा पूर्णा मतिर्भवेत् ॥ ७८ ॥

कोमले चैलाद्यासने स्थितस्य एककटीप्रोथेन उपलक्षितस्य, निराधारं यथा भवति तथा हस्तपादौ च कृत्वा तादृगासनप्रकृष्टतरस्थित्या सर्वाङ्गेषु प्रत्यंशं साकल्येन चेतयन्ती, विगलिततमोरजस्का सात्त्विकी मतिर्भवेत्। इयम् आणवी भूः ॥ ७८ ॥

अनुवाद—कोमल आसन पर एक कटि प्रदेश से बैठकर हाथ-पाँव को निराधार रखे। इस प्रकार के आसन से परम और पूर्ण बुद्धि बनती है ॥ ७८ ॥

उपविश्यासने सम्यक् बाहू कृत्वार्द्धकुञ्चितौ ।
कक्षव्योम्नि मनः कुर्वन् शममायाति तल्लयात् ॥ ७९ ॥

अर्द्धकुञ्चितौ – सामिकुञ्चितौ। कक्षव्योम्नि—उभयकक्ष्याकाशे ॥ ७९ ॥

अनुवाद—आसन पर भली-भाँति बैठकर, बाहों को आधी समेट कर कक्षाकाश में मन को स्थिर करता हुआ योगी तल्लीनता के कारण शांति को प्राप्त कर लेता है ॥ ७९ ॥

भैरवीं भूमिम् आह—

स्थूलरूपस्य भावस्य स्तब्धां दृष्टिं निपात्य च ।
अचिरेण निराधारं मनः कृत्वा शिवं व्रजेत् ॥ ८० ॥

स्थूलरूपस्य–घटदेहादेः, स्तब्धां–निरुन्मेषनिमेषां, दृष्टिं निपात्य, च शब्दात् अन्तर्लक्ष्यां च कृत्वा, निराधारं–परिहृतविकल्पं यथा भवति तथा कृत्वा ॥ ८० ॥

अब भैरवी भूमिका बतलाई जा रही है—

अनुवाद—स्थूलरूप विषय (घट-देहादि) में दृष्टि को स्तब्ध (उन्मेष-निमेष रहित) तथा आन्तर् करके (साधक) शीघ्र ही मन को निराश्रित बनाकर शिव को पा लेता है ॥ ८० ॥

मध्यजिह्वे स्फारितास्ये मध्ये निक्षिप्य चेतनाम् ।
होच्चारं मनसा कुर्वंस्ततः शान्ते प्रलीयते ॥ ८१ ॥

मध्ये-अन्तराले एव, जिह्वा यस्य, ईदृशे विस्फारिते आस्ये सति, संङ्कुचितमुखमध्ये बुद्धिं निक्षिप्य, होच्चारं-अनच्कहकारमात्रोच्चारं, मनसैव कुर्वन् शान्तो भवेत् । उच्छ्वासे हं, निःश्वासे सः ।

'सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत् पुनः ।'

इति उक्तनीत्या अस्यां खेचरीमुद्रायां सकारस्य बहिर्निगमनाभावात् 'होच्चारम्' इति उक्तम् । अत्र भ्रूमध्ये दृष्टिबन्धनं कृत्वापि इति शेषः । यदुक्तं विवेकमार्तण्डे—

'कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥'

इति । भगवान् कृष्णद्वैपायनोऽपि आह—

'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥'

इत्यादि ॥ ८१ ॥

अनुवाद—फैले हुए मुँह में जीभ को बीच में ही रख कर, बुद्धि फेंक कर मन से ह का उच्चारण करते रहने से शांति में लीन हो जाता है ॥ ८१ ॥

व्याख्या—अभिप्राय यह है कि मुख को विस्फारित करके जिह्वा को मुख के भीतर अधर में स्थित करे, तथा संकुचित मुख के भीतर बुद्धि को लगाकर बिना स्वर के 'हकार' का उच्चारण मन से करे तो साधक परमशान्तावस्था में लीन हो जाता है । जैसा कि कहा गया है—'सकार के उच्चारण से प्राणवायु बाहर निकलता है और हकार के उच्चारण से प्राणवायु भीतर गमन करता है । इस नीति के अनुसार इस खेचरी मुद्रा मे सकार का उच्चारण न होकर भीतर प्राणवायु के गमन के कारण हकार मात्रा का ही उच्चारण होता है । इस अवस्था में दृष्टि को भ्रू के मध्य में स्थिर करना बहुत आवश्यक है । जैसा कि विवेकमार्तण्ड में बलताया है—'जिह्वा को कपाल कुहर (छिद्र) में लगा कर दृष्टि को भौंहों के मध्य में स्थिर करने की अवस्था का नाम 'खेचरीमुद्रा' है ।' भगवान् व्यास ने भी कहा है—'बाह्य स्पर्शों से एकदम अलग होकर भ्रूमध्य के भीतर दृष्टि को स्थिर करना चाहिए । तथा नासिका के भीतर चलने वाले प्राण और अपान वायु को समान बना कर बैठना चाहिए' ॥ ८१ ॥

आसने शयने स्थित्वा निराधारं विभावयन् ।
स्वदेहं मनसि क्षीणे क्षणात् क्षीणाशयो भवेत् ॥ ८२ ॥

अजिन-कौशेय-चक्रालात-तूलपटी-मखमल्लशीतलपट्टमयोपधानास्तरण-शय्योत्तरच्छदसंवलनसमकालमेव आनन्दमयदशोद्भूतौ चित्ते क्षीणे सति स्वदेहमपि निराधारं विभावयन्, स्वदेहावमर्शस्यापि गलनात् आस्तरणाद्या-

श्रयरहितमेव स्ववपुर्विमृशन्, सद्य एव क्षीणाशयो-निर्वासनो भवेत् इत्यर्थः ॥ ८२ ॥

अनुवाद—शयनासन लगाकर अपने शरीर को निराधार समझने से मन का क्षय हो जाने पर क्षण भर में सभी आशय क्षीण हो जाते हैं ॥ ८२ ॥

चलासने स्थितस्याथ शनैर्वा देहचालनात् ।
प्रशान्ते मानसे भावे देवि दिव्यौघमाप्नुयात् ॥ ८३ ॥

अतिचञ्चले गन्त्रीगजतुरगादियानासने उपविष्टस्य तद्यानादिकृतदेहचलत्तया, यद्वा स्वयमेव शनैः देहचालनेन मनसः सत्तायां प्रशान्तायां परमाकाशचिदानन्दप्रवाहाप्तिः ॥ ८३ ॥

अनुवाद—चंचल आसन पर बैठने पर अथवा देह को धीरे-धीरे चालित करने पर भी जब मानसभाव शांत रहता है तो हे देवि ! (योगी को) दिव्य धाम की प्राप्ति होती है ॥ ८३ ॥

आकाशं विमलं पश्यन् कृत्वा दृष्टिं निरन्तराम् ।
स्तब्धात्मा तत्क्षणाद् देवि भैरवं वपुराप्नुयात् ॥ ८४ ॥

निरन्तरां-व्यवधानरहिताम् उन्मेषनिमेषाभावात् । स्तब्धात्मा-निश्चलदेहः । शेषं निगदव्याख्यातम् ॥ ८४ ॥

अनुवाद—आकाश को निर्मल देखता हुआ दृष्टि को उन्मेष-निमेष रहित करके स्तब्ध भाव को प्राप्त होने वाला योगी तत्काल भैरवस्वरूप को प्राप्त हो जाता है ॥ ८४ ॥

लीनं मूर्ध्नि वियत् सर्वं भैरवत्वेन भावयेत् ।
तत्सर्वं भैरवाकारस्तेजस्तत्त्वं समाविशेत् ॥ ८५ ॥

'लीनं गमयतीत्युक्तेर्लिङ्गनिर्वचनं यतः ।
हृदये ब्रह्मरन्ध्रे च वियल्लीनं परे पदे ॥
तदप्यन्तःकृताशेषसृष्टभावसुनिर्भरम् ।
भेदभावकमायीयतेजोंऽशग्रसनाच्च तत् ॥
सर्वसंहारकत्वेन कृष्णं तिमिररूपधृत् ।'

इति मालिनीवार्तिकनीत्या सर्वं जगत् मूर्ध्नि मुख्यभूते हृदयब्रह्मरन्ध्राख्ये, वियत्-आकाशरूपं तिमिररूपं वा, अन्तःकृतसर्वभावपरिपूर्णं, सर्वसंहारकत्वात् कालरूपं च आकाशमयमेव चिन्तयेत्, तदनु तस्य सर्वस्य भैरवाकृतिपरप्रकाशतत्त्वसमावेशः । सर्वस्य उक्तलक्षणकृष्णरूपत्वचिन्तनेन परप्रकाशात्मता

अद्भुतं फलम्। तेजस्तत्त्वं-चित्प्रकाशरूपं समाविशेत् अर्थात् योगी इति। एषा प्रागुक्तशून्यभावनाविकल्पना आणवी भूः ॥ ८५ ॥

अनुवाद—सम्पूर्ण आकाश को मस्तक में लय करके भैरवत्व की भावना से प्रभावित होता हुआ योगी सभी को भैरवाकार करके तैजस् तत्त्व में समावेश कर जाता है ॥ ८५ ॥

व्याख्या—जैसा कि मालिनीविजयवार्तिक में कहा गया है—'योगी नीले, पीले, हरे, सभी प्रकार के आकाशों को लय युक्ति के द्वारा हृदय के भीतर तथा बाह्य रंध्र में स्थित परमाकाश में लय करता हुआ, उस आकाश को भी सृष्टिकर्ता शिव में लय करता हुआ, विभेद की भावना उत्पन्न करने वाले मायीव अंश को भी तेज के द्वारा ग्रसित करता हुआ सर्वसंहारक होने के कारण तिमिररूप कृष्ण आकाश में लीन हो जाता है।' उसी क्रम से सम्पूर्ण जगत् को मस्तक के भीतर मुख्य रूप से स्थित ब्रह्मरन्ध्र आकाश में लीन करके सम्पूर्ण भावों से परिपूर्ण जगत् को संहार क्रम से उस परमाकाश में लीन होता हुआ चिन्तन करे। ऐसा चिन्तन करने के पश्चात् परम प्रकाशतत्त्व भैरव रूप में समाविष्ट हो जाता है और योगीचित्त प्रकाश में लय हो जाता है। यह भी पूर्व बतलाई हुई आणवी भूमि के समान ही प्रकारान्तर से आणवी भूमि में प्रवेश का साधन है ॥ ८५ ॥

किञ्चिज्ज्ञातं द्वैतदायि बाह्यालोकस्तमः पुनः।
विश्वादि भैरवं रूपं ज्ञात्वानन्तप्रकाशभृत् ॥ ८६ ॥

किञ्चिन्मात्रं घटकुड्यादिकं ज्ञानविषयीकृतं भेदप्रथाप्रदं जाग्रदवस्थागोचरम्, तथा बाह्यानां पदार्थानां जाग्रत्संस्कारजातानाम् आलोकः-प्रकाशः स्वप्नावस्थाविषयः, पुनः-भूयः, तमः-अज्ञानभोगः सुप्तिस्थः, तथा एतदवस्थात्रयाभिमानि चैतन्यं विश्वादि, आदिशब्देन तैजसप्राज्ञादीनां ग्रहणम्। अत्र इयं वेदान्तशास्त्रप्रक्रिया-मायाविद्यात्मकद्विप्रकारा गुणत्रयसाम्यावस्था प्रकृतिः, विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया, मलिनसत्त्वप्रधाना अविद्या, मायाप्रतिबिम्बितश्चिदात्मा अहम् इदं सर्वं जानामि करोमि च इति सर्वज्ञत्वादिगुणाश्रय ईश्वरः, स च एकः—अहं कर्ता, अहं भोक्ता इत्यादि—अविद्याप्रतिबिम्बितः चिदात्मा, तत्परतन्त्रो जीवः, स तु देवतिर्यगादिभेदेन अनेकः। आतिवाहिकाख्यलिङ्गशरीरविषयाहमभिमानिनो जीवाः, सुखी अहं, दुःखी अहं, क्षुधितोऽहं, तृषितोऽहम्—इत्यादीन् अन्तःकरणधर्मान् स्वात्मनि अध्यस्यन्तः तैजससंज्ञकाः। कारणशरीरशब्दवाच्याया अविद्यायाः पृथक्-पृथक् अहमभिमानिनो जीवाः प्राज्ञाः इत्युच्यन्ते। एकैकस्थूलशरीरगोचरस्थूलकृशत्वाद्यहमभिमानवतां तैजसानामेव विश्वसंज्ञा। उक्तलक्षणमायोपाधिकः

परमेश्वरः सकलसूक्ष्मशरीरविषयाहमभिमानेन हिरण्यगर्भसंज्ञः। अस्यैव सकलस्थूलशरीराहमभिमानेन वैश्वानरसंज्ञा। प्राज्ञानां तु अविद्याविषयाहमभिमानेन सुषुप्तौ भोगः, अविद्यायाः तत उत्थाय, मूढोऽहम् आसम्, माम् अहं न जानामि इत्यादिप्रत्यवमर्शः। परमेश्वरस्य पुनरेतेषां सर्वेषां प्राज्ञानाम् अहमेव कर्ता इति तदध्यासेन अविद्याभिमानो, न तु साक्षात्-सर्वज्ञत्वादिधर्मकत्वात्। ईश्वरस्यापि प्रलयकाले योगनिद्राप्रसक्तिदशायां स्वान्तःकृता अविद्या वासनारूपेण स्थितैव, अन्यथा कूटस्थदशायाः सकाशात् कर्तृत्वाद्यभिमानात्मिकाविद्यानिःसरणेन जीवदशाप्रादुर्भावः कथङ्कारं भवेत्। एतत् सर्वं-विश्वतैजसादिप्रपञ्चजातं भैरवरूपं तुरीयस्वरूपं ज्ञात्वा अनन्तप्रकाशरूपो भवेत्।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

इति श्रुतिरेतच्छ्लोकार्थेऽनुकूला ॥ ८६ ॥

अनुवाद—भेद उत्पन्न करने वाले विषय का ज्ञान (जाग्रत्), बाह्य का प्रकाश (स्वप्न) तथा तम (सुषुप्ति) विश्व आदि[1] को भैरवरूप समझकर अनन्त प्रकाश को प्राप्त कर लेता है ॥ ८६ ॥

---

१. जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं से तादात्म्य स्थापित करने वाले प्रमाता 'विश्व' तैजस् और प्राज्ञ कहलाते हैं। इनका विस्तृत वर्णन माण्डूक्योपनिषद् तथा गौड़पादकारिका में इस प्रकार है—

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः।

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः।

यत्र सुप्ता न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्। —माण्डूक्योपनिषद् १।३-६

बहिःप्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः॥
विश्वो हि स्थूलभुग् नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्।
आनन्दभुक् तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधतः॥
—गौडपादकारिका १।१।३

—परमार्थसार (शोध-निबन्ध); श्रीमती कमला द्विवेदी, पृ० ६२-६३ से उद्धृत।

व्याख्या—अभिप्राय यह है कि घट, कटक, कुण्डल आदि ज्ञानगोचर होने वाले, भेद प्रथा के देने वाले, जाग्रतवस्था-गोचर तथा बाह्य पदार्थों के जागृत् होने वाले संस्कारों के प्रकाश से प्रकाशित, स्वप्नादि अवस्था विषयक अज्ञान, भाग, सुषुप्ति तथा अवस्थात्रयाभिमानी चिन्मय विश्व आदि शब्दों के द्वारा तैजस् प्राज्ञ आदि का बोध ग्रहण होता है। यहाँ पर वेदान्तशास्त्री की यह प्रक्रिया बतलाई गई है, जिसका विस्तार इस प्रकार है—माया और अविद्यात्मक ये दो प्रकार यहाँ प्रचलित हैं। सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। विशुद्धसत्त्व प्रधान 'माया' कही गई है तथा मलिनसत्त्व प्रधान 'अविद्या'। माया प्रतिबिम्बित चिदात्मा—'मैं यह सब जानता हूँ', मैं यह सब करता हूँ'—इत्यादि सर्वज्ञत्वादि गुण का आश्रय 'ईश्वर' कहलाता है। 'वह एक है', 'मैं करता हूँ', 'भोगता हूँ' इस प्रकार अविद्या प्रतिबिम्बित चिन्मय आत्मा विद्या से पृथक्-पृथक् अहमाभिमानी जीवन 'प्राज्ञ' कहलाता है। वह 'जीवन' देव तिर्यक् और मनुष्यादि भेद से अनेक प्रकार का है। अतिवाहिक लिंग शरीर विषयक अभिमानवान् 'जीव' कहलाते हैं। 'मैं सुखी हूँ', मैं दुःखी हूँ', 'मैं भूखा हूँ' इस प्रकार के अन्तःकरण के धर्मों को अपने भीतर अध्यास करने से 'तेजस्' कहलाता है। कारण शरीर शब्द से संबोधित होने वाली अविद्या के द्वारा अलग-अलग अहंताभिमानी जीवन 'प्राज्ञ' कहलाते हैं। एक-एक स्थूल शरीर के द्वारा गोचर होने वाले स्थूल, कृश, स्वस्थ आदि अभिमान वाले तेजस् जीव ही 'विश्व' कहलाते हैं। उपरोक्त लक्षणवाली माया से आवृत परमेश्वर सकल सूक्ष्म शरीर विषयक अहंताभिमान से 'हिरण्यगर्भ कहलाता है। इसी हिरण्यगर्भ को स्थूलशरीराभिमान से आवृत होने पर 'वैश्वानर' संज्ञा से अभिहित किया जाता है। 'प्राज्ञ' जीवों को अविद्याविषयक अहंताभिमान से सुषुप्ति अवस्था में भोग कर अविद्या का असर नहीं पड़ता, क्योंकि वह सर्वज्ञत्वादि धर्मवान् है, किन्तु ईश्वर में भी प्रलयकाल में योगनिद्रावस्था में वासना रूप से अविद्या की स्थिति रहती है। यदि ऐसा न हो तो कूटस्थ दशा में कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमान वाली अविद्या के निकल जाने के बाद 'जीव' दशा का प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है? यह संपूर्ण विश्व तेजस् प्राज्ञ आदि प्रपंच समूह को तुरीयावस्था रूप भैरवस्वरूप को जानकर अनन्तप्रकाश रूप बन जाता है, तब उसे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मः'—इस प्रकार यह दिखलाई देने वाला कि सब कुछ ब्रह्म है, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है—ऐसा बोध होता है। यह 'तैमिरी-धारणा' का सूत्रपात है॥ ८६॥

एवम् अद्भुतरूपतैमिरीधारणाप्रस्तावेन बाह्यां तिमिरधारणाम् आह—

एवमेव दुर्निशायां कृष्णपक्षागमे चिरम्।
तैमिरं भावयन् रूपं भैरवं रूपमेष्यति॥ ८७॥

एवमेव इति पूर्वोक्ततिमिरवत्। दुर्निशायां मेघच्छन्ननिशायाम्। एष्यति प्राप्स्यति। इयम् अक्ष्णोरुन्मीलनेन तिमिरभावना उक्ता॥ ८७॥

अब इस 'तैमिरीधारणा' को बतलाया जा रहा है—

अनुवाद—इस प्रकार कृष्णपक्ष की मेघाच्छादित रात्रि में चिरकाल तक अन्धकार के स्वरूप का चिन्तन करता हुआ (योगी) भैरवरूप को प्राप्त कर लेता है ॥ ८७ ॥

निमीलनेन भावनाम् आह—

एवमेव निमील्यादौ नेत्रे कृष्णाभमग्रतः ।
प्रसार्य भैरवं रूपं भावयंस्तन्मयो भवेत् ॥ ८८ ॥

एवमेव कृष्णपक्षदुर्निशाद्यभावेऽपि, 'आदौ नेत्रे निमील्य, कृष्णाभं तमोरूपं भैरवं भावयन्, पश्चादपि नेत्रे प्रसार्य कृष्णाभं भैरवरूपं भावयन् प्रकाशमयो भवेत् ॥ ८८ ॥

अनुवाद—इसी प्रकार नेत्रों को निमीलित करके अपने सामने फैले हुए काले रूप का चिन्तन करता हुआ, उसको भैरवस्वरूप समझकर प्रकाशमय भैरव बन जाता है ॥ ८८ ॥

अन्तर्मुखाविकल्पोपायां शाम्भवीं भूमिम् आह—

यस्य कस्येन्द्रियस्यापि व्याघाताच्च निरोधतः ।
प्रविष्टस्याद्वये शून्ये तत्रैवात्मा प्रकाशते ॥ ८९ ॥

व्याघातात् बाह्याभिभावककृतात्, निरोधात् तु स्वरसोत्थात् प्रायत्निकात् वा, समनन्तरमेव अद्वये शून्ये प्रविष्टस्य-अन्तर्मुखपदे निरूढस्य, तत्रैव परं चैतन्यं प्रकाशते ॥ ८९ ॥

अनुवाद—किसी भी इन्द्रिय के नष्ट हो जाने से अथवा निरोध मात्र कर लेने से अद्वितीय शून्य में प्रवेश करने वाले योगी को अन्तर्मुख होने पर वहीं परम चैतन्य तत्त्व का प्रकाश प्राप्त होता है ॥ ८९ ॥

अबिन्दुमविसर्गं च अकारं जपतो महान् ।
उदेति देवि सहसा ज्ञानौघः परमेश्वरः ॥ ९० ॥

बिन्दुः अविभागसंवेदनम्-अद्वैतज्ञानम्, विसर्गो भेदप्रथासर्जनक्रिया-ब्राह्म्यादिशक्तिरूप-ककाराद्यक्षरसृष्टिरूपः, तद्रहितम् अकारं प्रथमाक्षरम्, अविद्यमानः कारः करणं यस्य तत्, एवंविधम् अकिञ्चिच्चिन्तनात्मकम् अनुत्तरं विमृशतः, तत्क्षणमेव अनेकज्ञानप्रसरस्रष्टा परमेश्वरः प्रादुर्भवति । अत्र—

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ।'
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।'

इति एकत्वं द्वितीयत्वं च अनुत्तरे अवाङ्मनसगोचरे न योग्यं निरुत्तरत्वेन किञ्चिन्मात्रपरामर्शस्यापि अभावात्, अनुत्तरपदस्थस्य—

'अवचनेनैव प्रोवाच स ह तूष्णीं बभूव ।'

इति श्रुत्यर्थं एतदनुकूलः । अविसर्गञ्च अकारञ्च इत्यत्र—

'एकधर्मिणो वा सवर्णे प्रकृतिः ।'

इति परिभाषया सन्धेरभावः ।

'धित्कां च तं च मदनं च इमां च मां च ।'

'माता यस्य उमा देवी ।'

इत्यादिवत् । इमां नैरुत्तरीं दशां सञ्चेत्य श्रीभगवत्पादैरपि सिद्धान्तितम् ।

'न चैकं तदन्यद् द्वितीयं कुतः स्यात्
न वा केवलत्वं न चाकेवलत्वम् ।
न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वात्
कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि ॥'

इति । अम्—इति उच्चाररहितं, अः—इति उच्चारहीनं च अकारमात्रं कुम्भकस्थस्य जपतः इति केचित् । द्वयसम्पत्तिकारस्तु वामननाथो विवृत्यन्तरम् आह, यथा—

'अहङ्कारमयी भूमिर्बुद्धिभूमेः परा हि सा ।
तया व्याप्तमिदं विश्वं ज्ञाता सैव विमुक्तिदा ॥
संविद्रूपा परा शक्तिरभिन्ना परमेश्वरात् ।
ज्ञानशक्तिः पुनः सैव मन्त्ररूपा प्रदर्श्यते ॥
अहङ्कारः स्मृतो मन्त्रः शिवशक्त्यात्मरूपकः ।'

अयम् अहङ्कारः अपरिमिताहं भूमिः, पूर्णाहन्ता इत्यर्थः ।

'यदत्राद्यमवर्णाख्यं स शिवः परमेश्वरः ॥
नादबिन्द्वात्मकं यच्च सा शक्तिरैश्वरी स्मृता ।
द्वयमेतत्समाख्यातं बीजभूतं चराचरे ॥
अज्झलाद्याश्च ये वर्णास्तेऽनेनैव हि मुद्रिताः ।
शब्दब्रह्मेति तत्प्राहुर्योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः ॥
अप्राणमस्वरं ध्यात्वा पश्यन्त्या निर्विभागया ।
चिन्मात्रामर्शयोगेन निलीनः स्यात्परे पदे ॥
तथाहि सिद्धैरादिष्टं क्वचित्सिद्धान्तसङ्ग्रहे ।
नाभेरूर्ध्वं वितस्तिस्तु कण्ठाधस्तात्षडङ्गुलम् ॥
हृदयं मध्यदेशे तु हृन्मध्ये कमलं स्मृतम् ।

पद्ममध्ये स्थिता सूक्ष्मा कर्णिका त्रिपथोपगा ॥
तन्मध्ये संस्थितो ह्यात्मा ह्यकारादिस्वरूपधृत् ।
अकारान्तः परं सूक्ष्मं चिन्मात्रस्पन्दलक्षणम् ॥
तस्याप्युपासा विज्ञानभैरवे कथिता यथा ।
अबिन्दुमविसर्गं च ..... ॥'

इत्यादि ।

'आत्मस्थाने निराधारा द्वितीया शक्तिरैश्वरी ।
बीजभूता कुण्डलिनी सार्द्धत्रिवलयात्मिका ॥
प्राणशक्तिरियं देहे हकाराख्या नदत्यलम् ।
कर्णान्तर्विवरे योगी स्थगित्वा लक्षयेत्स्फुटम् ॥
बिन्दुरूपा भ्रुवोर्मध्ये संसारजननी शिवा ।
लक्ष्यते योगिभिर्नित्यं भ्राजमाना स्वतेजसा ॥
तस्य बिन्दोस्तु चन्द्राकौ वामदक्षिणनेत्रयोः ।
निराश्रयौ तु तौ कृत्वा विशेद् ब्रह्म सनातनम् ॥'

इति ॥ ९० ॥

अनुवाद—बिन्दु विसर्ग रहित केवल अकार को जपता हुआ योगी महान् ज्ञान घन परमेश्वर का सहसा साक्षात्कार कर लेता है ॥ ९० ॥

व्याख्या—बिन्दु अविभक्त चिन्तन (अद्वैतज्ञान) को कहते हैं । विसर्ग-भेद प्रथा उत्पादन-क्रिया—बाह्यादि शक्तिरूप ककारादि सृष्टिरूप, इन दोनों तत्त्वों से रहित (मिलित संवेदन और विभिन्न संवेदन रूप भेदों से रहित) अकार है । वही प्रथम अक्षर है । इसे अकार इसलिए कहते हैं—'कारः करणं तत् नास्ति सः अकारः' । क्योंकि सारे करणों से रहित चिन्तनात्मक अनुत्तर विमर्श करते हुए अनेक ज्ञानों का प्रसार करने वाले सृष्ट परमेश्वर का प्रादुर्भाव होता है । इस अवस्था में—'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ऐसा भाव उत्पन्न हो जाता है । इस प्रकार एकत्व चिन्तन करने वाले को द्वितीय भाव या द्वैतभाव अनुत्तर विमर्श में वाणी और मन के प्रत्यक्ष होने योग्य नहीं रहता । अर्थात् द्वैत सम्बन्धी कोई विचार-विमर्श उस अवस्था में नहीं होता है । इस अवस्था को प्राप्त होने के बाद योगी बिना वाणी के भी बोलता है और स्वयं चुपचाप बैठा रहता है । इसी निरुत्तरीय दशा का संकेत करते हुए भगवान् शंकराचार्य ने कहा है—'उससे भिन्न एक भी नहीं है तो दूसरा कहाँ से आएगा । उस अवस्था में न केवलत्व है और न अकेवलत्व; न शून्य है और न अशून्य । अद्वैतावस्था होने के कारण मैं, उस अवस्था को सर्ववेदान्तसिद्ध है, ऐसा भी कैसे कह सकता हूँ । इसी प्रकार कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि 'अहम्' इस प्रकार के उच्चारण से रहित और 'अः' इस प्रकार के उच्चारण से रहित, केवल कुम्भकावस्था में

जप करते हुए, अकार मात्र का उच्चारण करते हुए मनुष्य परमतत्त्व को प्राप्त कर लेता है। जैसा कि द्वय-सम्पत्तिकार वामननाथ ने अपनी विवृत्ति में लिखा है—'बुद्धि की भूमिकाओं में सबसे परे अहंकार की भूमिका है। उस भूमिका के द्वारा यह सारा विश्व व्याप्त है। उसका ज्ञान ही मुक्तिदाता है। संवित् रूप जो पराशक्ति है वह परमेश्वर से अभिन्न है, उसी को मनुष्य ज्ञानशक्ति भी कहा करते हैं। अब मन्त्ररूपा शक्ति का भी वर्णन करते हैं कि अहंकार ही मंत्र कहा गया है, जो शिव-शक्त्यात्मक स्वरूप है'। यह अहंकार ही 'अपरिमिताहं भूमि' है। मनुष्य इसी को पूर्णहन्ता कहते हैं। जैसा कि कहा है—'यहाँ पर जो आद्यवर्ण अकार है, वही परमेश्वर 'शिव' है और जो नाद और बिन्दु स्वरूप है, वह ईश्वरी शक्ति है'।[1] इस चराचर जगत् के ये दोनों बीजभूत हैं। अच्, हल् आदि जितने भी वर्ण है, सबका प्रादुर्भाव इन दोनों से ही हुआ है। तत्त्वचिन्तक योगी इसी को शब्दब्रह्म कहते हैं। बिना प्रमाण के पश्यन्ती वाणी के द्वारा अविभक्त ध्यान करता हुआ चिन्मयावमर्श के द्वारा लय को प्राप्त होने वाला योगी परमपद में लीन होता है।

---

१. तुलना कीजिए—

शिवः स्वतन्त्रदृग्रूपः पञ्चशक्तिसु निर्भरः।
स्वातन्त्र्याभासितभिदा पञ्चधा प्रविभज्यते॥ —तन्त्रालोक ६-४८

तथा—आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृत्तचिद्वपुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरत् क्रियः शिवः॥ —शिवदृष्टि

तथा—सर्वव्यापकताभूमिर्ज्ञैत्वकर्तृकत्व सम्मता।
निजाभासचमत्कारमयी शिवदशा स्मृता॥ —विज्ञानेन्दुकौमुदी

तथा—एवं सर्वपदार्थानां समेत शिवता स्थिता।
परापरादिभेदोऽत्र श्रद्धानेरुदाहृतः॥ —शिवदृष्टि

तथा—प्रत्यभिज्ञाहृदय में शिव को ही 'स्वतन्त्रा चिति' कहा गया है—
'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः'। —प्रत्यभिज्ञाहृदय सू०।

तथा—शिव-सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रह नामक पञ्चकृत्य निरन्तर करता रहता है—

नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिने॥

—प्रत्यभिज्ञाहृदय का मंगलपद्य।

तथा—शिव-तत्त्व के सम्बन्ध में ईश्वरप्रत्यज्ञाविमर्शिनी भी उल्लेखनीय है, जिसमें शिवतत्त्व को ज्ञान तथा क्रिया का अवियोग और क्रिया द्वारा समग्र विश्व को धारण करने वाला कहा गया है—

'तदेतदवियुक्तज्ञानक्रियारूपक्रियाद्वारेण सकलतत्त्वराशिगतसृष्टिसंहारशतप्रतिबिम्बसहिष्णु यत्तदुपदेशभावनादिशु तथाभासमानमनायासमपि वस्तुतः शिवतत्त्वमित्युक्तम् भवति। —भास्करी, भा० २, पृ० २१६

सिद्धान्तसंग्रह में कहीं-कहीं सिद्धों के द्वारा इस मत का आदेश दिया गया है। नाभि से ऊपर एक बालिस्थ तथा कण्ठ से नीचे छः अंगुल मध्यदेश में हृदय के भीतर हृदय-कमल है। उस कमल में स्थित सूक्ष्मकर्णिका में तीन मार्गों से जाने वाली नाड़ियाँ हैं। उसके भीतर अकारादि स्वरूप से आत्मा विद्यमान है। चिन्मय का स्पन्दमात्र ही जिसका लक्षण है ऐसा परम सूक्ष्म अकार ही है। उसकी उपासना भी बिन्दु-विसर्ग रहित अकार की उपासना विज्ञानभैरव में बतलाई गई बिन्दु-विसर्ग रहित अकारोपासना के समान है। और भी कहा है—'आत्मा के स्थान में निराधारा दूसरी ईश्वरीया शक्ति स्थित है, जो इन सब धारणाओं की बीजभूता कुण्डलिनी के रूप में साढे तीन ओटे लगाकर स्थित है। यही शरीर में प्राणशक्ति है। वह हकार के रूप सदा शब्दायमान होती रहती है। इसे यदि देखना चाहें तो श्रवणेन्द्रिय के छिद्रों को बन्द करके स्पष्ट देख लेना चाहिए, कि दोनों भ्रुवों के मध्य में, बिन्दु के रूप से, अपने तेज से देदीप्यमान इस विश्वजननी शक्ति को योगी नित्य देखता है। वह उस बिन्दु में चन्द्र और सूर्य को वामदक्षिण नेत्र के भीतर निराश्रय स्थित करके सनातन ब्रह्म में नित्य प्रवेश करे ॥ ९० ॥

वर्णस्य सविसर्गस्य विसर्गान्तं चितिं कुरु।
निराधारेण चित्तेन स्पृशेद् ब्रह्म सनातनम् ॥ ९१ ॥

निराधारेण प्रक्षीणवेद्येन, विविधसर्गस्वभावयुक्तस्य वर्णजातेः ककाराद्यक्षररूपस्य ब्राह्म्यादिशक्तिसमूहस्य पशुभावोपकरणस्य विसर्गस्य अन्तो यथा भवति तथा, अन्तर्मुखस्वस्वभावविमर्शनाधिक्यात् तत्समावेशेन तन्मयीभावा-

---

तुलना कीजिए—

शिव और शक्ति का चन्द्र-चन्द्रिका तथा वह्नि तथा दाहात्मिका शक्ति की भाँति नित्य तादात्म्य माना गया है—

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव ॥

—बोधपञ्चदशिका श्लोक–३

आचार्य शंकर ने भी इसी अभिप्राय को व्यक्त किया है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभावितुम्।
न चेदेवं देवः न खलु कुशलः स्पन्दितुम् ॥

—आनन्दलहरी–१

विश्व की सिसृच्छा ही शिव का शक्तिभाव है—

स एव विश्वमेषितुं ज्ञातुं कर्तुं चोन्मुखो भवन्।
शक्तिस्वभावः कथितो हृदयत्रिकोणमधुमांसलोल्लासः ॥

—महार्थमंजरी पृ० ४० (त्रिवेन्द्रम्)

पादनस्वरूपतया, चिंतिं कुरु बुद्धिं विधेहि, ततः संवेदनस्य निराश्रयत्वे सति परब्रह्मस्पर्शो नित्यः ।

अथ च—

'विसर्गस्यैव विश्लेष इति सप्तदशी कला ।
क्वचिदष्टादशी सैव पुनः प्रक्षोभयोगतः ॥
अनुत्तरस्याकारस्य परभैरवरूपिणः ।
अकुलस्य परा येयं कौलिकी शक्तिरुत्तमा ॥
स एवायं विसर्गस्तु तस्माज्जातमिदं जगत् ।
तस्य प्रक्षोभयोग्यत्वं प्रक्षोभकलनोदयः ॥
प्रक्षोभपूर्णताभावादक्रमस्य क्रमोनता ।
इति षट्कस्वरूपात्मविसर्गान्दोलनोदितम् ॥
अनुत्तरस्वभावत्वादाद् यस्यैव विजृम्भितम् ।
स एव भगवानन्तर्नित्यं प्रस्फुरदात्मकः ॥
अन्तःस्थसर्वभावौघपूर्णमध्यमशक्तिकः ।'

इति उक्तनीत्या विसर्गस्वरूपे चिंतिं कुरु । सप्तमीपाठेन अयम् अर्थः—सर्वोऽयं मातृकाप्रपञ्चोऽकुलस्य शिवबिन्दुनामधेयस्य शक्तिरूपो विसर्गः इत्यर्थः ।

'विसर्गः कौलिकी शक्तिस्तज्जोऽयं मातृकोदयः ।'

इति उक्तत्वात् । ज्ञानामृतरसायने च—

'मात्रार्द्धमात्रात् परमं तदर्द्धाच्च परं परम् ।
तत्त्वातीतं परं तत्त्वमभावं भावमाश्रितम् ॥'

तथा—

'अत्र प्रकाशमात्रं यत्स्थिते धामत्रये सति ।
उक्तं बिन्दुतया शास्त्रे शिवबिन्दुरिति स्मृतः ॥
अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते ।
विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ॥'

तस्या एव आदिक्षान्तोत्पत्तिः इति ॥ ९१ ॥

अनुवाद—विसर्ग युक्त वर्ण का ध्यान (साधक) ऐसे करे कि विसर्ग (विविध बाह्य सृष्टि) का अन्त हो सके । (तथा) आधार रहित चित्त से सनातन ब्रह्म का स्पर्श करे ॥ ९१ ॥

व्याख्या—संवेदन संस्कारों को क्षय करके निराधार मन से उस ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिए, जिसका अनेक प्रकार की सृष्टि को उत्पन्न करने के स्वभाव वाले वर्ण, समय, वर्णसमूह, ब्राह्मी आदि शक्ति स्वरूप में वर्णन करते हैं । जो पशुभाव का

का कारण है, उस सृष्टि के उत्पादन का अन्त हो जाय तथा अन्तर्मुखी स्वभाव के विचार के आधिक्य से उसमें समाविष्ट होकर तन्मय स्वभाव को प्राप्त हो जाय, ऐसी बुद्धि उत्पन्न करनी चाहिए। इस प्रकार निराश्रय चिन्तन सिद्ध होने पर नित्य परब्रह्म का स्पर्श रहेगा।

इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है—'विसर्ग का विश्लेषण करना ही सत्रहवीं कला है। वही सत्रहवीं कला मन के प्रक्षोभ के योग से अठारवीं हो जाती है। इस प्रकार अनुत्तर अकार का उच्चारण परमभैरव स्वरूप है। यह 'अकुलचक्र' की 'पराशक्ति' और 'कौलिकीशक्ति' कहलाती है। यह वही 'विसर्ग' है, जिससे सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है। उसके 'प्रक्षोभ' को ही 'प्रक्षोभकलना' का उदय माना जाता है; जिससे धीरे-धीरे क्रम नष्ट हो जाता है। इस प्रकार छः स्वरूपों वाला सारा विसर्गान्दोलन बतलाया गया है। जिसके आगे कोई स्वभाव नहीं है। उस अनुत्तर स्वभाव वाले अकार का ही यह सब प्रपंच है। वही अन्तःप्रविष्ट नित्य प्रस्फुरणात्मक भगवान् है, जो अपने ही भीतर स्थित सम्पूर्ण भावनाओं की पूर्ण शक्ति है। इस प्रकार के विसर्ग स्वरूप में बुद्धि को स्थिर करना चाहिए। यह सारा अकुलचक्र का मातृ-प्रपंच शिव 'बिन्दु' के नाम से और शक्ति 'विसर्ग' के नाम से कहा जाता है। ऐसा शास्त्रों में भी कहा है—विसर्ग कौलिकी शक्ति है, और उससे उत्पन्न होनेवाला यह मातृका का प्रपंच है'। ज्ञानामृतरसायन में भी कहा है—'माया, आधी मात्रा और उससे आगे भी (उसकी) अर्द्ध मात्रा परमतत्त्व है। वह अभाव भाव को आश्रित करके तत्त्वातीत के रूप में स्थित है'। और भी कहा है—यहाँ पर तीनों धाम में स्थित होने पर जिस प्रकाशमात्र की प्रतीति होती है, उसे शास्त्रों में बिन्दु कहा गया है। वह 'बिन्दु' शिवबिन्दु कहलाता है। अनुत्तर परम स्थान जिसके आगे कुछ भी नहीं है, उसी का नाम 'अकुल' है। उस शिव का विसर्ग ही कौलिकी शक्ति है। उस कौलिकी शक्ति के द्वारा ही 'अ' से 'क्ष' तक के वर्णों की उत्पत्ति होती है ॥९१॥

व्योमाकारं स्वमात्मानं ध्यायेद् दिग्भिरनावृतम्।
निराश्रया चितिः शक्तिः स्वरूपं दर्शयेत् तदा ॥ ९२ ॥

दिग्भिः अनावृतं विश्वव्यापिनम्। व्योमाकारम् इति अनाकृति, न तु तुच्छम् ॥ ९२ ॥

अनुवाद—अपनी आत्मा को आकाश के समान, जो दिशाओं से भी घिरा हुआ नहीं, चिन्तन करना चाहिए। तब निराश्रय चित्त-शक्ति स्वयं अपना रूप दिखायेगी।

व्याख्या—जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है—'मैं ही परम हंस हूँ और सबसे परे रहने वाला परमात्मा हूँ'[1] ॥ ९२ ॥

---

१. 'अहमेव परो हंसः परमात्मा परात्परः।'—स्वच्छन्दतन्त्रम्।

किञ्चिदङ्गं विभिद्यादौ तीक्ष्णसूच्यादिना ततः ।
तत्रैव चेतनां युक्त्वा भैरवे निर्मला गतिः ॥ ९३ ॥

किञ्चिदङ्गम् अङ्गुल्यङ्गुष्ठादिकं, निशितसूचीकण्टकादिना प्रथमं छित्त्वा, तदनन्तरं तत्रैव चेतनां संविदं युक्त्वा संयोज्य, सूच्यादिव्यथानुभवितृचेतना-शक्तिसमाहितस्य भैरवविषयं निर्मलं ज्ञानं भवत्येव ॥ ९३ ॥

अनुवाद—सर्वप्रथम किसी अंग को नोक वाली सूई आदि द्वारा भेदन करके वहाँ पर चेतना का संयोग करने पर भैरव की निर्मल प्राप्ति होती है ॥ ९३ ॥

व्याख्या—तीक्ष्ण शस्त्रों द्वारा छेदन किये हुए अंगों में जो प्रतीति होती है, उसको सहन करने की शक्ति चेतना कहलाती है। जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है—'मैं अछेद्य हूँ, अदाह्य हूँ, अक्लेद्य हूँ और अशोष्य हूँ'।[1] इस प्रकार की जो संवेदना शक्ति है, जिसमें अहन्ता का भाव उत्पन्न होता है उसे भैरव रूप जानना चाहिए ॥ ९३ ॥

चित्ताद्यन्तःकृतिर्नास्ति ममान्तर्भावयेदिति ।
विकल्पानामभावेन विकल्पैरुज्झितो भवेत् ॥ ९४ ॥

चित्तादिकम् अन्तःकरणं नास्ति मद्देहान्तर इति भावयेत् इति सम्बन्धः ॥

अनुवाद—चित्तादि अन्तःकरण मेरे अन्दर नहीं है, यह भावना करे। विकल्पों के न रहने पर (योगी) विकल्पों से छूट जाता है ॥ ९४ ॥

गुणा गुणेषु वर्तन्ते, मम किम् आयातम् इति स्वात्मनि औदासीन्यधारणाम् आह—

माया विमोहिनी नाम कलायाः कलनं स्थितम् ।
इत्यादिधर्मं तत्त्वानां कलयन्न पृथग्भवेत् ॥ ९५ ॥

विशेषेण भेदप्रथात्मकेन पुरुषं मोहयति इति मायाया एव मोहनत्वं धर्मो, न मम, कलायाः कलातत्त्वस्य किञ्चित्करणं धर्मः, विद्यातत्त्वस्य किञ्चिद् वेदनं धर्मः इत्यादि सर्वेषां तत्त्वानां धर्मं विमृशन् पुरुषः पृथक् न भवेत्, किं तु विवेकज्ञानात्मकाभेदख्यातिमान् भवेत्। प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानात् मोक्षः इति निर्वाहितम् ॥ ९५ ॥

अनुवाद—माया मोहन करने वाली है,[2] 'कुछ करना' कला (तत्त्व) में पाया

---

१. 'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।' —भगवद्गीता ।

२. मोहयति अनेन शक्तिविशेषेण इति वा माया शक्तिः ।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी १।३५

जाता है, इसी प्रकार (विभिन्न) तत्त्वों के (विभिन्न) धर्म का आकलन करता हुआ (पुरुष)[1] केवल योगी नहीं रहता (अपितु अभेदज्ञानी हो जाता है) ॥ ९५ ॥

मायातत्त्व के संबंध में द्रष्टव्य—

माया च नाम देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी ।
भेदावभास स्वातन्त्र्य तथा हि तया कृतः ॥ —तन्त्रालोक ६।११६
'माया विभेदबुद्धिर्निजांशजातेषु विकल्पशिल्पनि ।
मायेति लोकपतेः परमस्वतन्त्र्यस्य मोहिनी शक्तिः ॥'
—महार्थमंजरी, श्लोक १७ पृ० ४६

इयमेव हि तस्य स्वातन्त्र्योत्कर्षकाष्ठा यत् स्वात्मावभासैकात्मजीवितजाति-भेदप्रभेदवैचित्र्योत्पादनप्रावीण्यम्—येन अतिदुर्घटकारी परमेश्वर इत्याद्युद्घोष्यते···। माया व्यतिरेकेण भेदप्रथा पारमार्थस्य प्रपञ्चस्य अभावः तदभावे च तत्प्रतियागिकस्य परमेश्वरस्य ऐश्वर्यानुपत्तिरिति किञ्चिदपि ऊहयेत् तदियं माया नाम तस्य उत्कृष्टं स्वातन्त्र्यम् । —महार्थमंजरी टीका पृ० ४७

माया प्रथम भेद प्रथा है, जो समग्र भावी भेदों को गर्भित करने के कारण परा निशा है ।

आद्यो भेदावभासो यो विभागमनुपेयिवान् ।
गर्भीकृतानिन्तभा विविभासा सा परानिशा ॥ —तन्त्रालोक ६।११६

वह भेदरूपिणी है, जड़ है, क्योंकि इसके सभी कार्य जड़ हैं । विश्व का बीज होने के कारण व्यापिका है । सूक्ष्म है क्योंकि बोधगम्य है, शिवशक्ति से अभिन्न होने के कारण नित्य है तथा सृष्टि का मूल कारण है—

सा जडा भेदरूपत्वात् कार्या चास्या जडं यत् ।
व्यापिनी शिवहेतुत्वात् सूक्ष्मा कार्यकल्पनात् ॥
शिवशक्त्यविनाभावात् नित्यैका मूलकारणम् ॥ —तन्त्रालोक ६।११७

१. (क) द्रष्टव्य परमार्थसार का १६वाँ शोधनिबन्ध, श्रीमती कमला द्विवेदी पृ० ३३ ।

साथ ही पुरुषतत्त्व के संबंध में उल्लेखनीय अवतरण—कलाविद्याकालरागनियति-भिरोतप्रातो माययापहृतैश्वर्यसर्वस्वः सन् पुनरपि प्रतिवितीर्ण तत्सर्वस्वराशिमध्यगत-भागमात्र एवं भूतोऽयं मितः प्रमाता भाति इदानीमिदं किञ्चिज्जानानः, इदं कुर्वाणोऽत्र रक्तः, अमैव चयः सोऽहम् ।

—विमर्शिनी (भास्करी) भाग २ पृ० २२८

इदमेव च पञ्चविशं पुंसत्वमित्युच्यते यत् श्रीपूर्णशास्त्रेषु पुमानिति अणुरित पुद्गलमिति चोक्तम् । —तन्त्रालोक टीका भाग ६, पृ० १६५

पर एव प्रकाशः स्वस्वातन्त्र्यात् स्वं रूपं गोपयित्वा यदा सङ्कुचितात्मतामव-भासयति तदा सकल एवायं भेद व्यवहार समुल्लसेत् । —वही पृ० १५६

झगितोच्छां समुत्पन्नामवलोक्य शमं नयेत् ।
यत एव समुद्भूता ततस्तत्रैव लीयते ॥ ९६ ॥

माया ग्रहीत सङ्कोचः शिवः पुंस्त्वमुच्यते ।
—अनुत्तरप्रकाशपंचाशिका, श्लोक २२

महार्थमंजरी टीका में कहा गया है कि विश्व नाटक के नट शंभु की विश्व नाट्य के लिए उन्मुख होने पर भूमिका का ग्रहण ही पुरुषावस्था का पुरुषत्व है—

तस्य च विश्वनाट्याद्येभिनयोन्मुखस्य भूमिकावलम्बनलक्षणेनार्धनया अवस्था सा पुरूषो भवति । —महार्थमंजरी पृ० ५१

(ख) परमार्थसार में इन पाँचों कञ्चुकों का क्रम है—काल, कला, नियति, राग, विद्या ।

'अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिका' का क्रम है—'कला, विद्या, राग, काल, नियतिबन्ध उच्यते ।'

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में क्रम है—काल, विद्या, कला राग तथा नियति । —देखिए, भास्करी भाग २, पृ० २३७-३८ ।

तन्त्रालोक में कहा गया है कि विद्या, राग, नियति तथा काल कला ये कार्य है, इस प्रकार कला प्रथम तत्त्व होगा । विद्या रागोऽथ नियतिः कालश्चैतच्चतुष्टयम् । कलाकार्यम् । —तन्त्रालोक ६।१६१

पाँचों कञ्चुकों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

कालक्रममासूयन् प्रमातरि विजृम्भमाणस्तदनुसारेण प्रमेयेऽपि प्रसरति, योऽहं कृशोऽभवं स स्थूलो वर्तम्, भविष्यामि स्थूलतरः, इत्येवमात्मानं देहरूपं क्रमवन्तमिव परामृशस्तत्सहचारिणि प्रमेयेऽपि भूतादिरूपं क्रमं प्रकाशयति अस्य शून्यादेर्जडस्य विद्या किञ्चिज्ज्ञत्वोन्मीलनरूपा बुद्धिदर्पणसङ्क्रान्तं भावराशिं नीलसुखावादिं विविनक्ति । कला किञ्चित् कर्तृत्वोपोद्बलनमयी कार्यमुद्भावयति, किञ्चित् जानमि, किञ्चित् करोमीति । अत्र चांशेतुल्येऽपि किञ्चित्वे कस्यादिदमेव किञ्चित् इत्यत्रार्थमत्रिस्वं गरूपः प्रमातरिदेहादौ प्रमेये च गुणाद्यारोपणमय इव रागी व्याप्रियते ।···अत्रैव कस्यात्रिण्वङ्गः इत्ययमथा नियत्या नियम्यत इति ।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भास्करी भाग २, पृष्ठ २३७-३८

'षट्त्रिंशत् तत्त्वसन्दोह' का श्लोक ७ भी दृष्टव्य है—

सम्पूर्णकर्तृकायाः वह्नयः सन्ति शक्तयस्तस्य ।
सङ्कोचात् कलादिरूपेण रूढयन्त्येव ॥

पाँचों तत्त्वों में क्रम-भेद का मुख्य कारण पुरुष भेद के अनुसार प्रतीति भेद है । —स्वच्छन्दतन्त्र टीका भाग ६ पृ० ४६-४७ ।

(ग) कलातत्त्व के सम्बन्ध में—

षड्विंशतितत्त्वसन्दोह । —श्लोक ७

अवलोक्य अन्तर्मुखत्वेन विमृश्य, इच्छां पुत्राद्येषणाम् इदं मे स्यात् इत्येवम्प्रकाराम् एषणां समुत्पन्नाम्—अमूर्तादपि चिन्मात्रात् मायाकृतक्षोभवशात् उद्भूतां दृष्ट्वा, शीघ्रं शान्तिं प्रापयेत्। अमूर्तो हि चिन्मात्रात्मा मध्येऽज्ञानेनैव प्रकटितेच्छः, चिन्मात्रस्य निराकारत्वात् नास्ति इच्छा, परन्तु इष्यमाणम् एषणादिकं वा अविद्यैव इति दृष्ट्या शान्तेच्छो भवेत्। यतो यस्मात् अविद्ययैव उद्भूता इच्छा, अविद्या हि आकाशात्मिका, ततस्तत्रैव लीना भवेत्, तेन हि निर्विकल्पदशाप्राप्तिः। इच्छायाः शान्तिनयनासम्भवे तु पूर्वपदार्थेच्छानन्तरम् इष्यमाणविषयं चिन्तान्तरं भवेदेव इति चेत्, तर्हि—

'एकचिन्ताप्रसक्तस्य'। (स्प० ३ उ० ९ का०)

इति-नयेन उन्मेषधारणाभ्यासेन इष्यमाणविषयद्वयम् उपशान्तमेव स्यात्। तस्माद् विषयद्वयचिन्ताद्वयान्ते व्यापकतया अनुभूयमानमुन्मेषमेव ध्यायेत्। तेन उन्मेषात् उद्भूता एका चिन्ता, तस्मिन्नेव अन्यापि लीयते, इति चिन्ताद्वयैकानुसन्धातृधारणाबलात् द्वयमपि क्षीयते। यदभिप्रायेण—

'न चित्तं निक्षिपेद् दुःखे·····।'

इति।

'यत्र यत्र मनो याति तत्तत् तेनैव तत्क्षणम्।
परित्यज्य····· ····· ···॥'

तन्त्रालोक—६ पृ० १३६, व १४२
नियति के संबंध में—
परात्रवेशिका पृ० ९,
मालिनीविजयोतन्त्र १।२९,
तन्त्रालोक भाग ६ पृ० ६०
तन्त्रालोक टीका पृ० ४६
षड्विंशतितत्त्वसंदोह पृ० १२
रागतत्त्व के संबंध में मालिनीविजयोत्तरतन्त्र १-२८
तन्त्रालोक भाग ६ पृ० १५७
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भा० २ पृ० २३८
विद्या-तत्त्व के सम्बन्ध में षड्विंशतितत्त्वसन्दोह का श्लोक ९ द्रष्टव्य है।
श्रीक्रमोदय ने इन पाँचों कञ्चुकों को पाश कहा है—
रागो-माया-कला विद्या नियतिः काल एव च॥
पञ्चकृत्याश्रयाः सर्वपाशाश्चेति प्रकीर्तिताः॥
पाँचों तत्त्वों और उनके कञ्चुक होने के सम्बन्ध में महार्थमञ्जरी की टीका भी उल्लेखनीय है—महार्थमञ्जरी टीका,,पृ० ४९।

इत्यादि उपदेक्ष्यति अग्रे, तत् साधु उक्तम्—'यत एव समुद्भूता ततस्तत्रैव लीयते।' इति। तेन यत उन्मेषरूपात् स्पन्दभट्टारकात् उद्भूता, ततः तस्मिन्नेव लीयते। यदुक्तं वसुगुप्तपादैः—

'एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत्॥'

(स्प० ३ उ० ९ का०)

इति॥ ९६॥

अनुवाद—ज्यों ही इच्छा उत्पन्न हो, उस (इच्छा) को देखते ही वहीं शमन कर देना चाहिए। क्योंकि जहाँ से (वह) उत्पन्न हुई है वहीं लय हो जाती है॥

व्याख्या—इच्छा के उत्पन्न होते ही अन्तर्मुख होकर विचार करना चाहिए। क्या पुत्र प्राप्ति की इच्छा हुई है—इस प्रकार की एषणा के उत्पन्न होते ही, अमूर्त अवस्था में ही चिन्मात्र माया कृत क्षोभ से उत्पन्न होने वाली जातमात्र एषणा को देखते ही शीघ्र ही उसका शमन करना चाहिए। अभिप्राय यह है अमूर्तरूप चिन्मात्र आत्मा के भीतर अज्ञान से ही इच्छा उत्पन्न होती है। इसी लिए विचार करना चाहिए कि जब चिन्मात्रा निराकार है, तो उससे उत्पन्न हुई इच्छा भी निराकार है, तथापि इष्यमाण एषणा को भी अविद्या होने से शान्तेच्छ हो जाना चाहिए। क्योंकि जिस अविद्या से इच्छा उत्पन्न हुई है, वह भी अविद्या ही है और उसका स्वरूप विचार करें तो वह आकाशात्मक है। इसलिए वह आकाश में ही लीन हो जायेगी।

कहते हैं कि यदि इच्छा को शान्त करना असम्भव हो तो पूर्व पदार्थ में इच्छा के बाद इष्यमाण विषय की एक चिन्तान्तर (इच्छान्तर) उत्पन्न हो जायेगी। ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर स्पन्दकारिका में बताये गये क्रम के अनुसार—एकचिन्ता प्रसक्त न्याय से, उन्मेष धारणा के अभ्यास से इष्यमाण विषयक दोनों एषणाएँ उपशान्त हो जायेंगी। इसीलिए विषयद्वय की चिन्ता के अन्य में व्यापक होने के कारण अनुभूति में आने वाले उन्मेष पर ही ध्यान करना चाहिए। उससे उन्मेष से उत्पन्न होने वाली चिन्ता उसी में लय होकर दूसरी चिन्ता भी उसी में लय हो जायेगी। दोनों चिन्ताओं का एक साथ अनुसन्धान कर धारणा करने के बल से दोनों ही क्षय हो जायेगी। इसी अभिप्राय से—'चित्त को दुःख में नहीं डालना चाहिए। जहाँ-जहाँ मन जाता है उसको उसी तत्क्षण परित्याग करना चाहिए' इत्यादि उपदेश करते हुए यह बहुत ही उत्तम कहा गया है कि—जहाँ से ये उत्पन्न हुई है, वहीं पर इनका लय भी होता है। अर्थात् जिस निमेष से ये उत्पन्न होती है उसी स्पन्दभट्टारक के भीतर लय हो जाती है।'[1] जैसा वसुगुप्तपाद ने भी कहा है—'एक चिन्ता में लगे हुए पुरुष को, जहाँ दूसरी चिन्ता उत्पन्न होती है, उसी का नाम उन्मेष है। उन्मेष होने पर साधक को सर्वप्रथम उन्मेष को ही देखना चाहिए। कि यह क्यों उत्पन्न हुआ?'

---

१. 'यद् एव समुद्भूता ततस्तत्रैव लीयते।'

यदा ममेच्छा नोत्पन्ना ज्ञानं वा कस्तदास्मि वै ।
तत्त्वतोऽहं तथा भूतस्तल्लीनस्तन्मना भवेत् ॥ ९७ ॥

ज्ञानम् इति क्रियाया उपलक्षणम्, इच्छाज्ञानक्रियाणाम् अनाविर्भावे अहमेव नास्मि, किन्तु चिदानन्दरूप एव अस्ति इत्यर्थः । चिन्निर्वृतीच्छाज्ञानक्रिया हि आत्मनः शक्तयो वस्तुतः सर्वासु दशासु, न पुनः तस्मिन्नेव समये, तथाभूतः चिदानन्दात्मकः ॥ ९७ ॥

अनुवाद—जब मेरी इच्छा और ज्ञान (क्रिया) उत्पन्न नहीं है तो मैं स्वयं भी नहीं हूँ । उस अवस्था में (केवल चिदानन्द मात्र है) तत्त्वतः स्वयं भी वैसा होकर तल्लीन और तन्मय हो जाता है ॥ ९७ ॥

व्याख्या—इच्छा ज्ञान और क्रिया रूप सन्दोह के उत्पन्न होने पर—'मैं करता हूँ' 'मैं चलता हूँ' इत्यादि ज्ञान या क्रिया उत्पन्न होती है । वह ज्ञान या क्रिया वस्तुतः अहं स्वरूप है और जब मनुष्य उसमें लय हो जाता है, तब तन्मय हो जाता है । यह गुरुओं का उपदेश है। जैसा कि स्पन्दकारिका में कहा है—इच्छा ज्ञान और क्रिया के द्वारा गुणों का स्पन्दन (प्रवाह) सामान्य स्पर्शमात्र का आश्रय करने से आत्मलाभ को प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि विवेक के साथ निरन्तर अभ्यास करने से ये ज्ञान के अपरिपन्थी हो जाते हैं[1] । ये अप्रबुद्ध बुद्धि वाले के लिए स्वस्थिति को स्थापित करने के लिए उद्योग करते हैं । अत्यन्त दुस्तर घोर संसार मार्ग में उसे ढकेल देते हैं । अतः निरन्तरर उद्योगशील रह कर स्पन्दतत्त्व के विवेचन के लिए जागृत रहना चाहिए । जिससे अपने वास्तविक स्वरूप को शीघ्र ही प्राप्त कर सकेंगे[2] । इत्यादि वर्णन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है ॥ ९७ ॥

इच्छायामथवा ज्ञाने जाते चित्तं निवेशयेत् ।
आत्मबुद्ध्यानन्यचेतास्ततस्तत्त्वार्थदर्शनम् ॥ ९८ ॥

इच्छायां जातमात्रायाम्, अथवा ज्ञाने जाते सति, विषयसङ्कल्पं विहाय, आत्मैव एतत् इति बुद्ध्या चित्तं निक्षिपेत्, तेनैव परमार्थज्ञानं भवेत् ।

'अयम् आत्मा ब्रह्म' ।

इति श्रुतेः । सालम्बापरपर्यायसाकारभावना इयम् ॥ ९८ ॥

---

१. 'गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात् ।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्न्यस्यापरिपन्थिनः ॥

२. 'अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः ।
पातयन्ति दुरुत्तारे घोरे संसारवर्त्मनि ॥
अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविवित्तये ।
जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधिगच्छति ॥' —स्पन्दे

अनुवाद—इच्छा अथवा ज्ञान के उत्पन्न होते ही उन्हे आत्मा समझकर चित्त को उसी में लगाये ऐसे अनन्यचेता (योगी) को इस प्रकार परमार्थ का साक्षात्कार होता है ॥ ९८ ॥

व्याख्या—इच्छा के उत्पन्न होते ही अथवा ज्ञान के उत्पन्न होते ही, विषय संकल्प का त्यागकर— 'यह आत्मा का ही स्पन्दन है' इस प्रकार का चिन्तन करना चाहिए, क्योंकि उसी से परमार्थ ज्ञान की उत्पत्ति होगी। इसमें 'अयं आत्मा ब्रह्म' या यह आत्मा ब्रह्मस्वरूप है—इस वेद-वचन के आधार पर यह साकार भावना है। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' का प्रतीक है ॥ ९८ ॥

ज्ञानमेव क्षणिकं सन्तानस्वरूपं, न तु तस्य कश्चित् ज्ञाता आधारः इति सौगतदर्शनं कटाक्षयन्, उपदिशति शाक्तोपायम्—

निर्निमित्तं भवेज्ज्ञानं निराधारं भ्रमात्मकम् ।
तत्त्वतः कस्यचिन्नैतदेवम्भावी शिवः प्रिये ॥ ९९ ॥

यत् इदं घटादिज्ञानं तत् निराश्रयं—स्थिरस्य कस्यचिद् आत्मनो घटादेराधारस्य वा अवास्तवत्वात्, अत एव निर्हेतुकं—चक्षुरालोकादिनिमित्तस्यापि अवास्तवत्वात्, भ्रमात्मकं मायावशोत्थितं विकल्पात्मकत्वात्—ज्ञानव्यतिरिक्तस्य अन्यस्य अभावात्। स इव अयं घटः इति संवेदनं तु योऽयं—वितस्तायाः प्रवाहः इतिवत् भ्रान्तिरेव इत्यर्थः। एवं भावनापरः शिवः एव ॥ ९९ ॥

अब क्षणिक ज्ञान परम्परा ही आत्मा का स्वरूप है। कोई ज्ञाता इसका आधार नहीं है—इस प्रकार के बौद्धदर्शन पर कटाक्ष करते हुए शाक्तोपाय बतलाया जा रहा है—

अनुवाद—(स्थायी) आधार के बिना ज्ञान निर्हेतुक होने के कारण भ्रमात्मक है। तत्त्वतः यह किसी का नहीं है, ऐसा सोचने वाला, प्रिये ! 'शिव' हो जाता है ॥९९॥

व्याख्या—यह घट है, यह पट है—यह ज्ञान यदि क्षणिक विज्ञान रूप हो और इसका कोई स्थिर आश्रय भी नहीं हो तो यह उत्पन्न होने वाला ज्ञान अवास्तविक होने के कारण बिना हेतु का हो जायेगा। 'नेत्र' और 'प्रकाश' आदि निमित्त भी क्षणिक होने के कारण अवास्तविक और मायिक ही रहेंगे, क्योंकि इस मत में ज्ञानादि भिन्न अन्य वस्तु के अभाव के कारण कोई आश्रय नहीं हो सकता है। तब फिर क्षणिक ज्ञानादि भी काल्पनिक ही रहेंगे। 'यह वही घट है, जिसे मैंने पहले देखा था'—यह भावना भी 'यह वही वितस्ता का प्रवाह है'—के समान ही भ्रान्तिजनक होगी।

अतः इस प्रकार की भावना में आश्रय शिव ही आश्रय हो सकता है और उसका आधार भी वही है ॥ ९९ ॥

चिद्धर्मा सर्वदेहेषु विशेषो नास्ति कुत्रचित् ।
अतश्च तन्मयं सर्वं भावयन् भवजिज्जनः ॥ १०० ॥

चित् ज्ञानं, क्रिया वा धर्मो गुणो यस्य सः चिद्धर्मा—चेतनः—

'धर्मादनिच् केवलात्' । (पा० व्या० ५।४।१२४)

इति अनिच् । सर्वदेहेषु हस्तिपिपीलिकादिशरीरेषु, कीटादिसदाशिवान्तं नास्ति कश्चिद् भेदः । तन्मयं—चिन्मयं चैतन्यस्य साधारणत्वात् । यदुक्तं ब्रह्मदर्शने—

'यैव चिद्गगनाभोगभूषणे व्योम्नि भास्करे ।
धराविवरकोशस्थे सैव चित्कीटकोदरे ॥'

इति । भावयन् इति निर्विशेषं ब्रह्म सर्वत्र अस्ति इति बोधमेवं धारयन्, न तु श्वश्वपाकादिना सह उपवेशनभोजनादिकं व्यापारम् आचरन् इति ज्ञानप्रकर्ष एव उक्तः, अन्यथा—

'बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥'

इति ॥ १०० ॥

अनुवाद—सभी शरीरों में चैतन्य धर्मा आत्मा ही व्याप्त है, उससे विशेष अन्य कहीं नहीं है । अतः सभी (ज्ञान, क्रिया) ईश्वरमय है—इस प्रकार भावना करता हुआ मनुष्य (योगी) संसार पर विजय प्राप्त करता है ॥ १०० ॥

व्याख्या—चिन्मय ज्ञान या क्रिया ही जिसका गुण है अर्थात् चेतनधर्मा प्राणी सभी शरीरों में (अर्थात् हाथी से लेकर चींटी पर्यन्त शरीरों में अथवा कीटादि से लेकर शिव पर्यन्त में कोई भेद नहीं है, क्योंकि चेतनधर्म सभी में समान रूप से है । इस प्रकार की भावना करते हुए सर्वत्र निर्विशेष ब्रह्म को देखने वाला योगी उत्कर्ष ज्ञान के प्रकर्ष को प्राप्त होता है । इसका अभिप्राय यह है कि 'कुत्ते से लेकर चाण्डाल पर्यन्त सर्वत्र चैतन्य धर्म को देखने वाला योगी है, न कि कुत्ते और चाण्डाल के साथ खाने वाला (योगी है) । इसीलिए ब्रह्मदर्शन में कहा गया है 'जो चैतन्याकाश में स्थित सूर्य में, पृथ्वी के बिल के भीतर स्थित कीट आदि में समान दृष्टि रखता है, वह योगी है । अथवा अद्वैत सत् तत्त्व के ज्ञाता योगी में तथा यथेष्टाचार करने वाले सामान्य जीवों में अन्तर क्या रहेगा ? यदि अपवित्र वस्तु खाने वाले कुत्ते में और योगी में भी समान व्यवहार किया जाय ॥ १०० ॥

इदानीम् अतिशयितकामक्रोधाद्यवस्थासु स्वरसत एव समस्तापरवृत्तिक्षयमया यदि स्पन्दतत्त्वविविक्तये समद्युक्ता झगिति अन्तर्मुखीभवन्ति योगिनः, तत् समीहितम् अचिरेणैव लभन्ते । अयोगिनस्तु अत्र मूढा एव, तस्मात् एतद्

वृत्तिक्षयपदं सञ्चेत्य झगिति कूर्माङ्गसङ्कोचयुक्त्या क्रोधसंशयवृत्तीः प्रशमय्य महाविकासव्याप्तियुक्त्या प्रहर्षधावनवृत्तीर्विस्फार्य अभिमुखीभूतनिजस्पन्द-शक्तिविमर्शवता योगिना भाव्यम् इति उपदिशति—

कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यगोचरे ।
बुद्धिं निस्तिमितां कृत्वा तत्तत्त्वमवशिष्यते ॥ १०१ ॥

कामादिरूपे गोचरे तदास्पदे अरिषड्वर्गे, अवतरण्युक्तनीत्या एकाग्रां बुद्धिं स्वसंविदं विधाय तत् तत्त्वम् अवशिष्यते। कामादिविषये तदैकाग्र्यप्रकर्षात् अपहारितबाह्यविषयाश्लेषं चिदानन्दमयत्वमेव जायते इति वृत्त्यन्तरम्। एषा निर्विकल्पौपयिकी शाम्भवी भूः ॥ १०१ ॥

अनुवाद—'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य में बुद्धि को जाने से रोक लेने पर वही परम तत्त्व बचा रहता है ॥ १०१ ॥

व्याख्या—अभिप्राय यह है कि कामादि विषयों में मनुष्य की एकाग्रता बहुत शीघ्र ही हो जाती है। अतः कामादि आसक्तियों के समय बुद्धि को स्थिर कर, बाह्य विषयों में से हटाकर निरोध करने वाली वृत्ति का निरन्तर चिन्तन करने पर साधक की वृत्ति चिदानन्दमय हो जायेगी ॥ १०१ ॥

इन्द्रजालमयं विश्वं व्यस्तं वा चित्रकर्मवत् ।
भ्रमद्वा ध्यायतः सर्वं पश्यतश्च सुखोद्गमः ॥ १०२ ॥

विश्वं ग्राह्यग्राहकात्मकं जगत्। भ्रमत् इति नावारूढस्य गच्छत् तरु-पर्वतवत् जन्मादि ॥ १०२ ॥

अनुवाद—सम्पूर्ण विश्व को इन्द्रजाल मय अथवा चित्रकर्म के समान विकीर्ण अथवा घूमता हुआ ध्यान करने से और देखने से सुख का उदय होता है ॥ १०२ ॥

न चित्तं निक्षिपेद् दुःखे न सुखे वा परिक्षिपेत् ।
भैरवि ज्ञायतां मध्ये किं तत्त्वमवशिष्यते ॥ १०३ ॥

सुखदुःखयोः विषये चित्तस्थापनं न विधेयम्—अहं सुखी अहं दुःखी इति। शुद्धे स्वात्मनि अन्तःकरणधर्मान् सुखदुःखादीन् अध्यस्य न स्थेयं, किं तु ज्ञायतां त्वया—स्वयमेव विचारय मध्ये किं तत्त्वम् अवशिष्यते इति। सुखदुःखयोः मध्ये यत् तत्त्वं तत्साक्षिभूतं तदनुसन्धातृ एकं चित्तत्त्वम्, ऐकाग्र्येण तदेव विमृश इत्यर्थः ॥ १०३ ॥

अनुवाद—न तो चित्त को दुःख में डालना चाहिए और न सुख में ही। भैरवि ! जानना तो यह चाहिए कि (दोनों के) बीच क्या तत्त्व बचा रहता है ॥ १०३ ॥

इदानीं पूर्णाहन्ताग्रहणेन देहाद्यहन्ताहानेन चिदानन्दव्याप्तिम् उपदिशति—

विहाय निजदेहास्थां सर्वत्रास्मीति भावयन् ।
दृढेन मनसा दृष्ट्या नान्येक्षिण्या सुखी भवेत् ।। १०४ ।।

निजदेहे आस्थां–स्वदेहे प्रमातृतां विहाय सर्वमहम् इति सदाशिवेश्वरवत् न तु—

'चिद्धर्मा·····।'

इति उक्तचिन्मात्रात्मशिववत्, दृढेन–निःसंशयेन, मनसा चित्तेन, तथा दृष्ट्या स्वसंविदा, नान्येक्षिण्या प्रोक्तवस्तुविमर्शैकाग्रतया, भावयन्, सुखी भवेत् । अत्र शिवशक्तिसामरस्यात्मनि विश्वाहम्भावे बहुशो व्याचक्षिरे, ईदृशोऽहम्भावोऽपि तत्त्वमञ्जरीकारेण अपह्नुतो, यत् सौगतमतानुमोदनरसिकेन संवादितम्—

'यतस्ततो वास्तु भयं यद्यहं नाम किञ्चन ।
अहमेव न किञ्चिच्चेद्भयं कस्योपजायते ।।'

इति । यदाहुः सौगता अपि—

'सत्यात्मनि परसंज्ञा स्वपरविभागे च रागविद्वेषौ ।
अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ।।'

इति । विमर्शदीपिकायां तु—

'विश्वात्म विश्वोत्तीर्णं च स्वतन्त्रं दिव्यमक्षरम् ।
अहमित्युत्तमं तत्त्वं समाविश्य बिभेति कः ।।'

इति प्रतिपन्नम् । पूर्वगुरुणापि—

'एककोऽहमिति संसृतौ जनस्त्राससाहसरसेन खिद्यते ।
एककोऽहमिति कोऽपरोऽस्ति मे इत्थमस्मि गतभीर्व्यवस्थितः ।।'

इत्यादिना प्रतिग्रन्थं भगवान् अहं-रूप एव परामृष्टः । श्रीह्रस्वनाथेन हर्षदत्तसूनुनापि—

'अहङ्कारमयी भूमिः·····।'

इत्यादिना अद्वयसम्पत्तौ । परिमिताहम्भावस्तु परिहरणीयः । तदुक्तं तपस्विराजेन—

'सुविषममतादंष्ट्राविदलितजनधैर्यशोणितपिपासुः ।
अहमिति पिशाच एष त्वत्स्मृतिमात्रेण किङ्करीभवति ।।'

इति ।। १०४ ।।

अनुवाद—अपने शरीर के प्रति आस्था का त्याग कर 'मैं सर्वत्र विद्यमान हूँ, इस प्रकार की भावना करते हुए दृढ़ मन से एकाग्र दृष्टि द्वारा चिन्तन करने पर मनुष्य सुखी हो जाता है ॥ १०४ ॥

व्याख्या—आस्था को त्याग कर अपने शरीर में—'सब कुछ मैं ही हूँ, सदाशिव ईश्वर[1] के समान सर्वत्र व्यापक हूँ'—इस प्रकार चिन्मय आत्मशिवतत्त्व में निस्संदिग्ध चित्त से स्वसंवित् दृष्टि के द्वारा अन्य सभी दृश्य वस्तुओं को नहीं देखते हुए चिन्मय तत्त्व का एकाग्रता से चिन्तन करते हुए मनुष्य सुखी हो जाता है। यहाँ शिवशक्ति सामरस्यात्मक 'विश्वाहम्' भाव की अनेक प्रकार से व्याख्या करते हैं। ऐसे अहंभाव को भी तत्त्वमंजरीकार ने गोपन करके बौद्धमत का उपदेश दिया है—'यदि मैं कुछ वस्तु हूँ, तो जहाँ का भी भय उत्पन्न हो सकता है, किन्तु यदि मैं ही कुछ नहीं हूँ तो फिर भय किसे उत्पन्न होगा'। इस प्रकार बौद्धों ने भी कहा है—'जब हमारा अस्तित्व है तो संसार में कोई दूसरा हो सकता है और जब दो होंगे तब ही स्व और पर दो विभाग हो सकेंगे। परापर विभाग होंगे तब ही रागद्वेष उत्पन्न हो सकते हैं। अर्थात् रागद्वेष की उत्पत्ति के द्वारा ही सारे दोष उत्पन्न हो सकते हैं। विमर्श-दीपिका में भी ऐसा ही कहा है—'आत्मतत्त्व सारे विश्व में व्याप्त है। वह स्वतंत्र, दिव्य तथा अक्षर (अविनाशी) है। उसी को अहं तत्त्व कहते हैं। उसमें समा जाने पर कौन डरेगा।' तात्पर्य यह है कि वहाँ शोक, मोह और राग-द्वेष कैसे हो सकते हैं, जब (साधक) सारे जगत् को आत्मस्वरूप समझने लगता है। पूर्व गुरुओं द्वारा भी

---

१. सदाशिवतत्त्व के सम्बन्ध में यह अंश द्रष्टव्य है—

तत्र प्रोन्मीलितमात्रचित्रकल्पतया इदमंशस्यास्फुलात् इच्छाप्राधान्यम्। तथा च सदाशिवतत्त्वे अहन्ताच्छादितास्फुटेन्तामयं यादृशं परापररूपं विश्वं ग्राह्यं तादृगेव श्रीसदाशिवभट्टारकाधिष्ठितो मन्त्रमहेश्वराख्यः प्रभातवर्गपरमेश्वरेच्छावकाल्पितथाव-स्थानः। —प्रत्यभिज्ञाहृदय सं० ३ का वृत्तिभाग।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में सदाशिव को सादाख्य तत्त्व कहा गया है, जिसके आनन्तर ज्ञान दशा का प्राधान्य रहता है—

यद्यप्येकमेव शिवतत्त्वं तथापि तदीयमेव स्वातन्त्र्यं स्वात्मनि स्वरूपभेदं तावत् प्रतिबिम्बकल्पतया दर्शयति—'ततश्चान्तरी ज्ञानरूपा या दशा तस्या उद्रैकाभासने सादाख्यम्' सदाख्यायां भव्यम्। यतः प्रभृति सदिति प्रख्या।

—द्रष्टव्य भास्करी, भा० २, पृ० २१७-१८

इसके पूर्व शक्ति आदि की अवस्था में असत् प्रतियोगी को नहीं माना जा सकता। इसीलिए शक्तितत्त्व का महाशून्य का अतिशून्य भी कहा है। उपर्युक्त संदर्भ में भास्करकंठ का व्याख्यान उल्लेखनीय है—

सदिति प्रख्या, सदिति प्रसिद्धिः। अतः पूर्वं हि शक्त्यादौ असदित्यनेन प्रतियोगिता परिमितीकृता सताविन युक्तेति भावः।

—भास्करी, भाग २, पृ० २१८

इसका समर्थन किया गया है—'मैं अकेला कौन हूँ'—ऐसा विचार करने पर मनुष्य संसार से त्रास पा सकता है और भास से बचने के लिए कष्ट भी उठाता है, लेकिन जब यह भावना हो जाय कि—'सम्पूर्ण विश्व में मैं ही अकेला हूँ, मुझसे अन्य कोई है ही नहीं, ऐसा विचार कर लेने मात्र से निर्भय होकर रहता है।'[1] इत्यादि अनेक ग्रन्थों में भगवान् ने अहं रूप का परामर्श करने का उपदेश दिया है। इसी प्रकार हरदत्त के पुत्र हृस्वनाथ ने भी अद्वयसम्पत्ति में ऐसा ही वर्णन किया है। उनका मत है–'परिमित अहंभाव को त्याग कर व्यापक अहंभाव को ग्रहण करना चाहिए। तपस्वीराज का भी मत है—'हे प्रभो! अत्यन्त विषम ममतारूपी दाढ़ से फाड़कर मनुष्यों के धैर्यरूपी शोणित को पीने की इच्छा वाला यह अहंकार रूपी पिशाच तुम्हारी स्मृति मात्र से दास बन जाता है॥ १०४॥

घटादौ यच्च विज्ञानमिच्छाद्यं वा ममान्तरे।
नैव सर्वगतं जातं भावयन्निति सर्वगः॥ १०५॥

सर्वत्र परिदृश्यमानं यद् घटादौ विज्ञानं, यत् च मदन्तरे इच्छादिकं,

---

१. द्रष्टव्य—परमार्थसार की का० ५२ पृष्ठ ७५ : शोध-निबन्ध; परमार्थसार, श्रीमती कमला द्विवेदी :

इस प्रकार तत्त्वसमूह के भावना द्वारा शिवमयता पा लेने पर सब कुछ को ब्रह्म देखने वाले को क्या शोक और क्यों मोह—

इत्थं तत्त्वसमूहे भावनया शिवमयत्वमत्रियाते।
कः शोकः को मोहः सर्वं ब्रह्मावलोकयतः॥

तुलना कीजिए—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः॥
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥

—ईशावास्योपनिषत्, ७

तरित शोकमात्मवित्। —छान्दोग्य, ७।१।३
शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति। —बृहदारण्यकोपनिषत् ३।५।१
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।
—तैत्तिरीयोपनिषद्, २।९
अयमेव वै जनकप्राप्तोऽसि। —बृहदारण्यकोपनिषद् ४।२

तथा—

आत्मनो न कुतश्चन बिभेति सर्वं हि तस्य निजरूपम्।
नैव च शोचिति यस्मात् परमार्थे नाशिता नास्ति॥

—परमार्थसार ५७

तत् सर्वं जातमेव न भवति इति शून्यरूपतया भावयन्, सर्वगः स्यात् इति अन्ये।

अस्मदीयो विवेकस्तु यथा—घटादौ विषये यत् अस्मदादेर्विषयिणो ज्ञानम्, इच्छाद्यं वा यत् च अस्ति, यत् ममैव अन्तरे हृदयमध्ये नैव, किं तु सर्वगतं जातं तत् भवति इति अन्वयः। एव-कारो भिन्नक्रमः स तु मम इति अनन्तरं बोद्धव्यः। सर्वेषां घटादीनामपि अस्मदादिविषयं ज्ञानं इच्छाद्यं वा अस्ति तेन किं जातं, घटादयोऽपि जानन्ति अस्मदादि-ज्ञानेन, तथा सदाशिवादिरपि क्रिमिपर्यन्तं मदात्मना जानाति इच्छति वा, क्रिमिरपि अस्मदादिप्रभृति सदाशिवान्तं जानाति इच्छति च इति ज्ञानक्रियात्मकं सर्वं सर्वात्मकम् इत्थं भावयन् धारणां कुर्वन् सर्वगतो भवेत्। यदुक्तं सोमानन्दपादैः शिवदृष्टौ—

'घटो मदात्मना वेत्ति वेद्म्यहं च घटात्मना।
सदाशिवात्मना वेद्मि स वा वेत्ति मदात्मना॥
नानाभावैः स्वमात्मानं जानन्नास्ते स्वयं शिवः।'

इति॥ १०५॥

अनुवाद—घटादि (विषय) में जो विषयी का विज्ञान है और जो इच्छा आदि है, वह केवल मेरे में ही नहीं, अपितु सभी में विद्यमान है[1]—यह सोचने वाला सर्वगामी हो जाता है॥ १०५॥

व्याख्या—घटादि विषय में जो अस्मद् विषयक ज्ञान, इच्छा और क्रिया है, वह केवल मेरे ही भीतर है, यह बात नहीं; अपितु सभी व्यक्तियों में हैं। इसी प्रकार घटादिकों को जो अस्मद्विषयक ज्ञान है, वह भी केवल घटादिकों का ही नहीं, किन्तु सभी का है—ऐसी भावना करने से मनुष्य सर्वव्यापक परमात्मा को सहज ही में जान लेता है। इसी को 'सोमानन्दपाद' ने 'शिवदृष्टि' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट कहा है—'घट मुझे मेरी आत्मा के रूप में जानता है और मैं घट को घटात्मा रूप से जानता हूँ। मैं सदाशिव को सदाशिवात्मा रूप में जानता हूँ। इस प्रकार नाना भाव-नाओं से आत्मा आत्मा को जानता हुआ स्थित है॥ १०५॥

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम्।
योगिनां तु विशेषोऽस्ति सम्बन्धे सावधानता॥ १०६॥

---

१. इस कारिका के तीन पदों का भिन्न अर्थ इस प्रकार है—घटादि का विज्ञान तथा मेरे भीतर विद्यमान इच्छादि—यह सब हैं ही नहीं (अर्थात् विषय विज्ञान और इच्छादि शून्यात्मक हैं)।

सर्वदेहिनां सदाशिवादिकीटान्तानां, सामान्या निर्विशेषा। योगिनां तु पुनः सावधानता ग्राहकरूपाविस्मरणम् ॥ १०६ ॥

अनुवाद—ग्राह्य-ग्राहक की प्रतीति सभी प्राणियों में सामान्य रूप से होती है। योगियों की विशेषता यह है कि वे इस (ग्राह्य और ग्राहक के) सम्बन्ध में (ग्राहक का विस्मरण न करने के कारण) सावधान होते हैं ॥ १०६ ॥

व्याख्या—सभी प्राणियों का सदाशिव से लेकर कीट-पर्यन्त ग्राह्य-ग्राहकभाव सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सामान्य है (एक ही प्रकार का है), किन्तु योगियों में यह विशेषता है कि—'मैं ग्राहक हूँ और मेरा स्वरूप ऐसा है'—इसका विस्मरण नहीं होता। तात्पर्य यह है कि 'मैं आकृति को ग्रहण करने वाला हूँ' और 'दूसरे दिखलाई देने वाले दृश्यमात्र हैं। अतः ये सब अनित्य और नाशवान् हैं, और मैं नित्य और अविनाशी हूँ।' इस प्रकार की सावधानी बनी रहती है। यही योगियों की विशेषता है ॥ १०६ ॥

स्ववदन्यशरीरेऽपि संवित्तिमनुभावयेत्।
अपेक्षां स्वशरीरस्य त्यक्त्वा व्यापी दिनैर्भवेत् ॥ १०७ ॥

स्वकीयशरीरापेक्षां विहाय केवलं संविन्मात्रम् अन्यशरीरेऽपि अन्यदीय-बाह्यदेहेऽपि अनुगतं भावयेत्—स्वशरीराविनाकृतं संविद्रूपं बाह्ये परकाये विमृशेत्, येन—

'तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।'

इत्यादिना विदेहकैवल्यसिद्धिः।

'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।'

इति सर्वत्र ब्रह्मदर्शनमाहात्म्यात् महाविदेहकैवल्यं सिद्धयेत्। ततः पर-कायप्रवेशादिना तत्तन्नानाविधसात्त्विक्यादियोनिविषये तत्तत्कर्माचरणेच्छया विहरणसुखं योगिनो जायते। कथं? स्वदेहानपेक्षं संविद्रूपम् अनुवृत्तं परत्र भावयेत् इति उपमानमाह—स्ववत् इति। यथा स्वात्मनि स्वशरीरापेक्षां त्यक्त्वा स्वसंविद्रूपविमर्शनं भवति, तद्वत् अन्यशरीरे जीवद्भूते मृते वा संविद्रूपानुगतिभावना, इत्यत्र स्वेच्छैव योगिनः प्रमाणं, सजीवे वशिता-यत्रकामावसायितादिसिद्धिप्रादुर्भावफलम्, मृतेऽपि कस्मि-श्चिद्राजदेहादौ स्वसंविद्विमर्शनबलात् तत्कायप्रवेशेन तत्तत्क्रीडाविधान-मेव प्रयोजनम्। एतदुक्तं भवति—शरीरापेक्षा कदाचिदपि संविद्रूपस्य नास्ति कुतः संविद्रूपस्य सर्वत्र अनुगतत्वात् शरीराणाम् अननुगमेन व्यतिरेकात् यथा स्वप्ने चिदात्मनोऽनुवृत्तिः स्वप्नसाक्षित्वेन स्फुरणात्, स्थूलदेहस्य तु व्यावृत्तिरप्रतीतेः, सुषुप्तौ चिन्मात्रानुवृत्तिः—सुषुप्ता-

वस्थासाक्षित्वेन स्फुरणात्, अन्यथा सुप्तः कः ? इति प्रश्ने दत्ते तव किम् उत्तरं स्यात् इति आत्मनोऽनुवृत्तिरेव, लिङ्गदेहस्य तु व्यावृत्तिः—गाढनिद्रायां सुषुप्तौ आभासमात्रपदार्थदर्शनगन्धमात्रस्यापि अनुपलब्धेः। एवं समाध्यवस्थायां तुरीयदशायां शुद्धचिदानन्दस्फुरणावस्थानेन आत्मनोऽनुवृत्तिः—समाहितत्वात् तस्य, सुषुप्त्युपलक्षितस्य कारणदेहरूपस्य अज्ञानस्य अप्रतीतेर्व्यावृत्तिः इत्यर्थः। एवम् अवस्थाचतुष्टये देहत्रयस्य अननुवृत्तत्वात् आत्मनः संविद्रूपस्य तु सर्वावस्थासु अनुवृत्तेः तत्तद्देहापेक्षां विहायापि स्वातन्त्र्यम् इति सर्वं सूक्तम्—

'अपेक्षां स्वशरीरस्य..... ।'

इत्यादि। परमार्थतस्तु—स्ववत् स्वीयदेहवत्, अन्यशरीरेऽपि सर्वत्र प्रमेयपटलजाते—

'स्वाङ्गकल्पेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।' (प्रत्य० ४।१।४)

इत्यादिनीत्या स्वावयवभूते सर्वदेहसमूहे चेतनाम् अनुभावयेत्। कथं ? स्वशरीरापेक्षां त्यक्त्वा चिन्मात्ररूपस्य मम सर्वत्र तुल्यस्थितत्वेन निखिलं जगत् ममैव वपुः, न तु एकदेशावयवतुल्यः अयं देहवराकः, एतस्मिन् देहावयवे नष्टेऽपि अन्ये सर्वे देहा मम सन्त्येव इति किमनेन, इत्थं ममताविषयीकृतां स्वशरीरापेक्षां त्यजेत्, अन्यथा अवयवान्तरनिःसृतकण्ठमात्रस्थितप्राणमृतप्रायशवतुल्यो भवेत्। एतद्वर्णना तु विरूपाक्षपञ्चाशिकायाम्—

'उत्क्रम्य विश्वतोऽङ्गात् तद्भागैकतनुनिष्ठिताहन्तः।
कण्ठलुठत्प्राण इव व्यक्तं जीवन्मृतो लोकः॥'

इति। तस्मात् परत्र शरीरापेक्षसंवित्त्यनुगतत्वभावनेन कतिपयैः दिनैः एव सर्वव्यापको भवेत्॥ १०७॥

अनुवाद—दूसरे के शरीर में भी अपने शरीर की भाँति संवित्ति का अनुभव करने से तथा अपने शरीर की अपेक्षा को छोड़ देने से कुछ दिनों में ही (योगी) व्यापक बन जाते हैं[1]॥ १०७॥

व्याख्या—अपने शरीर की अपेक्षा का त्याग कर केवल संवित् मात्र का चिन्तन करता हुआ, दूसरे के बाह्य शरीर में भी उस संवित्ज्ञान को लगाने से साधक (योगी) स्वशरीर की सहायता के बिना भी दूसरे के शरीर में होने वाले ज्ञान को समझ जायेगा। ऐसी स्थिति में साधक—'उसी में बुद्धि लगाकर तन्निष्ठ होकर तादात्म्य की प्राप्ति कर लेगा। जिससे 'विदेहकैवल्यसिद्धि' प्राप्त होगी। जैसा कि गीता में भी कहा है—'विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में और

१. तुलना कीजिए—परमार्थसार का० १००; शोधनिबन्ध, श्रीमती कमला द्विवेदी, पृ० १३६।

चाण्डाल में सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करने का माहात्म्य जो 'महाविदेहकैवलसिद्धि' कहलाता है, प्राप्त कर लेगा। इसके बाद परकाया-प्रवेश आदि अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कर, सात्त्विक योनि वाले प्राणी में प्रवेश कर उनके कर्मों के आचरण की इच्छा करते हुए योगी सर्वत्र विहार करने योग्य बन जाता है।

किस प्रकार योगी स्वदेह की सहायता के बिना भी संवित् के रूप का चिन्तन करता हुआ अन्य शरीर में भावना करता है। इस विषय को उपमा से बता रहे हैं—स्व-वत् अर्थात् स्व-शरीर में जैसा अनुभव करता है, वैसा उसे पर-शरीर में भी अनुभव होगा। जैसे स्व-शरीर में भी स्व-शरीर की अपेक्षा त्यागकर केवल संविद् रूप ज्ञान का विमर्शन होता है, उसी प्रकार पर-शरीर में भी जीवित रहते हुए या मरने पर संवित् रूप अनुगमन की भावना में योगियों की इच्छा ही प्रमाण है। इस प्रकार जीवित शरीर में प्रवेश करने वाला योगी दूसरे की कामना को जान लेने की सिद्धि प्राप्त कर लेता है तथा मृत शरीर में प्रवेश करने से उसके क्रीड़ा के विधान को जान लेने की सिद्धि प्राप्त कर लेता है। ये ही इसके दो प्रयोजन हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान का आश्रय आत्मा है, न कि शरीर। क्योंकि संविद् रूप से सभी शरीरधारियों में अनुगत होने के कारण उस ज्ञान की उपलब्धि होने में कोई व्यतिरेक नहीं है। जैसे स्वप्नावस्था में चिन्मय आत्मा के साथ अनुव्रत होकर स्वप्न साक्षी के रूप में सारे स्वप्न संसार को देखता है और स्थूल देह के अभाव में भी सम्पूर्ण प्रतीति का अनुभव करता है। इसी प्रकार स्थूल शरीर की अपेक्षा का त्यागकर केवल संवित्मात्र का चिन्तन करने वाला योगी चिन्मय मात्र में मन की वृत्ति जोड़ने से पर-शरीर के अनुभव को भी प्राप्त कर लेता है। उस योगी को न तो स्वयं के स्थूल शरीर की अपेक्षा रहती है, न पर-स्थूल शरीर की।

यदि यह कहा जाय कि बिना शरीर के ज्ञान कैसे होगा? तो इसके उत्तर में कहते हैं—सुषुप्ति अवस्था में जो स्फुरण होता है अर्थात् 'मैं सुख से सोया'—इस प्रकार जाग्रद् अवस्था का अनुभव बिना शरीर के कैसे हुआ? क्योंकि सुषुप्ति में शरीर का केवल चिन्मय संवित्मात्र से सम्बन्ध रहता है। स्थूल-सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध छूट जाते हैं। जैसे स्थूल-सूक्ष्म शरीर के अभाव में भी चित् संवित् सुषुप्ति अवस्था का साक्षी है, उसी प्रकार अन्य शरीरों में भी चिन्मय संवित् में संयम कर लेने पर योगी तद्गत भावनाओं और विचारों को जान लेता है। आत्मसंवित् में स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर की निवृत्ति हो जाने पर भी समाधि अवस्था में मनुष्य को तीनों देहों के नष्ट हो जाने पर भी संविद्रूप ज्ञान बना रहता है। इसीलिए सुषुप्ति अवस्था में कारण शरीर के निवृत्त हो जाने पर भी 'मैं सुखपूर्वक सोया'—यह ज्ञान होता है।[1] क्योंकि आत्मेतरानपेक्षित ज्ञान का उदय होना ही परमतत्त्व को पहचान लेना है।

---

१. जागरण और स्वप्न के भेद के सम्बन्ध में निम्नखिलित कारिकाएँ उल्लेखनीय हैं—

वस्तुतः तो स्वशरीर में जैसा ज्ञान होता है, आत्मचिन्तन करने वाले को अन्य शरीर में भी वैसा ही प्रमेयपटल ज्ञान हो जाता है। जैसा कि प्रत्यभिज्ञातंत्र में कहा गया है–'अपने अंग के समान ही चिन्भाव में विचार करने पर बिना क्रिया के भी वैसा ही ज्ञान उत्पन्न होता है। इस नीति के अनुसार अपने अवयवभूत सभी देहों में (भी) चेतना का अनुभव करें। क्योंकि चिन्मात्र से 'मैं सर्वत्र स्थित हूँ'—ऐसी भावना करने से—'सारा जगत् मेरा ही शरीर है, न कि एक देश में रहने वाले इस स्थूल शरीर में बँधा हुआ हूँ। यह विचारा शरीर नष्ट हो भी जाय और इसके अवयवों के नष्ट होने पर भी, मेरे सारे दूसरे शरीर विद्यमान हैं ही, तो इससे मुझे क्या प्रयोजन है, इस प्रकार देहाभिमानेषणा भी नष्ट हो जायेगी। इस प्रकार अन्य शरीरों में ममत्व उत्पन्न कर योगी शरीर की अपेक्षा को भी त्याग देता है। जिससे अवयवान्तर निरपेक्ष, कण्ठ मात्र स्थित प्राण वाला होकर मृतप्रायः (शवतुल्य हो जाता है, इसका वर्णन 'विरूपाक्षपञ्चाशिका में किया गया है––'संसार रूपी शरीर से ऊपर उठकर उसके एक भाग के शरीर मात्र में अहन्ता का निश्चय कर गले में परिभ्रमण करते हुए प्राण के समान मनुष्य जीवित होते हुए भी संसार में मृततुल्य प्रतीति में आता है। इस प्रकार उस परमसंवित् में, दूसरे शरीरों में भी संवित् चिन्तन रूप भावना से योगी कुछ ही दिनों में सर्वव्यापक हो जाता है' ॥ १०७ ॥

निराधारं मनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत् ।
तदात्मपरमात्मत्वे भैरवो मृगलोचने ॥ १०८ ॥

मनोभावपथेऽप्यक्षविषयत्वेन विभ्रमात् ।
स्पष्टावभासा भावानां सृष्टिः स्वप्नपदं मतम् ॥
सर्वाक्षगोचरत्वेन या तु बाह्यतया स्थिरा ।
सृष्टिः साधारणी सर्वप्रमातृणां स जागरः ॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका ३।२।१६-१७

इस पर अभिनवगुप्त की विमर्शिनी भी द्रष्टव्य है—

सुषुप्ति का निरूपण करते हुए अभिनवगुप्त ने उसके दो भेद अपवेद्य या शून्य तथा संवेद्य बतलाये हैं, तथा उसका प्रलयादि तथा जागरण और स्वप्न से भी भेद स्पष्ट किया है। देखिए—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भास्करी भाग २, पृ० २६५

उन्होंने प्रथम तीन अवस्थाओं जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति को हेय कहा है, क्योंकि इनमें वेद्य का संपुट या अस्फुट अवभास रहता है तथा उनके संस्कार शेष रहते हैं तथा सुख-दुःखादि के अनुभवों का छुटकारा नहीं मिलता—

सुषुप्तादौ तु संस्काररूपत्वात्स्फुटत्वेद्योल्लासस्फुटवेद्यावभास अपरस्य भेदस्य विद्यमानत्वात् अस्ति सुखदुःखादि वैचित्र्यम् इति हेयतैव । —वही पृ० २७६

त्यक्तबाह्यान्तरलम्बनं मनः कृत्वा सङ्कल्पकला यदा न विकल्पयेत्, तदा जीवात्मपरात्मभावे भैरव एव। सङ्कल्पकलया जीवत्वं, निर्विकल्पदशया ब्रह्मत्वम् इत्यतो विकल्पान् न विदध्यात् ॥ १०८ ॥

अनुवाद—मन को निराधार करके विकल्प कल्पनाओं का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। हे मृगलोचने ! ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर जीवात्मा और परमात्मा दोनों भैरवस्वरूप हो जाते हैं ॥ १०८ ॥

व्याख्या—(जब योगी) बाह्यान्तर मन की कल्पना स्थिर करके विचलित नहीं होने दे तब जीव और ईश्वर दोनों परमात्मा ही हो जाते हैं, क्योंकि संकल्प की कल्पना जीव और निर्विकल्प दशा में वही ब्रह्म कहलाता है। इसीलिए विकल्प नहीं करना चाहिए ॥ १०८ ॥

'सोऽहं ममायं विभव इति प्रत्यभिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥'

इति उक्तनयेन सोऽहं शुद्धबोधस्वरूपः, जगच्च इदं मदीयः स्फारः इति द्विविधां प्रत्यभिज्ञां दर्शयन्, प्रथमं सोऽहम् इति प्रतीकं व्याचष्टे—

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः।
स एवाहं शैवधर्मा इति दाढर्चाद्भवेच्छिवः ॥ १०९ ॥

शिवस्य अयं शैवो धर्मः—स्वच्छस्वातन्त्र्यादिः यस्य सः शैवधर्मा, स एव अहम् अहमेव स इति असन्दिग्धत्वेन भावनात् शिवता। इयं शाक्ती भूः ॥

'मैं वही हूँ, यह समस्त जगत् मेरी कल्पना मात्र है' इस प्रकार की भावना करने से विश्वात्मा के विकल्प मात्र में फैला हुआ यह समग्र विश्व मेरा ही स्वरूप है, ऐसी भावना करने पर—'मैं स्वयं महेश्वर हूँ। इस प्रकार शुद्ध बोध रूप' 'मैं तथा यह जगत् मेरा ही विस्तार है'—इस प्रकार की दो प्रत्यभिज्ञाएँ दिखलाते हुए 'वही मैं हूँ'—ऐसी प्रथम भावना की व्याख्या कर दिखला रहे हैं—

अनुवाद—'सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, व्यापक, परमेश्वर, शिवधर्मवाला वह मैं ही हूँ, इस प्रकार की दृढ़ भावना से मनुष्य शिव बन जाता है ॥ १०९ ॥

व्याख्या—शिव सम्बन्धी धर्म ही शैवधर्म कहलाता है। जिसके भीतर स्वच्छ स्वातन्त्र्यादि गुण है, वही शिवधर्मा है। 'वही मैं हूँ' और 'मैं ही वह हूँ' ऐसी असन्दिग्ध भावना से मनुष्य शिव बन जाता है। यह 'शाक्तभूमिका' है[1] ॥१०९ ॥

---

१. ये शाक्तादि भूमिकाएँ 'परमार्थसार' में इस प्रकार स्पष्ट की गई हैं—पृथ्वी से लेकर माया तक का विश्व भेदमय है, उसका समावेश भेदाभेदमयी भूमिका में होता है, शाक्तभूमिका का समावेश अभेदमयी शांभवभूमि में होता है। शांभवभूमि भरे हुए सागर के समान है, जिसमें शाक्तभूमिका महाप्रवाह की भाँति बहती रहती है, उससे समुद्र तरंगित होता रहता है, शैव और शाक्त दोनों जब समरस हो जाते हैं

ममायं विभवः इति प्रत्यभिज्ञांशं विवृणोति—

जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्गचः प्रभा रवेः ।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्गचो विभेदिताः ॥ ११० ॥

विश्वभङ्गचः संसारविच्छित्तिलहर्यो, विभेदिताः सञ्जातभेदाः इत्येवं परिजानतः, सोऽहं, अहं स इत्येकेन प्रकारेण, ममायं विभवः इति प्रकारान्तरेण प्रत्यभिजानतः इति अन्वये इति एवकारौ निपातौ प्रत्यभिज्ञाद्वैधं सूचयतः, अन्यथा प्रकारार्थस्यैव भावात् अनयोः पौनरुक्त्यम् आपतेत् । ये तु 'सर्वो ममायम्, सर्गो ममायम् इत्यादि पाठान्तरं कल्पयन्ति ते पण्डितम्मन्याः—

'स एवाहं शैवधर्मा ··· ····· ··· ।'
'ममैव भैरवस्यैता ··· ··· ··· ··· ।'

इति पृथक् धारणाद्वयार्थं पद्यद्वयं परमेश्वरोपदिष्टं दृष्ट्वापि मूढाः । न हि पृथगात्मा नाम पशुः कश्चिदन्योऽप्यहम्, अपि तु यः प्रकाशात्मा स एव अहम्, स च अहमेव, न तु अन्यः कश्चित् इति सोऽहम् इति प्रतीकं प्रत्यभिज्ञासूत्र-विमर्शिनीकारेण विवृतम् । तथा ममायं विभवः इति द्वितीयं प्रत्यभिज्ञांशं विवृणुता अतो विकल्पसृष्टिरपि मम स्वातन्त्र्यलक्षणो विभवः इत्येवमात्मकं च प्रकटीकृतम् । सहृदयजनेन तदग्रे दर्शितं तन्मुखविषयचपेटापातनमिव अनुभूय स्वयमेव अत्यन्तं स्फुटिता भवेयुः इति सिद्धा द्विविधा प्रत्यभिज्ञा ॥ ११० ॥

अनुवाद—लहरें जल का, ज्वालाएँ अग्नि का और प्रकाश सूर्य का अंग है (अतः तरंगे जल रूप, ज्वाला अग्निरूप और प्रभा सूर्यरूप है, उससे भिन्न नहीं है) उसी प्रकार मुझ (चैतन्यरूप) भैरव से उत्पन्न होने वाला यह तरंग (रूप) विश्व (भी) अभिन्न है ॥ ११० ॥

व्याख्या—अनेक भेदों से युक्त संसार की सभी लहरें मेरा ही स्वरूप हैं, ऐसा विचार कर 'मैं वह हूँ' और 'वह मेरा स्वरूप है' तथा यह सारा जगत् मेरा ही वैभव है—इस प्रकार प्रकारान्तर प्रत्यभिज्ञान करता हुआ योगी दो प्रकार की प्रत्य-भिज्ञाएँ करता है। पहली प्रत्यभिज्ञा—'मैं वही शैवधर्मा हूँ' तथा दूसरी प्रत्यभिज्ञा—'मुझ भैरव के द्वारा बना हुआ ही यह विश्व है' । भगवान् के द्वारा उपदिष्ट इन दोनों प्रत्यभिज्ञाओं को देखते हुए भी जो पण्डितम्मन्य आत्मा नाम का पशु कोई अन्य है ।

तो वहीं पर संवित् का सार या हृदय है । यही शैवदर्शन के अनुसार अन्तिम पूर्ण परम अद्वय की स्थिति है, जिसमें सभी भेद, भेदाभेद और अभेद की भूमिकाएँ सर्वात्मना समरस हो जाती हैं । द्रष्टव्य परमार्थसार का० ४१, शोधनिबन्ध श्रीमती कमला द्विवेदी पृ० ७३ ।

और मैं प्रकाशात्मा वह भी मैं ही हूँ, दूसरा कोई नहीं है। इस प्रकार की सोऽहं प्रतीक की प्रत्यभिज्ञा की सूत्रविमर्शिनीकार ने इस प्रकार की व्याख्या की है। तथा उन्होंने ही 'मेरा यह वैभव है' इस दूसरे प्रत्यभिज्ञांश को विवृत किया है। अतः विकल्प सृष्टि भी मेरा स्वतंत्र लक्षण हैं—इस रूप में प्रकट किया है। इस पर सहृदय-जन को स्वयं विचार कर लेना चाहिए, जिससे उनके हाथ से ही उनके मुँह पर चप्पल लग जायेगी और वास्तविक तत्त्व सम्मुख आ जाएगा ॥ ११० ॥

भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा शरीरेण त्वरितं भुवि पातनात् ।
क्षोभशक्तिविरामेण परा सञ्जायते दशा ॥ १११ ॥

पूजकदशायां, जङ्घालपान्थदशायां वा प्रद्युम्नपीठादिपरिदक्षिणाङ्गेन अहर्निशं मार्गभ्रमणदाढर्याभ्यासोपकारकेण स्वदेहेन परिभ्रम्य, अन्ते शीघ्रं भुवि पातनात् अर्थात् शरीरस्य भुवि स्थितस्य सतो वेगशक्तेर्विरामे परा निर्विकल्पदशा प्रादुर्भवति ॥ १११ ॥

अनुवाद—शरीर को घुमा कर और शीघ्रता से धरती पर गिरा कर वेग शक्ति के विराम से परम (निर्विकल्प) दशा हो जाती है ॥ १११ ॥

व्याख्या—पूजक दशा में अथवा पांथावस्था में प्रद्युम्न पीठादि पर स्थित होने से, रात-दिन मार्ग-परिभ्रमण का दृढ़ाभ्यास करने से, स्वदेह को घुमा-घुमाकर जब विश्राम के लिए भूमि पर स्थिर करता है, अर्थात् शरीर के पृथ्वी पर स्थिर बैठने पर—वेग शक्ति के विश्राम होने पर मनुष्य के शरीर में निर्विकल्प अवस्था का उदय होता है ॥ १११ ॥

आधारेष्वथवाऽशक्त्याऽज्ञानाच्चित्तलयेन वा ।
जातशक्तिसमावेशक्षोभान्ते भैरवं वपुः ॥ ११२ ॥

ज्ञानविषयेषु द्रव्येषु असामर्थ्येन वा यः चित्तलयः अज्ञानात् ज्ञानादेरभावतो यः चित्तप्रलयः तेन वा कृत्वा, यो जातः शक्तौ अनाश्रिताख्यायां समावेशः तेन क्षोभान्ते चञ्चलताविरामे सति 'भैरवं वपुः' पूर्वोक्तस्वानुभवानन्दा-वस्थारूपं भवति ॥ ११२ ॥

अनुवाद—अशक्ति अथवा अज्ञान अथवा चित्तलय से पदार्थों में जो शक्ति का समावेश होता है, उसका क्षोभ मिट जाने पर भैरवस्वरूप प्रकट होता है ॥ ११२ ॥

सम्प्रदायमिमं देवि शृणु सम्यग्वदाम्यहम् ।
कैवल्यं जायते सद्यो नेत्रयोः स्तब्धमात्रयोः ॥ ११३ ॥
सङ्कोचं कर्णयोः कृत्वा ह्यधोद्वारे तथैव च ।
अनच्कमहलं ध्यायन्विशेद् ब्रह्म सनातनम् ॥ ११४ ॥

अधोद्वारे पायुरन्ध्रे स्वपार्ष्णिना पीडनं कृत्वा, अहलं हल्रहितम्, ऐश पाठोऽयम् । शेषं स्पष्टम् ॥ ११३-११४ ॥

अनुवाद—हे देवि ! इस सम्प्रदाय (उपाय) को सुनो, जिसे मैं विधिवत् कहता हूँ । इसमें नेत्रों के स्तब्ध करने मात्र से तुरन्त कैवल्योत्पत्ति हो जाती है ॥ ११३ ॥

अधोद्वार को वाम पाँव की एड़ी से गुदा और लिंग के बीच के भाग को दबाकर, दक्षिण पाँव को एड़ी को लिंग के ऊपर रखकर बैठना चाहिए । पुनः कान के दोनों छिद्रों को बंद कर बिना अच् और हल् के केवल आकार अक्षर का उच्चारण करे इससे (योगी) सनातन ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है ॥ ११४ ॥

व्याख्या—सिद्धासन द्वारा मूलबंध लगाकर, ठुड्डी को कंठकूप के भीतर लगाकर, दोनों अंगूठों से दोनों कान के छिद्रों को बंद कर, दोनों कनिष्ठिकाओं से नासिका के दोनों छिद्रों को बंद करना चाहिए । दोनों हाथों की शेष तीन-तीन अंगुलियों से दोनों नेत्रों को बंद करना चाहिए और दृष्टि को भ्रूमध्य में लगाकर परावाणी से नाभि से लेकर कण्ठ-पर्यन्त आकार का उच्चारण करना चाहिए । इस प्रकार अभ्यास करने पर साधक में ईश्वरप्रत्यभिज्ञा का उदय होता है । यह बात 'शेषं स्पष्टं' द्वारा आचार्य क्षेमराज ने अभिव्यक्त की है ॥ ११३-११४ ॥

कूपादिके महागर्ते स्थित्वोपरि निरीक्षणात् ।
अविकल्पमतेः सम्यक् सद्यश्चित्तलयः स्फुटम् ॥ ११५ ॥

कूपः प्रहिः, आदिना गिरिश्रृङ्गादेः ग्रहणम् । महागर्ते वृहत्सुषिरे कूपादौ स्थित्वा, सामीप्यं सप्तम्यर्थः । वटे गावः सुशेरते इतिवत् महाश्वभ्रादिसमीपे स्थित्वा, ऊर्ध्वमेव कूपाद्याकाशनिश्चलदृष्टयवलोकनात् हेतोः, अविद्यमानो विकल्पो यस्याः सा तथाविधा मतिः यस्य तस्य निर्विकल्पबुद्धेः भावकस्य तत्क्षणमेव चित्तप्रशान्तिः निश्चितम् । बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः ॥ ११५ ॥

अनुवाद—कूपादि गहरे गड्ढे के समीप स्थित होकर अविकल्प बुद्धि से ठीक तरह से कूपाकाश और महाकाश की एकता को देखते हुए अविकल्प बुद्धि साधक का चित्त तत्काल ही चैतन्य में लीन हो जाता है ॥ ११५ ॥

व्याख्या—यहाँ 'कूप' शब्द से पृथ्वी के भीतर का गड्ढा और 'आदि' शब्द से पर्वत के शिखर आदि का ग्रहण है । बहुत बड़े छिद्र यथा कूपादि के समीप बैठकर नीचे से ऊपर तक के आकाश को निश्चल दृष्टि से देखना चाहिए । तब विकल्प रहित बुद्धि वाले साधक के हृदय में निश्चयेन तत्क्षण ही प्रशान्त हुए चित्त में चिन्मयावस्था की उपलब्धि होती है ॥ ११५ ॥

यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाभ्यन्तरेऽपि वा ।
तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति ॥ ११६ ॥

यस्मिन् यस्मिन् नीले सुखादौ च मनो—विकल्पः, संवेदनं याति प्रसरति, तत्र तत्र स्फुरत्संवित्सतत्त्वे शिवस्य चित्प्रकाशस्य अवस्था अवस्थानं क्व यास्यति न क्वचित् गमिष्यति। अत्र हेतुः व्यापकत्वात् इति। दिक्कालाकारैः प्रकाशसारत्वात् प्रकाशमानैः प्रकाशात्मनः स्वात्मभैरवस्य अनवच्छेदात् इत्यर्थः। इयम् अवस्था तु योगशास्त्रे समाधिषट्कपरिपाकलब्धो नित्यसमाधिः साक्षात्काररूपोऽयत्नायत्तः सप्तमः समाधिरुक्तः। तथा च तत्रैव समाधिषट्कलक्षणम् उक्तम्, यथा—समाधिर्नाम चित्तस्य अखण्डात्माद्वयब्रह्मतामात्रेण स्थिरीभावः, स तु बहिरन्तर्वा विधेयः। तत्र हृदयान्तः कर्तव्यः समाधिः द्विविधः—सविकल्पक-निर्विकल्पकभेदात्। सविकल्पोऽपि द्वेधा—दृश्यसम्पृक्तः शब्दसम्पृक्तश्च। तत्र दृश्यसम्पृक्तस्य समाधेर्लक्षणं वाक्यसुधायाम्—

'कामाद्याश्चित्तसादृश्यात्तत्साक्षित्वेन चेतनाम्।
ध्यायेद् दृश्यानुविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः॥'

इति। अयं स्थूलः सविकल्पकः समाधिः। सूक्ष्मं सविकल्पकं द्वितीयं समाधिमाह तत्रैव—

'असङ्गः सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः।
अस्मीति शब्दविद्धोऽयं सविकल्पसमाहितः॥'

इति। एवं यत्नतः क्रमेण समाधिद्वयसम्पत्तौ स्वयमेव भवन्तं निर्विकल्पसमाधिम् आह—

'स्वानुभूतिरसावेशाद् दृश्यशब्दानुपेक्ष्य तु।
निर्विकल्पः समाधिः स्यान्निवातस्थलदीपवत्॥'

इति च। एवं सविकल्पौ द्वौ, निर्विकल्पक एकः इति त्रयः समाधयः। एतत् समाधित्रयं सूर्यचन्द्राकाशादिबाह्यालम्बनं व्युत्पादयति—

'हृदीव बाह्यदेशेऽपि यस्मिन्कस्मिंश्च वस्तुनि।
समाधिराद्यः सन्मात्रे नामरूपपृथक्स्थितः॥'

इति दृश्यानुविद्धसविकल्पकः समाधिः। शब्दानुविद्धं सविकल्पकं समाधिम् आह तत्रैव—

'अखण्डैकरसं वस्तु सच्चिदानन्दलक्षणम्।
इत्यविच्छिन्नचिन्तेयं समाधिर्मध्यमो भवेत्॥'

इति। अत्रापि केवलब्रह्माकारत्वात् मनसो निश्चेष्टनिर्विकल्पकः समाधिर्यथा—

'स्तब्धीभावरसास्वादात्तृतीयः पूर्ववन्मतः।
एतैः समाधिभिः षड्भिर्नयेत्कालं निरन्तरम्॥'

इति। एतच्छ्लोकप्रतिबिम्बस्तु तत्रैव—

'देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥'
इति ॥ ११६ ॥

अनुवाद—'जहाँ-जहाँ मन जाता है, चाहे बाह्य विषयों अथवा आभ्यन्तर विषयों में, उन सभी अवस्थाओं में शिवावस्था व्यापक होने के कारण बनी ही रहेगी (कहीं अन्यत्र न जा सकेगी ?) ॥ ११६ ॥

व्याख्या—जिस किसी नीले, पीले और हरे रंग वाले बाह्य पदार्थों में अथवा भीतरी सुख-दुःखादि आभ्यान्तर पदार्थों में मन संवेदन करे, वहाँ चिन्मय संवित्‌रूप शिव का ध्यान करना चाहिए। तब मन चित् को छोड़ कर कहीं भी नहीं जा सकेगा। क्योंकि दिशा काल आदि व्यापक आकृति के सदृश प्रकाश का सारभूत प्रकाश चिन्मय आत्मा रूप भैरव से भिन्न शिव में कोई पदार्थ नहीं है। योगशास्त्र में छः प्रकार की समाधियों के परिपक्वावस्था में प्राप्त होने पर नित्य समाधि रूप यह सप्तमावस्था साक्षात्कार रूप में बिना प्रयत्न से उत्पन्न होने वाली है। इसे ही सप्तम समाधि कहा गया है। जिन छः समाधियों के लक्षण योगशास्त्र में बतलाए गए है, वे इस प्रकार हैं—चित्त की उस चिन्मय आत्मा के साथ अखण्डाद्वैत भाव से स्थिरीभूत होकर अद्वैतब्रह्म-सत्ता के रूप में प्रतीत होने वाली अवस्था विशेष को 'समाधि' कहते हैं। वह बाह्य और आभ्यन्तर रूप से दो प्रकार की है। वहीं हृदय के भीतर की जाने वाले अंतः समाधि भी दो प्रकार की है—(१) सविकल्प और (२) निर्विकल्प। उनमें से सविकल्प समाधि—१. दृश्य पदार्थों से मिश्रित और २. शब्द मिश्रित दो प्रकार की होती है। उनमें से दृश्य मिश्रित समाधि का लक्षण वाक्यसुधा में इस प्रकार बतलाया गया है—चित्त के सदृश कामना से और साक्षी चिन्मय का ध्यान करने से उनके साथ अनुबिद्ध समाधि 'सविकल्पसमाधि' कहलाती है। यह 'स्थूल सविकल्पसमाधि' है। तथा दूसरी 'सूक्ष्म सविकल्पसमाधि' का लक्षण इस प्रकार है—'असंग, सच्चिदानंद द्वैतवर्जित स्वयं समर्थ आत्मा स्वरूप व्यापक तत्त्व 'मैं ही हूँ'—इस प्रकार शब्दमात्र से अनुबिद्ध सविकल्पसमाधि सूक्ष्म सविकल्पसमाधि है।' इस प्रकार प्रयत्न के साथ दो प्रकार की समाधियों की सम्पत्तियों को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य निर्विकल्पसमाधि में प्रवेश करता है। उसका लक्षण है—'स्वानुभूति के रसावेश में दृश्य शब्द की अपेक्षा को त्यागकर निर्वात स्थल पर स्थित दीपशिखा के समान निश्चल होकर बैठना ही निर्विकल्पसमाधि है।' सविकल्प के दो भेद तथा एक निर्विकल्प, कुल मिलाकर तीन समाधियाँ हुईं। ये तीनों ही समाधियाँ सूर्य, चन्द्र और आकाश इन बाह्यालम्बनों को प्रतिपादित करती हैं। हृदय के समान बाह्य देश में किसी वस्तु में समाधि करने से सन्मात्रावस्था नामरूप से पृथक् होकर रहती है, वह 'दृश्यानुबिद्ध सविकल्पसमाधि' है। यह चौथी समाधि है। शब्दानुबिद्ध बाह्य सविकल्पसमाधि है, इसका वर्णन इस प्रकार है—अखण्ड है, इस प्रकार अविच्छिन्न चिन्तन से जो समाधि उत्पन्न होती है, वह 'बाह्यशब्दानुविद्ध सविकल्प' समाधि

पाँचवी है। यह बाह्य समाधियों के भीतर मध्य की है। इसमें भी केवल ब्रह्माकार स्वरूप होने से मन को चेष्टा रहित निर्विकल्पावस्था का अनुभव होता है। इस प्रकार बाह्य पदार्थों में मन को निश्चेष्ट निर्विकल्पावस्था में होने वाली छठी समाधि का लक्षण बतलाया जा रहा है—'मन को निश्चेष्ट स्तब्ध करके आभ्यन्तर निर्विकल्प समाधि के समान ही बाह्य पदार्थों में भी मन को विकल्प रहित बनाकर स्थिर करना इसे बाह्य निर्विकल्प समाधि कहते हैं'। इस प्रकार छहों समाधियों द्वारा निरंतर आत्मतत्त्व का चिन्तन करते हुए योगियों को स्वकाल यापन करना चाहिए।

अब उपरोक्त कारिका में प्रतिपादित सातवीं निर्विकल्पसमाधि का वर्णन करते हैं—'देहाभिमान के नष्ट हो जाने तथा परमतत्त्व को पहचान लेने के बाद जहाँ-जहाँ मन जाता है, साधक के लिए वहीं समाधि उपलब्ध होती है'। अभिप्राय यह है कि मन जिस विषय में जाता है, चाहे वह बाह्य हो या आभ्यन्तर, सर्वत्र चिन्मय सत्तत्त्व का चिन्तन करने के कारण योगी को सर्वत्र आत्मसत्त्व के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का भान ही नहीं रहता। इसी अवस्था का नाम सप्तम समाधि है। स्पन्दकारिका की २८वीं, २९वीं और २०वीं कारिकाओं में ऐसा ही वर्णन मिलता है॥ ११६॥

यत्र यत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते विभोः।
तस्य तन्मात्रधर्मित्वाच्चिल्लयाद्भूरितात्मता॥ ११७॥

यत्र यत्र नीलसुखादौ अक्षमार्गेण चक्षुरादिसुषिरमार्गेण प्रभोः परभैरवस्य आत्मनः चैतन्यं चित्प्रकाशः अभिव्यज्यते स्फुरति, तस्य नीलादेः तन्मात्रधर्मित्वात् चैतन्यातिरेके चेत्यत्वाभावापत्तेः दर्पणमात्रात्मकविचित्रप्रतिबिम्बवत् प्रकाशस्थचैतन्यमात्रस्वभावत्वं विमृश्य विश्वभित्तिभूतायां चितौ एव यो लीयते तस्य परभैरवतैव। यथा घनीभूतः प्रकाश एव सूर्यमण्डलं जातं, तथा चिदेव हि आश्यानीभूता जगदात्मना भाति इति आम्नायः॥ ११७॥

अनुवाद—जहाँ-जहाँ इन्द्रिय मार्गों के द्वारा उस परमात्मा के चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है, उस (परमात्मा) के धर्मी होने के कारण चिति में विश्रान्ति के द्वारा भरितावस्था (भैरवावस्था) हो जाती है॥ ११७॥

व्याख्या—जहाँ-जहाँ नील-पीतादि बाह्य पदार्थों में तथा सुख-दुःखादि आभ्यन्तर पदार्थों में चक्षु आदि इन्द्रिय मार्गों अथवा अन्तःकरण के मार्ग के द्वारा परमभैरव आत्मा का चैतन्य चित्प्रकाश अभिव्यक्त होता है, उन नील-पीतादि या सुख-दुःखादि चैतन्यमात्र धर्मी होने के कारण, जैसे प्रतिबिम्ब के कारण दर्पणादि गर्त होते है, वे सभी प्रकाशस्थ चैतन्य मात्र स्वभाव वाले होते हैं। उसी प्रकार बाह्याभ्यन्तर इन्द्रियों के द्वारा अभिव्यक्त होने वाला पदार्थ भी चैतन्यमात्र का ही धर्म है। अतः सारे जगत् की मूल भित्ति चित्त के लय होने पर सभी परम भैरवस्वरूप हो जाते हैं। जैसे

घनीभत प्रकाश सूर्यमण्डल कहलाता है, उसी प्रकार प्रकाशीभूत यह जगत् भी आत्म-रूप ही है, ऐसा शास्त्रीय सिद्धान्त है ॥ ११७ ॥

क्षुताद्यन्ते भये शोके गह्वरे वा रणाद् द्रुते ।
कुतूहले क्षुधाद्यन्ते ब्रह्मसत्तामयी दशा ॥ ११८ ॥

समीपगा इति पाठान्तरम् । ब्रह्मसत्ता अनवच्छिन्नचिदानन्दस्फुरत्ता समीपगा निकटस्थितैव इति । तां तत्र तत्र अवसरे विमृश्य सुप्रबुद्धः समाविशेत्, अप्रबुद्धः पुनरत्र मूढ एव इति । एषा शाम्भवी भूः ॥ ११८ ॥

अनुवाद—छींक आदि के होने पर, भय, शोक में, अथवा गहरे गड्ढे में, युद्ध से भागने पर, कौतूहल की स्थिति में तथा क्षुधादि के अन्त में मनुष्य को ब्रह्मसत्तामय अवस्था[1] की उपलब्धि होती है ॥ ११८ ॥

व्याख्या—अनवच्छिन्न, चिदानन्द स्फुरणा के समीपवर्ती अवस्था वाले तथा भय, शोक, गह्वर तथा युद्ध-भूमि से भागे हुए मनुष्य को कुतूहल जनक वस्तु तथा क्षुधादि के अन्त में रही हुई अवस्था का ज्ञानी बन कर विवेकपूर्वक विचार करने पर ब्रह्म सत्ता के सदृश ही प्रतीति होती है । अप्रबुद्ध होकर इन्हें प्रमादवश देखने पर इनकी प्रतीति नहीं होगी । वस्तुतः उपरोक्त अवस्था में मनुष्य शाम्भवी भूमिका में होकर विचरण करता है ॥ ११८ ॥

वस्तुषु स्मर्यमाणेषु दृष्टे देशे मनस्त्यजेत् ।
स्वशरीरं निराधारं कृत्वा प्रसरति प्रभुः ॥ ११९ ॥

स इति, तत् इति स्मृतिज्ञानेन वेद्यमानेषु पदार्थेषु अनुभवज्ञानविषये स्वाधारभूते मनः त्यजेत् प्रक्षिपेत्—अनुभवपूर्वकत्वात् स्मृतेः । स्वदेहं निरालम्बनं विधाय, अनुभवरूपः प्रभुः स्मरणानुभवयोः स्मर्यमाणानुभूयमानयोश्च एकानुसन्धात्रात्मा प्रसरति प्रादुर्भवति ॥ ११९ ॥

अनुवाद—पदार्थों का स्मरण करते हुए, देखे हुए आधार में मन को फेंके (क्योंकि) अपने शरीर को आधारहीन बनाकर (अनुभव) प्रभु उदित होता है ॥ ११९ ॥

---

१. ब्रह्मसत्तामय अवस्था के लिए ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य (नि० सा०) पृ० ६ का यह अवतरण द्रष्टव्य है—

अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितं ब्रह्मशब्दस्य हिव्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते बृहतेर्धातोरर्थानुगमात् सर्वस्यात्मत्वाच्च, ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः । सबाह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति । यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वा लोलो नाह्यस्मीति प्रतीयात् ।

—परमार्थसार, शोधनिबन्ध, श्रीमती कमला द्विवेदी पृ० ७५ से उद्धृत

क्वचिद्वस्तुनि विन्यस्य शनैर्दृष्टिं निवर्तयेत् ।
तज्ज्ञानं चित्तसहितं देवि शून्यालयो भवेत् ॥ १२० ॥

कस्मिंश्चित् वस्तुनि दृष्टिम् अक्षिरूपां निक्षिप्य, कञ्चित् पदार्थं दृष्ट्वा इत्यर्थः । शनैः शनैः तस्य पदार्थस्य ज्ञानं तद्विषयसङ्कल्पसहितं निवर्तयेत् शून्य-भावनया अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिन्यायेन वा, तेनैव शून्ये आलयो--विश्रान्तिः यस्य एवं-विधः संयमी भवेत् । देवि शून्यलयो भवेत् इति पाठान्तरम् ॥१२०॥

अनुवाद--किसी वस्तु में दृष्टि लगाकर, धीरे-धीरे उसे वहाँ से लौटाना चाहिए तब उस (वस्तु) के ज्ञान का चित्त के साथ लौटाने से, हे देवि ! शून्य में विश्रान्ति होती है ॥ १२० ॥

व्याख्या—किसी वस्तु में दृष्टि को स्थिर करने पर उस पदार्थ का स्वरूप सामने आता है । धीरे-धीरे उस पदार्थ के ज्ञान को तथा तद्विषयक संकल्पों को एकदम चित्त से निकालने पर, शून्यभावना द्वारा बहिर्दृष्टि होते हुए भी अन्तर्लक्ष्य होकर, मनुष्य शून्य स्थान में संयम करने से तन्मय हो जाता है, तब निर्विकल्प अवस्था का उदय होता है ॥ १२० ॥

भक्त्युद्रेकाद्विरक्तस्य यादृशी जायते मतिः ।
सा शक्तिः शाङ्करी नित्यं भावयेत्तां ततः शिवः ॥ १२१ ॥

भक्तिरिति--

'न पादपतनं भक्तिर्व्यापिनः परमेशितुः ।
भक्तिर्भावस्वभावानां तदेकीभावभावनम् ॥'

इति कृतलक्षणा । उद्रेकः आधिक्यम् ॥ १२१ ॥

अनुवाद—भक्ति के उद्रेक से विरक्त पुरुष की जैसी बुद्धि हो जाती है, वही शांकरी शक्ति है । उसका नित्य ध्यान करे तो (साधक) शिव हो जाता है ॥१२१॥

व्याख्या—जिसके हृदय में परमेश्वर की भक्ति व्याप्त है । उसका कहीं भी पतन होना संभव नहीं है, क्योंकि भक्तिभाव से भावित अन्तःकरण वाले प्राणी ईश्वर से ऐक्य भाव की भावना करते हुए ईश्वरमय हो जाते हैं । अतः उनका उत्थान और पतन सम्भव नहीं ॥ १२१ ॥

वस्त्वन्तरे वेद्यमाने शनैर्वस्तुषु शून्यता ।
तामेव मनसा ध्यात्वा विदितोऽपि प्रशाम्यति ॥ १२२ ॥

कस्मिंश्चित् एकस्मिन् वस्तुनि ज्ञायमाने, सर्ववेद्येषु तदन्येषु बाह्याभ्यन्त-रेषु वस्तुषु वेद्यमानेष्वपि शून्यता भावनीया, शून्यता तत्कालम् अनाभासनम् ।

तामेव वेद्याभावात्मकचित्प्रकाशरूपां शून्यतां मनसा निर्विकल्पसंविदा ध्यात्वा विमृश्य विदितोऽपि वेदनात् अपि प्रशाम्यति--शान्तब्रह्मस्वरूपो भवति। विदि-शब्द इकारान्तो भेदप्रथारूपज्ञानवाचकः। तज्ज्ञानं तद्वस्त्वनुभवः चित्त-सहितं तद्वासनायुक्तं क्वचिद्वस्तुनि इत्यत्र एकपदार्थमात्रं दृष्ट्वा तदनु तद्विषय-सङ्कल्पज्ञानादिनिवर्तनम् उक्तम्। इह पुनर्वेद्यमानवस्तुज्ञानानन्तरं सर्ववेद्येष्वपि ज्ञायमानेषु शून्यताभावनया तद्वेदनादपि प्रशान्तिलक्षणो विशेषः॥ १२२॥

अनुवाद—किसी एक वस्तु का ज्ञान करते हुए (दूसरी बाह्य और आभ्यन्तर) वस्तुओं में शून्यता करनी चाहिए (अर्थात् दूसरी वस्तुएँ उस समय मानहीन हो)। इस (शून्यता) का मन से ध्यान करके योगी तथा जानकार भी (अर्थात् ज्ञान से भी) शान्त हो जाता है[1]॥ १२२॥

व्याख्या—किसी एक वस्तु का ज्ञान होने पर सभी जानने योग्य अन्य वस्तुओं के बाहर तथा भीतर निराकार आत्मतत्त्व व्याप्त है, ऐसी भावना करनी चाहिए। ऐसा अभ्यास करने पर साधक को तत्काल अनाभास स्थिति प्राप्त होगी। यदि उसी वेद्य वस्तु के अभावात्मक चित्प्रकाशरूप शून्यता का मन से निर्विकल्प ज्ञान से ध्यान करता हुआ साधक विचार करेगा, तो विदित होने पर उसकी वेदना शांत हो जायेगी।

(अर्थात् शांत ब्रह्म रूप हो जायेगा)। वेदना—भेद प्रथा रूप ज्ञानवाचक इकारान्त विदि शब्द से वेदना शब्द बना है। इसीलिए वह भेद ज्ञान युक्त होता हुआ भी चित्त सहित भेदवासना से युक्त शब्द का शब्दज्ञान चिन्मय ईश्वर में लय होकर, संकल्प-विकल्प ज्ञान से रहित होकर अद्वैत रूप बन जायेगा। ऐसी अवस्था में साधक के हृदय की क्या दशा होती है। इस विषय को आचार्यों ने 'समाचारपटल' रहस्य-शास्त्र के १८वें अध्याय में इस प्रकार निरूपित किया है—'इस अवस्था में पहुँचने पर न तो शुद्धि है और न अशुद्धि। न भक्ष्याभक्ष्य का विचार है। न द्वैत है न अद्वैत। न लिंग पूजा है न उसका त्याग है। न अपरिग्रह है न परिगह। न जटा भस्म लगाना ही उसका कारण है और न उसका त्याग करना ही कारण है। न व्रतादि आचरण करना आवश्यक है न किसी तीर्थ क्षेत्र में प्रवेश करने की आवश्यकता है। न किसी समय के पालन करने की आवश्यकता है। न दूसरे चिह्नादि या स्वरूप धारण करने की आवश्यकता है। न नाम रूप गोत्र प्रवर आदि की आवश्यकता है। इस रहस्य को जान लेने के पश्चात् विधि-निषेध कुछ भी नहीं है। न किसी विधि के पालन की आवश्यकता है, न निषेध के पालन की। योगी की इस मार्ग में तत्त्व-चिन्तन करते हुए चैतन्य तत्त्व में अपने को स्थिर करने (इस एक कार्य) के अतिरिक्त कोई कर्त्तव्य नहीं है। अतः यह ज्ञान जिस प्रकार भी स्थिर हो जाय, वही उसके लिए आचरणीय है। इसी बात की मन में धारणा करते हुए वसिष्ठ ने इसका पूरा अभ्यास किया था।

---

१. शून्यता के ध्यान से वेद्य और वेदन हो जाता है।

समाधिनिष्ठ योगी कर्म करे या न करे, निश्चल चित्त हो जाने के बाद विषयों का उपभोग करके पहली प्रत्यभिज्ञा—'मैं वही शिव धर्म वाला हूँ' तथा दूसरी प्रत्यभिज्ञा—'मुझ भैरव के द्वारा बना हुआ ही यह विश्व है' ये दोनों प्रत्यभिज्ञाएँ भगवान् द्वारा उपदिष्ट हैं। इन दोनों प्रत्यभिज्ञाओं को देखते हुए भी जो पंडितम्मन्य आत्मा नाम का पशु कोई अन्य है। और प्रकाशात्मा वह भी मैं ही हूँ दूसरा कोई नहीं है—इस प्रकार की 'सोऽहं प्रतीक' की प्रत्यभिज्ञासूत्रविमर्शिनीकार ने व्याख्या की है। 'मेरा यह अनुभव है' इस दूसरे प्रत्यभिज्ञांश को विवृत्त किया है। अतः विकल्प सृष्टि मेरा स्वतंत्र लक्षण है, इस रूप में प्रकट किया है। इस पर सहृदयजन को स्वयं ही विचार कर लेना चाहिए, जिससे उनके हाथ से ही उनके मुँह पर चपत लग जायेगी और भी जैसे कमल का पत्ता जल में रहते हुए भी उससे निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार साधक योगी भी सभी वैषयिक दोषों से निर्लिप्त रहता है। उसके लिए पेय-अपेय सभी 'जल' है। भक्ष्य-अभक्ष्य सभी 'पृथ्वी' है। सुरूप-कुरूप सभी 'तेज' है। इस प्रकार निर्दोष ब्रह्म ही सर्वव्यापक है, ऐसा अभ्यास नित्य ही करना चाहिए। जैसे मंत्रों से रक्षित पुरुष को विष-भक्षण करने पर भी उसका 'जहर' नहीं चढ़ता है, वैसे ही विषय-भोग करता हुआ भी योगी विषय-दोष से निर्लिप्त रहता है। संसार में अपवित्र वस्तु क्यों है, शरीर पाँच भौतिक है, और शुद्ध-अशुद्ध वस्तुएँ सब ही 'पाँच भौतिक हैं' अतः न कोई वस्तु अशुद्ध है, न ही शुद्ध। सभी वस्तुएँ चित्त–चैतन्य आत्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है। अतः सर्वत्र ईश्वर बुद्धि से देखने वाले योगी के लिए किसी भी तरह के नियमों के पालन की आवश्यकता नहीं है। केवल चित्त विमर्श ही विचारणीय है॥ १२२॥

'अत्र नाथः समाचारं पटलेऽष्टादशेऽभ्यधात्।
नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिर्न भक्ष्यादिविचारणम्॥
न द्वैतं नापि चाद्वैतं लिङ्गपूजादिकं न च।
न चापि तत्परित्यागो निष्परिग्रहतापि वा॥
सम्परिग्रहता वापि जटाभस्मादिसङ्ग्रहः।
तत्त्यागो न व्रतादीनां चरणाचरणं च यत्॥
क्षेत्रादिसम्प्रवेशश्च समयादिप्रपालनम्।
परस्वरूपलिङ्गादिनामगोत्रादिकं च यत्॥
नास्मिन्विधीयते किञ्चिन्न चापि प्रतिषिध्यते।
विहितं सर्वमेवात्र प्रतिषिद्धमथापि वा॥
किं त्वेतदत्र देवेशि नियमेन विधीयते।
तत्त्वे चेतः स्थिरीकार्यं सुप्रयत्नेन योगिना॥
तच्च गम्यं यथैव स्यात्स तथैव समाचरेत्।
एतन्मनसि सन्धाय वसिष्ठेन स्फुटं कृतम्॥

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ।
तत्त्वे निश्चलचित्तस्तु भुञ्जानो विषयानपि ॥
न संस्पृश्येत दोषैः स पद्मपत्रमिवाम्भसा ।'

अस्य योगिनः

'पेयापेयं स्मृता आपो भक्ष्याभक्ष्यं तु पार्थिवम् ।
सुरूपं च विरूपं च तत्सर्वं तेज उच्यते ॥
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तत्स्फुटं नित्यमभ्यसेत् ।
विषापहारिमन्त्रादिसन्नद्धो भक्षयन्नपि ॥
विषं न मुह्यते तेन तद्वद्योगी महामतिः ।
अशुद्धं हि कथं नाम देहाद्यं पाञ्चभौतिकम् ॥
प्रकाशतातिरिक्ते किं शुद्धयशुद्धी हि वस्तुनि ।'

इति रहस्यशास्त्रोक्तनीत्या शुद्धयशुद्धिविकल्पं विहाय केवलचिद्विमर्शो निर्वाह्यः इत्याह--

किञ्चिज्ज्ञैर्या स्मृता शुद्धिः साऽशुद्धिः शम्भुदर्शने ।
न शुचिर्ह्यशुचिस्तस्मान्निर्विकल्पः सुखी भवेत् ॥ १२३ ॥

किञ्चिन्मात्रबोधयुक्तैः धर्मशास्त्रज्ञैः या शुद्धिः मृज्जलादिना शुद्धभावः स्मृता सा शम्भुदर्शने पारमेश्वरतत्त्वसाक्षात्कारे सति अशुद्धिः अशौचमेव--वक्ष्यमाणात् हेतोः । यद्वा शम्भुदर्शने परमेश्वरभाषिते शास्त्रे किं तु साऽशुद्धिः, न शुचिः न नैर्मल्यं निर्देशस्य भावप्रधानत्वात्, सा अन्यशास्त्रोक्ता शुद्धिः न शुचिः न शुद्धत्वं, किं तु हि अशुचिः, हिः अवधारणे हेतौ वा अशुद्धतैव । मृदादिशुद्धेः तत्त्वज्ञानं प्रति अकिञ्चित्करत्वेन अनङ्गत्वात् । यदुक्तं महा-गुरुभिः--

'मृज्जलादिविशुद्धोऽपि न पवित्रो बहिर्मुखः ।
बहिर्निर्मलमध्यस्थपुरीषकलशादिवत् ॥'

इति । अशुद्धिः इति पूर्वम् अभिधाय, तदनु 'न शुचिः' इति उक्त्वापि पुनः 'हि अशुचिः' इति अशुचिपौनरुक्त्यं तत्त्वज्ञानानुपयोगित्वदाढर्यप्रतिपादनार्थं, मृदादिशुद्धेः कर्माङ्गत्वात् तदधिकारिणि सा भवतु । यदुक्तम्--

'अस्नातस्तु पुमान्नार्हो जप्याग्निहवनादिषु ।
स्नातोऽधिकारी सर्वत्र दैवे पित्र्ये च कर्मणि ॥'

इति । एतत् तु न क्वचित् उक्तम्--

'तदा ज्ञानाधिकारोऽस्ति मृज्जलादिशुचिर्यदा ।'

इति। तत्त्वज्ञानं प्रति मृदादिशुद्धेः प्रतिबन्धकत्वं न भवति इत्यतः सापि अस्तु इति चेत्, भवतु एतत्--ज्ञानप्रतिबन्धकत्वाभावात्, परन्तु ज्ञानं निरपेक्षं न कर्मवत् शुद्ध्यपेक्षम्। वयं तु जानीमहे--मृदादिना देहनैर्मल्ये क्रियमाणे, देह-दर्शने जाते तत्सुन्दरतादिदर्शनेन तदभिमानोऽपि तत्त्वज्ञानिनो भवेदपि अन्त-र्मुखत्वविस्मृत्या बहिर्मुखतापत्तेः। ज्ञानिनस्तु तथा स्थितिर्विधेया यथा वारंवारं चिद्विमर्शघनाभ्यासात् देहादिविस्मरणमेव भवेत्, स तु कदाचिदपि देहं न पश्यति। यदुक्तं श्रीभागवते—

'देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा।
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ॥'

इति। यदि न तत्त्वज्ञानोपकारिणी मृदादिशुद्धिः, तत्कथं भगवता गीतम्—

'आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।'

इत्यादिना। शौचमपि तत्त्वज्ञानम् इति चेत् सत्यं, मान्त्र-भौमाग्नेय-वायव्य-दिव्य-वारुण-मानसभेदेन सप्तविधं स्नानं स्कन्दपुराणे अभिहितम्—

'आपो हि ष्ठेति वै मान्त्रं..... ।'

इति आरभ्य—

'वारुणं चावगाह्यं तु मानसं विष्णुचिन्तनम्।'

इति पर्यन्ते सर्वस्नानफलभूतं मुख्यं मानसस्नानम् उक्तम्, इत्यतः केवलवारुण-स्यापि स्नानान्तरतुल्यत्वात्, प्रत्युत तस्यापि गौणत्वात् शौचपदेन विष्णुचिन्त-नात्मकं मुख्यं स्नानं किं न वक्तुं शक्येतापि, इति विनिगमनाग्रहाङ्गीकरणं न साधु। धर्मशास्त्रोक्तत्वात् वारुणविधानं धर्मः, इति चेत् हन्त, तर्हि धर्मत्वाभ्यु-पगमात् परमधर्मः तत्त्वज्ञानात्मा मृदादिशुद्धिधर्मात् अभीष्टतरः। यदुक्तं याज्ञ-वल्क्यस्मृतावेव—

'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं स परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥'

इति। अन्यच्च अक्रियमाणायामपि मृदादिशुद्धौ परमात्मनो न काचित् हानिः-निराकारत्वेन आकाशतुल्यत्वात्, क्रियमाणायामपि न काचित् वृद्धिः। देहस्तु मृदादिशुद्धोऽपि मलिन एव, हि यस्मात् अन्यशास्त्रोक्ता अशुद्धिरेव। तस्मात् मृदादिशौचविनाकृतोऽपि निर्विकल्पज्ञानेन सति मनःशौचे त्यक्तमनोमलः सुखी भवेत् ॥ १२३ ॥

अनुवाद—अल्पज्ञ पुरुष जिसे शुद्धि कहते हैं, वह शांभव दर्शन में अशुद्धि के रूप में ही मानी गयी है। अतः कुछ भी न पवित्र है, और न अपवित्र, केवल निर्विकल्प ही सुखी है॥ १२३ ॥

व्याख्या—आशय यह है कि धर्मशास्त्रों में शरीर की शुद्धि मिट्टी, जल आदि के द्वारा बतलाई गयी है। परमतत्त्व का साक्षात्कार कराने वाले इस शांभव दर्शन में तो नहीं के बराबर होने से अपवित्र के तुल्य ही है। मिट्टी आदि से की गई शुद्धि का तत्त्वज्ञान से कोई सम्बन्ध न होने से वह शुद्धि भी अशुद्धि ही है। जैसे महागुरुओं ने कहा है—मिट्टी तथा जल से की गई शुद्धि से पवित्र शरीर वाले प्राणी भी आत्मा से बहिर्मुख होने पर निर्मल घट में भरे हुए मलमूत्र के समान अपवित्र ही हैं। उसी प्रकार जिसका अंतःकरण अपवित्र है अर्थात् ज्ञान से बहिर्मुख है तथापि वह शास्त्र प्रतिपादित शरीर शुद्धि करके बैठा हुआ है, वह व्यक्ति उसी तरह अपवित्र है, जैसे वह मूत्र-पुरीषादि से भरा बाहर से निर्मल वह घट। और भी शास्त्रों में कहा है—मनुष्य मंत्र जाप, अग्निहोत्रादि में स्नान करने के पश्चात् ही (जपादि) कर्म का अधिकारी माना जाता है। चाहे वे कर्म 'देवतोद्देश्यक हो या पितरोद्देश्यक। किन्तु ऐसा कहीं भी कहा गया है कि बिना स्नानादि शुद्धि के ही कोई ज्ञान का अधिकारी हो सकता है।

परन्तु मेरे विचार से तो निर्मल देह को देख कर, उसकी सुन्दरता में देहाभिमान होने पर अन्तर्मुख की विस्मृति होने से बहिर्मुखी वृत्ति की जागृति का भय है। अतः ज्ञानी को तो ऐसी स्थिति ही उत्पन्न करनी चाहिए जिससे चैतन्य का बारम्बार घनी-भूत अभ्यास हो। साथ ही देहविस्मृति भी बनी रहे। अन्तर्मुख प्राणी कभी देह की तरफ देखता भी नहीं। जैसा कि भागवत में कहा गया है—'जिस सिद्ध ने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह इस नश्वर शरीर को बैठे हुए या खड़े हुए भी देखना पसंद नहीं करता है'। कुछ लोग कहते हैं–यदि बाह्य शुद्धि तत्त्वज्ञान में उपयोगी नहीं है तो भगवान् ने गीता में ऐसा क्यों कहा है—आचार्य की उपासना करना, शौच (अर्थात् बाह्य शुद्धि करना), स्थिरता रखना और आत्मा पर निग्रह रखना तत्त्वज्ञानोप-योगी है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं—यह तो बिल्कुल सत्य है, परन्तु केवल बाह्य जल का स्नान ही स्नान नहीं है, किन्तु स्कन्दपुराण में ७ प्रकार के स्नान बतलाये गए हैं—

१. मांत्र (अर्थात् मंत्र से)
२. भूमि से,
३. अग्नि से,
४. वायु से,
५. वरुण (जल) से,
६. मन से और
७. दिव्य स्नान।

इनमें अंतिम (दिव्य) मानस स्थानों का मूलभूत स्नान मानस-स्नान करने पर सभी स्थान गौण हो जाते हैं। अतः मुख्य विष्णु चिन्तन (स्नान) ही योगी के लिए

शौच शब्द का अर्थ है। अतः शौच शब्द बाह्य शक्ति के अर्थ में दिया गया है। ऐसा तर्क करना असंगत है। यदि कोई कहता है कि धर्मशास्त्र में कहा है—'वारुण स्नान ही धर्म है' तो उन्हें विचारना चाहिए कि धर्म की अपेक्षा तत्त्वज्ञान स्वरूप परमधर्म का स्थान बाह्य शक्ति शुद्धि की अपेक्षा बहुत ऊँचा है। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है—यज्ञ, सदाचार, इन्द्रियदमन, वेदाध्ययन से सत्कर्म है। ये धारण करने योग्य होने से धर्म कहे जाते हैं। परन्तु योगाभ्यास द्वारा आत्मदर्शन करना परमधर्म माना गया है। और भी मृदादि शुद्धि न करने पर परमात्मा को कोई हानि नहीं पहुँचती, क्योंकि निराकार होने के कारण वह आकाश स्वरूप माना गया है। अतः बाह्यशुद्धि करने पर भी उसमें किसी प्रकार वृद्धि नहीं होती। देह तो मिट्टी आदि से शुद्ध करने पर भी मलिन ही है। इसी से अन्य शास्त्रों में प्रतिपादित सारी शुद्धियाँ अशुद्धियाँ ही हैं। अतः मिट्टी आदि के द्वारा शुद्धि न करने पर भी निर्विकल्प ज्ञान से मन को पवित्र कर लेने पर साधक (योगी) मनोमलत्यक्त निर्मल मन वाला सर्वत्र सुख का अनुभव करता है ॥ १२३ ॥

सर्वत्र भैरवो भावः सामान्येष्वपि गोचरः।
न च तद्व्यतिरेकेण परोऽस्तीत्यद्वया गतिः ॥ १२४ ॥

सर्वत्र सर्वेषु प्रदेशेषु भावो भैरवः—सत्स्वरूपो विज्ञात्रात्मा, न तु बौद्धादिवत् ज्ञेयशून्यरूपः, सामान्यजनेषु विवेकहीनेषु अपि गोचरो ग्राह्य—सर्वेषां प्रमातृणां सकलप्रलयाकलादीनाम् अहं जानामि करोमि इत्याद्यहं-विमर्शस्य स्फुटतया स्फुरणात्, न तु भैरवव्यतिरेकेण अन्यः कश्चित् अस्ति इति अहं विमर्शस्य ऐक्यम्। अहं-रूप एव परमेश्वरः, स तु प्रकट एव, किम् आणवाद्युपायत्रयेण, नहि स्फुटतरस्य उपायान्वेषणम् उचितम्। यदुक्तम्—

'उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद्
घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः।
विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः
स्वयं प्रकाशं शिवमाविशेत्क्षणात् ॥'

इति। तथा संवित्प्रकाशेऽपि—

'अपरोक्षे भवत्तत्त्वे सर्वतः प्रकटे स्थिते।
यैरुपायाः प्रतन्यन्ते नूनं त्वां न विदन्ति ते ॥'

इति। महार्थमञ्जर्याञ्च—

'यं जानन्ति जडा अपि जलहार्योऽपि यं विजानन्ति।
यस्यैव नमस्कारः स कस्य स्फुटो न भवति कुलनाथः ॥'

इति। श्रुतिरपि—

'उतैनं गोपा अदृशन्नुतैनमुदहार्यः ।
उतैनं विश्वा भूतानि स दृष्टो मृडयाति नः ॥'

इति ॥ १२४ ॥

अनुवाद—साधारण मनुष्यों में भी सर्वत्र भैरवभाव ही दिखलाई पड़ता है। उसे छोड़कर दूसरा कोई है ही नहीं, यह है अद्वैतमार्ग[1] ॥ १२४ ॥

व्याख्या—प्रत्येक विवेकी साधक को सर्वत्र विज्ञात्री आत्मा का चिन्तन करने से सत्तास्वरूप अद्वैतात्मा के ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि सम्पूर्ण प्रलय-कलादिकों को 'मैं जानता हूँ', 'मैं करता हूँ' इत्यादि अहन्ता विमर्श की प्रत्यक्ष स्फुरणा नहीं होती। अतः संसार के सभी दृश्य पदार्थों में उसी चैतन्य का विलास होने से तथा अहं रूप परमेश्वर का प्रत्यक्षीकरण होने के कारण अन्य आणिवादि उपायों का भी कोई प्रयोजन नहीं है। स्पष्ट गोचर होने वाले पदार्थों में उपायान्तर का अन्वेषण करना भी उचित नहीं है। जैसा कि कहा है—'उपाय समुदायों से शिव का प्रकाश नहीं हो सकता। क्योंकि क्या कहीं घट से सूर्य का प्रकाश होता है? इस प्रकार विचार करते हुए उदार दृष्टि से देखने पर सर्वत्र क्षण भर में स्वतः शिवतत्त्व का स्वयं प्रकाश हो जाता है।' इसी प्रकार संवित्प्रकाश में भी कहा है—'हे भगवन्! अपरोक्ष तत्त्व के सर्वत्र प्रकटस्थित होने पर भी जो व्यक्ति उपायान्तर का उपयोग करने के लिए उपायान्तर का प्रयत्न करता है, वह अवश्य ही कभी तुम्हें प्राप्त नहीं कर सकता'। महार्थमंजरी में भी इस प्रकार लिखा है—'जड़ पुरुष भी जिसको जानते हैं पानी भरने वाली औरतें भी जिसको जानती हैं, वह कुलस्वामी किसको प्रत्यक्ष नहीं होता? ऐसे स्फुट प्रत्यक्ष होने वाले कुल स्वामी के लिए मेरा नमस्कार'। वेदों में भी कहा है—'उस शिव को ग्वालों ने भी देखा है, पानी भरने वालों ने भी देखा है तथा संसार का प्राणी मात्र जिसका प्रत्यक्ष करता है, हमें भी वह दृश्यमान शिव प्रत्यक्ष-गोचर है ॥ १२४ ॥

शाक्तीं भूमिम् उपदिशति—

समः शत्रौ च मित्रे च समो मानावमानयोः ।
ब्रह्मणः परिपूर्णत्वादिति ज्ञात्वा सुखी भवेत् ॥ १२५ ॥

---

१. तुलना कीजिए—

परमार्थसार—५९ का०,

अतिगूढहृदयगन्धप्ररूढपरमार्थरत्नसञ्चयतः ।
अहमेवेति महेश्वरभावे का दुर्गतिः कस्य ॥

विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य परमार्थसार शोधनिबन्ध श्रीमती कमला द्विवेदी, का० ५०, पृ० ९१।

अनुवाद—ब्रह्म परिपूर्ण है। अतः (योगी) शत्रु और मित्र में तथा मान और अपमान में समान रहकर इस ज्ञान से सुखी रहता है ॥ १२५ ॥

व्याख्या—भगवद्गीता में भी भगवान् ने ऐसा ही कहा है—'विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में पण्डितजन समदर्शी होते हैं।'[1] ऐसा ही शांतरस निदर्शन में भी कहा गया है—'सर्प और हार में, पुष्पशय्या में तथा चट्टान में, मणि और मिट्टी के ढेले में, बलवान् शत्रु और मित्र में, घास और व्यभिचारि में समान दृष्टि से देखते हुए पुण्यारण्य में शिव-शिव उच्चारण करते हुए दिन व्यतीत होंगे, ऐसा समय कब आयेगा।[2] इसी प्रकार सिद्धान्तमुक्तावली में भी कहा गया है—'जिस साधक का मन क्षण भर के लिए भी ब्रह्म विचार में स्थैर्य पा लेता है, उसने सभी तीर्थों में स्नान कर लिया, सारी पृथ्वी दान में दे दी, हजारों यज्ञ कर लिए और संसार से अपने सभी पितरों का भी उद्धार कर लिया। अधिक क्या कहें, वह प्राणी त्रैलोक्य में पूजनीय है।[3] अभिप्राय यह है कि इच्छाज्ञान और क्रिया के उल्लास चैतन्यमय सारे विश्व के प्रपंच को समझते हुए मनुष्य सुखी हो जाता है ॥ १२५ ॥

शाम्भवीं भूमिम् उपदिशति—

न द्वेषं भावयेत् क्वापि न रागं भावयेत् क्वचित्।
रागद्वेषविनिर्मुक्तौ मध्ये ब्रह्म प्रसर्पति ॥ १२६ ॥

प्रसर्पति विकसति ॥ १२६ ॥

अनुवाद—न कहीं द्वेष रखें और न कहीं राग। इस प्रकार राग-द्वेष से मुक्त होने पर ब्रह्म दोनों के मध्य प्रकाशित होता है ॥ १२६ ॥

व्याख्या—सर्प, सिंहादि क्रूर प्राणियों में द्वेष और कटक-कुण्डलादि में अनुराग की दोनों ही भावनाओं का त्याग करने पर तथा रागद्वेष-मुक्त भावना के प्राप्त होने पर दोनों के मध्य ब्रह्मभावना की प्रतीति होकर सामने आती है ॥ १२६ ॥

---

१. विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥' —भगवद्गीता

२. 'अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा।
मणौ वा लोष्टे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ॥
तृणे वा स्त्रैणे वा समदृशो यान्तु दिवसाः ।
कदा पुण्येऽरण्ये शिवशिवशिवेति प्रलपतः ॥

३. 'स्नातं तेन समस्ततीर्थं सलिले दत्ता च सर्वावनि-
र्यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च सन्तर्पिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमति स्थैर्यमनः प्राप्नुयात् ॥'

—सिद्धान्तमुक्तावली

यदवेद्यं यदग्राह्यं यच्छून्यं यदभावगम् ।
तत्सर्वं भैरवं भाव्यं तदन्ते बोधसम्भवः ॥ १२७ ॥

यत् अवेद्यं ज्ञेयदशानास्पदम्, अनुपादेयम्, यत् शून्यम् —

'सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वतत्त्वैरशेषतः ।
सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः ॥'

इति उक्तस्वरूपम्—

'सावस्था काप्यविज्ञेया मादृशां शून्यतोच्यते ।
न पुनर्लोकरूढ्यैव नास्तिक्यार्थानुपातिनी ॥'

इति उक्तत्वात् यदेव वेद्यस्य अग्रहणं तदेव शून्यत्वं, तेन सुगतसुतभाविता शून्यभूरन्या, देवीनयोपासिनां च अन्या । एतदेव विमर्शदीपिकायां ध्वनितम्—

'स्वतन्त्रं परिपूर्णं च शिवाख्यं शून्यधाम तत् ।
तत्त्वानि यत्र लीयन्ते यस्मात्समुदयन्ति च ॥
तत्त्वेश्वरास्ततो जातास्तत्रैव निवसन्ति च ।
क्षीयन्ते किल तत्रैव शिवाख्ये शून्यधामनि ॥
दर्शनान्तरदृष्टानि यानि शून्यान्तराण्यपि ।
तेषामुत्पत्तिविलयौ शिवशून्ये सदोदिते ॥
न तदस्ति न यत्तत्र न तदस्ति न यत्र तत् ।
अन्तर्बहीरूपतया ततोऽन्यन्नोपपद्यते ॥
उपेयमितरन्नास्ति स्वातन्त्र्यात् परमे नये ।
तदनादृत्य गाहन्ते सौगताः शून्यतां जडाः ॥'

इति स्वातन्त्र्यस्वरूपं तच्छून्यं, यथा यदभावगं गगनकुसुमादिष्वपि सत्तास्फूर्ति-प्रदत्वेन महासामान्यरूपम्—

'सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।'

इति उक्तत्वात्—

'नमामः सर्वसामान्यं रूपं तत्पारमेश्वरम् ।'

इति उक्तेश्च, तत् एव सर्वस्वरूपं भैरवं भाव्यम्—भैरवत्वेन भावनीयम्, तद्भावनाप्रकर्षेण पर्यन्ते सम्यक् बोधो भवेत् । अभावव्यापकं महासत्तास्वरूपं च प्रकटीकृतं महेश्वरानन्दपादैः—

'कः सद्भावविशेषः कुसुमाद्भवति गगनकुसुमस्य ।
यत्स्फुरणानुप्राणो लोकः स्फुरणं च सर्वसामान्यम् ॥'

इति । सद्भावः सत्त्वम् तस्मात् विशेषो—भेदः असद्भावोऽसत्त्वम् इति यावत् ।

कोऽसद्भावो गगनपुष्पस्य सतः कुसुमात्--न कश्चित् इत्यर्थः । अत्र हेतुमाह—यत्स्फुरणानुप्राण इति ॥ १२७ ॥

अनुवाद—जो अपने जानने योग्य नहीं है, अथवा ग्रहण करने योग्य नहीं है, जो शून्य रूप है अथवा अभाव रूप से प्रतीत होता है । सभी की भावना करने पर इस (भावना) के अन्त में होने वाला बोध ब्रह्मबोध का कारण है ॥ १२७ ॥

व्याख्या—ज्ञान दशा में जो अवेद्य है, अर्थात् ज्ञान दशा में जिसका स्पन्दन नहीं होता है जो अनुपादेय और शून्य है । जैसा कि कहा है—'सभी आलम्बन धर्मों वाला, सभी तत्त्वों से परिपूर्ण, सभी क्लेश कर्मविपाक और आशय से शून्य है, तथा परमार्थतः जो शून्य नहीं है, ऐसा तत्त्व ही व्यापक तत्त्व है । वह कोई अनिर्वचनीया अवस्था है, जो हम जैसे मनुष्यों के द्वारा शून्यदशा के नाम से अभिव्यक्त की जाती है । न कि नास्तिक पुरुषों की तरह लोक में प्रसिद्धि को प्राप्त हुई अभावात्मक अवस्था को शून्य कहते हैं । ऐसा प्रतिपादन करने के कारण जिस वेद्य वस्तु का हम इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं कर सकते हैं, उसे हम शून्यावस्था कहते हैं । बौद्धों के द्वारा निर्णीत शून्य-भूमिका कुछ अलग है और आगमशास्त्र में बतलाई गई शून्यभूमिका कुछ अलग । इस तथ्य का विवेचन विमर्शदीपिका में प्राप्त होता है—'वह शिव नामक शून्य स्थान है जो स्वतंत्र और परिपूर्ण है, उस स्थिति में जाकर सभी तत्त्व लय हो जाते हैं । तथा उसी से सभी तत्त्वों का प्रादुर्भाव होता है । सभी तन्त्रेश्वर भी वहीं से उत्पन्न होते हैं और वहीं निवास करते हैं । तथा क्षय होकर सभी उसी शून्यमय शिवतत्त्व में लीन हो जाते हैं । दर्शनान्तरों में दिखलाए गए शून्य तत्त्व भी सदा उदित होने वाले इस शिव-शून्य में ही उत्पन्न होते हैं और इसी में लीन हो जाते हैं । वहाँ जो वस्तु नहीं है, वह कहीं नहीं है । और संसार में जो वस्तुएँ है वे सभी वहाँ हैं । बाह्याभ्यन्तर रूप से ऐसी कोई भी वस्तु जगत् में नहीं है जो उस शिवशून्य में नहीं है । उस परमार्थ सत्य का उपमेय अन्यत्र कहीं नहीं है । उसका अनादर करके जड़ बुद्धि वाले बौद्ध धर्मावलम्बी शून्यता का प्रतिपादन करते हैं, परमार्थतः यह उचित नहीं है' ।

इस प्रकार स्वतन्त्र स्वरूप उस शिवशून्य का, परमार्थतः अभावगत शून्यता आकाशकुसुम में होती है । इसकी सत्ता स्फूर्तिदायक होने से महान् व्यापक स्वरूप की है । जैसा कि कहा है—'वह प्रस्फुरित होने वाली एक विलक्षण महासत्ता है जो देश और काल के बंधन में नहीं है' । और भी कहा गया है—'मैं उस परमात्मा के सर्व-मान्य, व्यापक और परमेश्वर स्वरूप को प्रणाम करता हूँ' । इस प्रकार सर्वव्यापक स्वरूप भैरवतत्त्व की भावना करनी चाहिये । उस भावना की उत्कट अवस्था में प्राप्ति हो जाने पर यथार्थ बोध उत्पन्न हो जायेगा । इस प्रकार व्यापक अभाव महासत्ता स्वरूप है । इसी तथ्य को महेश्वरानंद ने प्रकट किया है—'आकाशपुष्प का वास्तविक पुष्प से क्या भेद है—(अर्थात् कुछ भी नहीं), क्योंकि वास्तविक पुष्प की स्फुरणा को देखकर ही आकाशपुष्प की स्फुरणा का उदय होता है । इस प्रकार स्फुरणा होने

में लौकिक-पुष्प व आकाश-पुष्प की स्फुरणा में पुष्प स्फुरणा रूप सामान्य धर्म अखण्ड अनुस्यूत रहता है'। अतः दोनों में कोई अन्तर नहीं है ॥ १२७ ॥

नित्ये निराश्रये शून्ये व्यापके कलनोज्झिते ।
बाह्याकाशे मनः कृत्वा निराकाशं समाविशेत् ॥ १२८ ॥

नित्यत्वादिविशेषणप्रतिपादितव्याप्तिके बाह्यगगने मनो विमर्शात्मकं ज्ञानं कृत्वा समापन्नं विधाय निरालम्बनचिदुदये सति, आकाशात् निष्क्रान्तम् अशून्यं धाम समाविशति इति शाक्त्येवेयं भूः ॥ १२८ ॥

अनुवाद—नित्य, निराश्रय, शून्य, व्यापक और सम्पूर्ण कल्पनाओं से युक्त बाह्याकाश में मन को स्थिर करके आकाश से भी परे अशून्य स्थान में प्रवेश करना चाहिये ॥ १२८ ॥

यत्र यत्र मनो याति तत्तत् तेनैव तत्क्षणम् ।
परित्यज्यानवस्थित्या निस्तरङ्गस्ततो भवेत् ॥ १२९ ॥

यत्र यत्र विषये मनः चाञ्चल्यात् याति, तत्तत् वस्तु तेनैव अविकल्पसंवेदनेन मनसा तत्क्षणं परिहृत्य, पुनरपि गतं चेत् पुनरपि प्रत्याहृत्य--

'उभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' (पा० १ सू० १२)

इति पतञ्जलिनीत्या--

'अभ्यासेनैव कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'

इति भगवत्सम्भाविते चित्तवृत्तिनिरोधे वैराग्याभ्यासयुगलदाढर्यात् मनसो निरालम्बनताप्राप्तियुक्त्या परभैरवावेशवान् भवेत्। उक्तं च गीतासु--

'यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥' (६।२७)

इति ॥ १२९ ॥

अनुवाद—जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहीं उसको तत्क्षण निर्विकल्पावथा में पहुँचा कर हटाना चाहिये। इस प्रकार बार-बार विषयों से मन को हटाने से मन निश्चल (तरंगहीन) हो जाता है ॥ १२९ ॥'

व्याख्या—चांचल्य के कारण जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ मन को निर्विकल्प संवेदना द्वारा तुरन्त उसका संवरण करना चाहिये। यदि फिर भी जाता है तो उसे खींचकर लाया जाना चाहिये। इस प्रकार दोनों पक्षों से चित्त की वृत्ति को रोकने पर धीरे-धीरे वह रुकने लग जायेगा। जैसा कि पातंजलयोगसूत्र में कहा गया है। भगवान् कृष्ण ने भी गीता में ऐसा ही कहा है–'यह चंचल मन चित्त-वृत्तियों का मन्थन करने वाला होने पर भी अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा वश में किया जा सकता है'। यह मन अत्यन्त चँचल है। अतः चित्तवृत्ति के निरोध से, वैराग्य और अभ्यास दोनों

की दृढ़ता से और निरालम्बन रूप प्राप्ति की युक्ति से परम भैरव में आविष्ट किया जा सकता है। जैसा कि गीता के छठे अध्याय में कहा गया है—'यह अस्थिर चंचल मन जहाँ-जहाँ जाता है, वहीं से उसे पकड़ कर आत्मा में लगाना चाहिये, जिससे वह वश में आ जाता है ॥ १२९ ॥

भया सर्वं रवयति सर्वदो व्यापकोऽखिले ।
इति भैरवशब्दस्य सन्ततोच्चारणाच्छिवः ॥ १३० ॥

भा ऐ र व—इति अक्षरचतुष्कस्य अयमर्थः—अनुत्तररूपोऽकारः, इच्छारूपः इकारः, अनुत्तरविश्रान्तिरेव आनन्दः, इच्छायां विश्रान्तिः ईशनम्—तेन एष क्रियाशक्तेः प्रारम्भः आकार ईकारश्च, भा संविद्रूपः प्रकाशः, इच्छा ईशनं च आनन्दवपुषि अनुत्तरपरधामनि च प्राग्भाविनि स्वरूपात् अप्रच्याविनि यदा अनुप्रविशति तदा अ आ इ ई—इत्येतत् एकारतया सम्पद्यते। अनुत्तरानन्दयोः इच्छायां प्रसरणेन एकारोत्पत्तिः, तत्रापि पुनरनुत्तरानन्दसङ्घट्टात् ऐकारोत्पत्तिः। अत एव सन्ध्यक्षरसंज्ञा एकार-ऐकारयोः। अत एव—

'अवर्ण इवर्णे ए।'

इत्यनेन अ आ ए—इत्येतत्, अकार-एकारयोः एकादेशेन अथवा आकार-एकारयोः एकादेशेन ऐ-भावः इति संवित्प्रकाशः शवलीभूतः। सा इयं स्फुटा क्रियाशक्तिः, स्फुटक्रियाशक्तिमत्त्वम् ऐकारार्थः। अत एव एकाक्षरकोशे—

'.....ऐकारः स्यान्महेश्वरः।'

इति उक्तम्। तेन भैरवपदस्य अयमर्थः—भया संवित्प्रकाशरूपया ऐकारः क्रियाशक्तिमान् महेश्वरः सर्वं रवयति विमृशति इति भैरवः इति एतदेव अभिधेयम्। यद्वा भया ज्ञानात्मिकया शक्त्या ऐकारेण माहेश्वर्यव्यञ्जिकया क्रियाशक्त्या सर्वं विमृशति। यदुक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—

'.....जडभूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया।
ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम् ॥' (१।१।४)

इति। अर्थान्तरं तु द्वितीयपादेन आह—सर्वदो व्यापकोऽखिले इति। तया भया सर्वं शुभाशुभं राति ददाति सर्वं वाति अनुगच्छति व्यापकतया इति भैरवः—

'ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।'

इति हि उपनिषत्, इति अहर्निशम् उच्चारणात् परमशिवीभावो भवति। एतदुच्चारणमाहात्म्यं श्रीमदभिनवगुप्तपादैः दर्शितम्—

'आत्मन्येव नमामि नाम विसरद्रोमाञ्चरेखाङ्कुरा-

क्रान्त्या किं च दवीयसीरपि दिशो जानामि रुन्धे हठात् ।
यन्मे भैरव भैरवेति रटतो हृद्ग्रन्थिविस्फोटन-
त्रुट्यत्पाशवपाशपञ्जरभरः कायोऽप्यनन्तायते ॥'

इति । अत्र स्वदेहे अमानम् अप्रभवनम्, अतिदूराणां काष्ठानां बलात् आक्रमण-ज्ञानं, त्रुट्यत्पशुसम्बन्धि पाशपञ्जरत्वं स्वकायस्य पराकाशायमानत्वं विना न सम्भवति इत्यतः–कायोऽप्यनन्तायते इति उक्तम् । समस्ततादात्म्यभावनया जीवन्मुक्ततायां परमेश्वरैकरूपतावेशात् परसिद्धिलाभः, यन्मया स्तुतं– आत्म-न्येव नमामि इति । एतत्तु विवृतिविमर्शिन्याम् अभिनवगुप्तपादैः दर्शितम् । इयं करङ्किणी मुद्रा ।

'अनन्तं सुरवर्त्म खम् ।'

इत्यमरः । कायोऽपि मोक्षायते इति पाठान्तरम् ।

केचित्तु भ्रियात्सर्वं रवयति इति पठन्ति, तत् न साधु– यदि भृरवः इत्यादिपदसिद्धिः स्यात् तर्हि एतत् सङ्गच्छेत । यद्यपि प्रचुरपुस्तकेष्वपि एष पाठोऽस्ति, तथापि धारणपोषणार्थो भरतिः कतमदक्षरमपेक्ष्य योजनीयः—न तावत् भैरवपदमध्यात् भैकारापेक्षो भरतिः रेफापेक्षो वा वकारापेक्षो वा । समुदायपक्षे तु नहि 'भर' इत्यर्णयुगस्य भरणादिकं वकारमात्रस्य रवणार्थत्वं युक्तिमत् प्रथमं वर्णद्वयं संयोज्य पुनर्वकारस्य पूर्वसङ्गतरेफसंयोजनेन काका-क्षिन्यायापादनं न युक्तम्—कष्टकल्प्यत्वेन कल्पनागौरवात् । भरण-रवण-वम-नार्थो भैरवः इति चिरन्तनार्थोऽपि न युक्तिसहो—भैरवपदस्यैव सिद्धत्वात्, ऐकारस्य सुषिरपातो वकारवत् भैरवपदासिद्धिः । अन्यच्च द्वितीयचरणे तु परमेश्वरेणैव सर्वदत्वम् अखिले व्यापकत्वं विवृतम् । तत् राति-वाति-क्रियायुग-लार्थो द्वितीयपादोक्तः क्षेमराजादिभिः न चेतितो, यतो विज्ञानोद्द्योतमङ्गल-श्लोकप्रारम्भे भरणाद्यर्थ एव प्रकटीकृतः । सर्वधारकः, सर्वपोषकः, सर्वप्रदः, सर्वव्यापी, भैरवः इति मूलग्रन्थाभिधेयं विचार्य भीरूणामभयप्रदो भैरवः, तथा भवभयाक्रन्दस्य कारणं, भीरवरुचाम् ईशः, भानि नक्षत्राणि ईरयति चालयति इति भेरः कालः तं वायति इत्यादिस्वकपोलकल्पितस्वचातुर्यमात्र-नैपुण्यप्रदर्शनविषये गजनिमीलनविधा इयम् । तदत्र सारासारार्थविवेकविषये सहृदया एव प्रमाणम् –इति क्षन्तव्यं गुरुभिः । एतज्जनकृतवर्णचतुष्काक्षर-योजनार्थस्तु तन्त्रालोकसारप्रदर्शितनयेनैव ज्ञेयः ॥ १३० ॥

अनुवाद—हे देवि ! सर्वत्र व्यापक भय के कारण संवित्प्रकाश से संचालित करने वाला, सर्वशक्तिमान् भैरव शब्द का निरन्तर उच्चारण करते हुए मनुष्य (साधक) भैरवस्वरूप हो जाता है ॥ १३० ॥

व्याख्या—भैरव शब्द में चार अक्षर हैं—भा-ऐ-र-व इति । इन चारों अक्षरों का अर्थ इस प्रकार है–अकार अनुत्तर है, इकार इच्छा रूप है, अनुत्तर में विश्रान्ति होना यही आनन्द है, इच्छा में विश्रान्ति होना ही ईषणा है, जिससे 'ईषणम् एषः' इस व्युत्पत्ति से क्रियाशक्ति का बोध होता है । आकार और ईकार का प्रारम्भ ये दोनों भास्वररूप अर्थात् संवित्प्रकाश का बोध कराते हैं । और इच्छा आनन्द रूप शरीर में अनुत्तर परमधाम के पूर्वभावी स्वरूप वाली होने से कभी च्युत नहीं होने वाली भावना है । इनका अनुप्रवेश होने पर 'अ', 'आ', 'इ', 'ई' मिलकर एकाकारता को प्राप्त हो जाते हैं । अनुत्तरानन्द का इच्छा में प्रवेश होने से 'एकार' की उत्पत्ति होती है । उसमें भी पुनः अनुत्तरानन्द के संघट्टन से ऐकार की उत्पत्ति होती है । अतएव 'एकार' और 'ऐकार' ये दोनों सन्ध्यक्षर हैं । इससे 'अ', 'आ', और 'ए' ये तीनों अकार और एकार के एकादेश से अथवा आकार और एकार के एकादेश से ऐकार उत्पन्न होता है, जिसका अर्थभाव है । वह संवित्प्रकाश से शबलीभूत (मिश्रित) होकर स्फुट क्रिया शक्ति का वाचक बन जाता है, इसीलिए एकाक्षरकोष में एकार का अर्थ महेश्वर कहा गया है । और भी भैरव पद का यह अर्थ होता है—संवित्प्रकाश रूप शक्ति एकार और क्रिया शक्तिमान महेश्वर इन सब को विमर्श रूप में प्रकट करने वाला भैरव कहलाता है ।[1] जैसा कि प्रत्यभिज्ञातंत्र में कहा गया है–'जड़भूत वर्णों की जीवदात्री प्रतिष्ठा के द्वारा ज्ञान, क्रियाभूत जीवन देने से इनमें जीवता मानी गयी है' । इस प्रकार जीवनदात्री शक्ति से युक्त शुभाशुभ कर्मफल को देने के कारण और सबको प्रेरित करने के कारण भैरव कहा जाता है । जैसा कि उपनिषदों में भी कहा गया है—'ईश्वर से प्रेरित जीव स्वर्ग या नरक में जाता है' । ऐसे परमशिव भाव को प्राप्त भैरव शब्द का निरन्तर उच्चारण करता हुआ परमशिव बन जाता है ।

'भैरव' शब्द के उच्चारण का माहात्म्य अभिनवगुप्त पाद ने भी बतलाया है—'मैं आत्मा में ही नमस्कार करता हूँ, वह नमस्कार व्यापक होता हुआ रोमांचक रेखा के अंकुरित होने से ही अभिव्यक्त होता है और अत्यन्त दूर तक फैली हुई दिशाओं को भी मैं बलपूर्वक रोक सकता हूँ, इस प्रकार समझता हूँ । मेरे 'भैरव-भैरव' उच्चारण से हृदय की ग्रन्थियों को भेद कर उसके द्वारा टूटते हुए पशुभाव के पाश समुदाय से मुक्त हुआ मेरा यह शरीर एक होते हुए भी अनन्त के रूप में प्रत्यक्ष आता है । इस प्रकार अपने वास्तविक सिद्धान्त का प्रतिपादन कर अन्य आचार्यों द्वारा विपरीत अर्थ भी किए गए हैं, वे सब युक्तिहीन होने के कारण उपेक्ष्य हैं । जैसा कि मंगलाचरण के प्रारंभ में ही 'भरणात् भैरवः स्मृतः' इस तरह भरणार्थक रूप से भैरव शब्द की व्याख्या की गई है । अर्थात् सबको धारण करने वाला, सबका पोषक, सब कुछ देने

---

१. भया संवित्प्रकाशरूपया ऐकारः क्रियाशक्तिमान् महेश्वरः सर्वं रवयति विमृशति इति भैरवः इति एतदेव अभिधेयम् । यद्वा भया ज्ञानात्मिकया शक्त्या ऐकारेण माहेश्वर्यव्यञ्जिकया क्रियाशक्त्या सर्वं विमृशति । —क्षेमराज विवृत्ति

वाला, सर्वव्यापी, इत्यादि रूपों में मूलग्रन्थ में ही विचार किया गया है। 'भीरुओं को अभय देने वाला'—इत्यादि भैरव शब्द के अर्थ बतलाए गये हैं। भव-भय से आक्रन्द्रित होने के कारण तथा प्रकाश शक्ति का स्वामी होने के कारण भी भैरव कहा गया है। 'भचक्र' अर्थात् नक्षत्र चक्र को प्रेरित करने के कारण काल का नाम 'भैरः' हैं। उस काल को प्रेरित करने वाला भी भैरव कहलाता है। इत्यादि अनेक परिभाषाएँ कपोल-कल्पनाओं अथवा बुद्धिचातुर्य की निपुणताओं के प्रदर्शन मात्र हैं। अतः इस विषय में सार-आसार का विवेक सहृदय-पुरुष के लिए स्वयं विचारणीय है। तथा मेरी यह धृष्टता गुरुजनों के लिए क्षम्य है। मैंने इन ४ अक्षरों की योजना का अर्थ करके भैरव शब्द की जो व्याख्या की है, वह तंत्रालोकसार नामक ग्रन्थ में बतलाए मार्ग के अनुसार ही है ॥ १३० ॥

अहं ममेदमित्यादिप्रतिपत्तिप्रसङ्गतः ।
निराधारे मनो याति तद्ध्यानप्रेरणाच्छमी ॥ १३१ ॥

अहं, मम इदम्—इत्यादिन्यूनाहन्ताज्ञानप्रसङ्गेनापि निराधारे वस्तुनि प्रबुद्धगोचरे पूर्णाहंभाव एव मनो याति - अहं-विमर्शस्य अत्रुटितत्वेन निर्विशेषत्वात्। परमानन्दात्मकत्वं तु आत्मनो न कदाचित् विच्छिद्यते - पूर्णाहं-विमर्शस्य परमात्मत्वेन सर्वत्र सत्त्वात्। अप्रबुद्धादीनां सर्वेषाम् एक एव आत्मा, सर्वे हि स्वात्मन्येव रागिणः, स्वात्मप्रेमैव परमेश्वरभजनम्—

'प्रेमैव ब्रह्म केवलम्।'

इति उक्तत्वात्। अहं-विमर्शस्य न्यूनतापूर्णतादिना विच्छेदाभावात् प्रबुद्धात्मा अप्रबुद्धात्मा वा आनन्दस्वभाव एव। अतो महेश्वरानन्दादिभिः विद्यायां वाप्यविद्यायां स्वानन्दसत्तया स्वात्मविषयं परं प्रेम न कदाचित् हीयते इति उक्तम्। यथा —

'नन्वात्मनः प्रियार्थं सर्वस्य प्रियत्वं भणति श्रुतिः।
तस्मादानन्दस्वभाव आत्मा मुक्तोऽप्यमुक्तो वा ॥'

इति।

'मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते।
अतस्तत्परमं तेन परमानन्दतात्मनः ॥'

इति।

'त्वमेवात्मेश सर्वस्य सर्वश्चात्मनि रागवान्।
इति स्वभावसिद्धां त्वद्भक्तिं जानञ्जयेज्जनः ॥'

इति। तस्मात् न कश्चित् अप्रबुद्धो न कश्चित् प्रबुद्धः सुप्रबुद्धो वा, किं तु स्वतन्त्रः परमेश्वर एव तथा तथा भाति। अबोधबोधसम्बोधकल्पनया तत्स्वातन्त्र्यं विघटते, अतो बोधादिविकल्परहितत्वेन शान्तो भवेत् ॥ १३१ ॥

अनुवाद—'मैं' और 'मेरा यह' इत्यादि ज्ञान के प्रसंग से भी मन निराधार (वस्तु अर्थात् पूर्ण अहं) में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार उसके ध्यान की प्रेरणा से शान्ति को प्राप्त कर लेता है ॥ १३१ ॥

व्याख्या—'मैं' और 'मेरा यह' इत्यादि न्यूनाहंता ज्ञान के प्रसंगों में भी निराधार वस्तुओं में और प्रबुद्ध पूर्णाहंता भाव—बुद्धि में मन के जाने पर भी अहंताविमर्श के अखण्ड रहने के कारण ज्ञानावस्था की अहंता में और अज्ञानावस्था की अहंता में कोई अन्तर नहीं है, परमानन्द तो सर्वत्र आत्मा का ही है। इसीलिए किसी भी अवस्था में उसका वियोग नहीं हो सकता। ज्ञानी और अज्ञानी की आत्मा एक ही है। तथा अपनी आत्मा में ही सभी स्नेह करते हैं। आत्मा में स्नेह करना ही परमेश्वर भजन है। शास्त्रों में भी 'प्रमेव ब्रह्म केवलम्' ऐसा कहा गया है। अतः अहंता-विमर्शता का न्यूनता और पूर्णता से कोई भेद नहीं है। ज्ञानी या अज्ञानी आनन्द स्वभाव मात्र हैं। अतः महेश्वरानंद आदि विद्वानों ने विद्या और अविद्या में आत्मानंद सत्ता-रूप परम-प्रेम को सर्वत्र समान रूप से व्याप्त देखा है। क्योंकि आत्मा विषयक प्रेम कहीं पर भी अविद्यमान नहीं होता। वेदों में भी आत्मा के प्रिय के लिए ही सभी प्रिय होते हैं, ऐसा कहा गया है। इसलिए आत्मानंद स्वभाव वाला चाहे मुक्त हो या बद्ध, आत्मा में प्रेम रखना दोनों में समान है। और भी कहा गया है—मैं न उत्पन्न हुआ था, न उत्पन्न होऊँगा, इस प्रकार आत्मा के विषय में परमानन्दमय आत्मप्रेम होता है। वह ज्ञानी और अज्ञानी के समान ही होता है।

तथा हे प्रभो ! तुम्हीं सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हो, सभी मनुष्य आत्मा में अनुराग करते हैं, इस प्रकार स्वभावसिद्ध आत्मा को जानने वाला मनुष्य ही तुम्हारा भक्त है। अतः न कोई ज्ञानी है, न कोई अज्ञानी और न कोई श्रेष्ठ ज्ञानी है, किन्तु स्वतंत्र परमेश्वर ही सर्वत्र अबोध, बोध और संबोध रूप कल्पना से स्वातंत्र्य शक्ति के रूप में सामने आता है। इसलिए बोधादि विकल्पों से रहित हो जाने पर सब कुछ अविनाशि आत्मा है। इस प्रकार का शांत भाव साधक के हृदय में जागृत हो जाता है।

अविनाशी, व्यापक, विश्वम्भर, वासुदेव हरि का शाश्वत कीर्तन-भजन मात्र करते हुए कलियुग में साधक मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[1] ॥ १३१ ॥

---

१. बन्ध और मोक्ष के स्वरूप के लिए द्रष्टव्य परमार्थसार का० ३२-३३,

देहप्राणविमर्शनधीनान नमः प्रपञ्चयोगेन।
आत्मनं वेष्ट्यते चित्रं जालेन जालकार इव ॥
स्वज्ञानविभवभासनं योगेनोद्वेष्टयेन्निजान्मातम्।
इति बन्धमोक्षचित्रां क्रीडां प्रतनोति परमशिवः ॥

इस कारिका में विवेचित विषय की तुलना के लिए निम्नलिखित अवतरण उल्लेखनीय है—

'अविनाशी वासुदेवो विष्णुर्विश्वम्भरो हरिः ।
इत्थं कीर्तनमात्रेण कलौ मोक्षो हि शाश्वतः ॥'

इति पाञ्चरात्रमतं कटाक्षेण प्रमाणयन् शाक्तीं भूमिम् आह—

नित्यो विभुर्निराधारो व्यापकश्चाखिलाधिपः ।
शब्दान् प्रतिक्षणं ध्यायन् कृतार्थोऽर्थानुरूपतः ॥ १३२ ॥

'चैतन्यविशिष्टं शरीरात्मा' इति चार्वाकाः । नैयायिकादयो ज्ञानादिगुणगणाश्रयं बुद्धितत्त्वप्रायमेव आत्मानं संसृतो मन्यते । अपवर्गं तु तदुच्छेदे शून्यप्रायम्, अहं प्रतीति प्रत्येयः सुखदुःखाद्युपाधिभिः तिरस्कृतः आत्मा इव मन्वानाः मीमांसकाः अपि बुद्धावेव निविष्टाः । ज्ञानसन्तान एवं तत्त्वम् इति सौगाता बुद्धिवृत्तिषु एव पर्यवसिताः । प्राण एव तत्र आत्मा इति केचिद् श्रुत्यन्तविदः । असदेव इदमासीत् इत्यब्रह्मवादिनः शून्यभुवमतमाहूय स्थिताः । माध्यमिकापि एवमेव । परा प्रकृतिः भगवान् वासुदेवः तद्विस्फुल्लिङ्गप्राया एवं जीवाः इति पाञ्चरात्राः । परस्याः प्रकृतेः परिणामाभ्युपगमान् अव्यक्ते एव अभिनिविष्टाः ।

सङ्ख्यादयस्तु विज्ञानकलप्रायां भूमिमवलम्बन्ते । सदेव इदमग्रमासीत् इति ईश्वरतन्त्रत्वपदमाश्रिता अपरे श्रुत्यन्तविदः । शब्दब्रह्ममयं पश्यन्तीरूपमात्मज्ञत्वम् इति श्रीसदाशिवपदमध्यासिताः ।

बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वेवाहूताः स्थिताः ।

स्थितावेदविदः पुंस्यव्यक्ते पाञ्चरात्रिकाः । विश्वोत्तीर्णमात्मत्वमिति । तान्त्रिकाः विश्वमयम् इति कुलाद्याम्नायनिविष्टाः विश्वोत्तीर्णं शिवमयं चेति त्रिकादिदर्शनविदः ।

—प्रत्यभिज्ञाहृदय सूर की वृत्ति ।

देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्रकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः । इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे । मनो मन्यते । विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके । शून्यमित्यपरे । अस्तिदेहादित्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेत्यपरे । भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके । अस्ति तद्व्यतिरिक्तः ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित् । आत्मा स भोक्तुरित्यपरे ।

—शाङ्करभाष्य (नि० सा०)

तथा—

सदानन्दकृत वेदान्तसार में श्रुति-वाक्यों का आधार लेकर चार्वाक आदि के आत्मसम्बन्धी मतों का विवेचन भी द्रष्टव्य है—

अतिप्राकृतस्तु 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यादि श्रुतिः—पुत्र आत्मेति वदति । चार्वाकस्तु स्थूलं शरीरमात्मेति वदति । अपरश्चार्वाकः प्राण आत्मेति वदति । अन्यस्तु चार्वाकः—मन आत्मेति वदति । बौद्धस्तु—बुद्धिरात्मेति वदति ।

प्रभाकरतार्किकौ तु अज्ञानमात्मेति वदति । भाट्टस्तु—अज्ञानोपहितं चैतन्यमात्मेति वदति । अपरो बौद्धः—शून्यमात्मेति वदति । —वेदान्तसार पृ० ७२-७९

विभुः परमेश्वरो नित्यत्वादिस्वरूपः इति अर्थानुगुण्येन तान् शब्दान् मुहुः चिन्तयन् कृतकृत्यो भवति इत्यर्थः। भट्टनारायणेनापि नामकीर्तनमाहात्म्यं स्तवचिन्तामणौ पदे पदे अभिहितम्—

'नामापि ध्यायतां ध्यानैः किमन्यालम्बनैः फलम्।'

इत्यादिना ॥ १३२ ॥

इस प्रकार के पाञ्चरात्र मत का संकेत करते हुए 'शाक्तभूमिका' का अवतरण दिया जा रहा है—

अनुवाद—नित्य, निराधार, व्यापक, सर्वेश्वर, इन शब्दों (नामों) का प्रतिक्षण ध्यान करते हुए (साधक) अर्थ के गुणानुसार कृतार्थ हो जाता है ॥ १३२ ॥

व्याख्या—व्यापक परमेश्वर, नित्य, अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप है, इस प्रकार अर्थानुसंधानपूर्वक शब्दों का बार-बार चिन्तन करते हुए साधक कृतकृत्य हो जाता है। भट्टनारायण ने भी नाम-कीर्तन के माहात्म्य का वर्णन करते हुए अपने स्वचिन्तामणि ग्रन्थ में पद-पद पर इस तथ्य को लिखा है; तथा स्पन्दकारिका में भी ऐसा ही कहा गया है ॥ १३२ ॥

द्वैतप्रपञ्चज्ञानं भ्रम एव, इति वेदान्ताभिमताम् इन्द्रजालधारणाम् आह—

अतत्त्वमिन्द्रजालाभमिदं सर्वमवस्थितम्।
किं तत्त्वमिन्द्रजालस्य इति दार्ढ्याच्छमं व्रजेत् ॥ १३३ ॥

अतत्त्वं निस्तत्त्वरूपम्, अत एव इन्द्रजालतुल्यम्। किं तत्त्वं—न किञ्चिदित्यर्थः। अतः सर्वम् इदमिन्द्रजालवत् प्रतीयते, न वस्तुसत् इत्यर्थः ॥१३३॥

द्वैत प्रपंच ज्ञान केवल भ्रममात्र है, ऐसी वेदान्ताभिमत इन्द्रजालधारणा का वर्णन करते हुए कहा जा रहा है—

अनुवाद—यह सब इन्द्रजाल के समान तत्त्वहीन है, इन्द्रजाल का भला क्या होगा, इस (विचार) को दृढ कर लेने से साधक शान्ति को प्राप्त कर लेता है ॥१३३॥

आत्मनो निर्विकारस्य क्व ज्ञानं क्व च वा क्रिया।
ज्ञानायत्ता बहिर्भावा अतः शून्यमिदं जगत् ॥ १३४ ॥

बोधात्मकस्य चिदात्मनो निर्विभागत्वेन निर्विकारत्वात् ज्ञानं क्व, क्व च वा क्रिया, ज्ञानक्रिये विकार एव, तदायत्ता बाह्याः पदार्थाः, अतः सर्वम् इदं शून्यमेव ध्यायेत्। यदुक्तं चन्द्रज्ञाने—

'अध ऊर्ध्वं दिशः सर्वा भूमिरापोऽनलस्तथा।
वायुश्च खं मनो बुद्धिरहङ्कारश्च ये गुणाः ॥

सर्वं शून्यं निरालम्बं तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
यत्किञ्चित्सकलं भावरूपं तन्त्रेषु वर्णितम् ॥
तदसारतरं चन्द्र मायास्वप्नोपमं स्थितम् ।
भ्रान्तिं त्यजस्व वै पुत्र सर्वं शून्ये प्रतिष्ठितम् ॥
शून्यात् प्रवर्तते शक्तिः शक्तेर्वर्णाः प्रजज्ञिरे ।
वर्णेभ्यश्च तथा मन्त्रा मन्त्रेभ्यः सृष्टिरव्यया ॥
तस्माच्छून्यं जगद्ध्यायेद्यन्न नश्येत् कदाचन ।' इति ।

अतश्च ज्ञेयकार्यादिरूपं जगदपि न किञ्चित् इति निरूढशुद्धसंविदोऽनुत्तरभाव-प्राप्तिः । इति शाक्ती भूः ॥ १३४ ॥

अनुवाद—('गुणकृत विकार) ज्ञान अथवा क्रिया का निर्विकार आत्मा में होना संभव नहीं है, बाहर के जितने भी भाग हैं, वे सभी ज्ञान के अधीन हैं । अतः सारा जगत् शून्य हैं ॥ १३४ ॥

व्याख्या—बोधात्मक चिन्मय आत्मा का विभाग होना संभव नहीं है, क्योंकि वह निर्विकार है । ऐसी अवस्था में विकार रूप ज्ञान या क्रिया का उसमें होना किसी भी प्रकार संभव नहीं है । साथ ही सभी बाह्य पदार्थ ज्ञान और क्रियाजन्य होते हैं । ज्ञान और क्रिया से रहित वस्तु में बाह्य पदार्थों की सत्ता किसी भी प्रकार हो नहीं सकती । अतः यह सारा दृश्य जगत् शून्यमात्र है, ऐसा ही ध्यान निरन्तर करना चाहिए ।

जैसा कि चन्द्रज्ञान में कहा गया है—ऊपर से नीचे तक की सारी दिशाएँ, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये सारे गुण हैं । ये सभी निरालम्ब महाशून्य में प्रतिष्ठित होने से जो कुछ भावरूप शास्त्रों में वर्णन किया हुआ है; हे चन्द्र ! वह सब सारहीन है और मायिक इन्द्रजाल के तुल्य अथवा स्वप्न सृष्टि के समान स्थित है । हे पुत्र ! भ्रान्ति को छोड़कर ऐसी भावना करो कि सारा जगत् शून्य मे प्रतिष्ठित है । शून्य से ही शक्ति प्रवृत्त होती है, शक्ति से वर्ण, वर्ण से मन्त्र और मन्त्र से अव्यय सृष्टि की उत्पत्ति होती है । अतः सारे जगत् का शून्य रूप से ध्यान करो, जो शून्य कभी भी विनाश को प्राप्त होने वाला नहीं है । अतः यह दृश्यमान् जगत् शून्य के अतिरिक्त कुछ भी नही है, ऐसे दृढ़ शुद्ध संवित् के द्वारा ही है । ज्ञान और क्रिया आदि शक्तियों के योग से उत्पन्न होने वाली कल्पना से दूर रहे । निर्विकल्प आत्मा में जगत् इन्द्रजालवत् प्रतीत होता है । जैसा कि मालिनी-विजय में भी कहा गया है—'जगत्कर्ता महाशून्य परमशिव की समवाय शक्ति इच्छा के रूप में जब सृष्टि का प्रारंभ करना चाहती है, तब वह एक होने पर भी अनेक रूप धारण कर लेती है । उसका प्रसार किस प्रकार का है, उसे कहा जा रहा है । अतः सुनो—ज्ञेय

वस्तु इससे भिन्न नहीं है, ऐसा सुनिश्चित है। इस प्रकार का बोध कराने वाली शक्ति को ज्ञानशक्ति कहते हैं; तथा यह सब इस प्रकार हो जाय—वह कार्योन्मुखी प्रवृत्ति क्रिया के रूप में निर्देश की जाती है। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया के रूप में दो प्रकार की शक्ति उत्पन्न होकर अनेक प्रकार की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। उसमें हेतु पदार्थ की उपाधि है। जैसे चिन्तामणि रत्न से इच्छित वस्तुएँ संकल्प मात्र से ही प्राप्त हो जाती हैं, वैसे ही संकल्प मात्र से ही अनेक ज्ञान और क्रियाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। वहाँ पहले तो यह मातृभाव को धारण कर दो प्रकार की बनती है, फिर नौ प्रकार की बनकर पुनः ५० प्रकार की बन जाती है।[1] इत्यादि रूप से इस चैतन्य संवित् का विस्तार-विलास अनन्त रूप धारण कर लेता है ॥ १३४ ॥

न मे बन्धो न मोक्षो मे भीतस्यैता विभीषिकाः ।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वतः ॥ १३५ ॥

मम चिन्मात्ररूपस्य न बन्धो, मोक्षो वा—देशकालाद्यपरिच्छिन्नत्वात्, परिच्छिन्नस्यैव बन्धमोक्षभावात्, केवलम् एताः बन्धमोक्षादिकल्पना मायाशक्तिवशात् अपरामृष्टस्वरूपस्य भीतस्यैव—

'द्वितीयाद् वै भयं भवति'

इति द्वैतत्रस्तस्य, न तु चिदद्वैतपरामर्शशीलस्य विभीषिकाः चटकभीत्युत्पादनशालिरक्षणार्थाः पलालपुरुषाद्याः। तत्त्वज्ञानिनस्तु किं करिष्यन्ति एताः अनेन बन्धनम्, इदं न कर्तव्यम्, इदं कर्तव्यम्, अनेनैव मोक्षः, इत्याद्याः कल्पनाः—

'निस्त्रैगुण्ये पथि विहरतां को विधिः को निषेधः।'

इति शुकमुन्युपदेशात्। उक्तं च कल्हणकविना—

---

१. 'या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवि सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ॥
सैकापि सत्यनेकत्वं यथा गच्छति तच्छृणु ।
एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम् ॥
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ।
एवं भवत्विदं सर्वमिति कार्योन्मुखी यदा ॥
जाता तदैव तद्वत्कुर्वत्यत्र क्रिया मता ।
एवं यथा द्विरूपैव पुनर्भेदैरनेकधा ॥
अर्थोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी ।
तत्र तावत्समापन्ना मातृभावं विभिद्यते ॥
द्विधा च नवधा भेदैः पञ्चाशद्धा च मालिनी ।'

'शालीन्पलालपुरुषोऽवति यः कृशानु-
दग्धाननश्चटकपेटकभीतिदानैः ।
त्रातुं स एव विहितो विपिने विदध्यात्
किं तत्र भञ्जनकृतां वनकुञ्जराणाम् ॥' इति ।

यथा सूर्यस्य बिम्बमेव प्रतीपं जलमध्ये अस्ति, तथा बुद्धिरेव परिमित-विषया—बद्धोऽहं मुक्तोऽहम् इत्याकारा प्रतीपा इति मम किम् आयातं, बुद्ध्या-द्यवभासकत्वेन तदतीतत्वात्—इति बुद्धिमेव त्यजेत् ॥ १३५ ॥

अनुवाद—न तो मेरा बन्धन होता है, न ही मोक्ष । ये तो डरे हुए को डराने वाले साधन हैं । यह संसार बुद्धि का प्रतिबिम्ब है, जैसे जल में सूर्य का ॥ १३५ ॥

व्याख्या—जैसा कि परमार्थसार में कहा गया है—'माया को स्वीकार कर लेने के कारण बाध मलिन होकर पुरुष बन जाता है, जो पशु है ।[1] मुझ चिन्मय आत्मा का न बंध है और न मोक्ष । क्योंकि देश और काल से अपरिच्छिन्न होने के कारण बंध और मोक्ष की व्यवस्था होना असंभव है । यह तो केवल मायाशक्ति के अधीन अविचार के द्वारा उत्पन्न द्वैत रूप अज्ञान ही है । और वह इन्द्रजालवत् या स्वप्न-संसारवत् मिथ्या होने से भूसे के द्वारा बनाये हुए 'चंचा पुरुष' के तुल्य है । अतः तत्त्वज्ञानी के लिए ये सभी क्या कर सकते हैं ? इससे बंधन होगा, इससे मोक्ष होगा, ये सभी कल्पनाएँ मात्र ही तो है । यह सारी व्यवस्था त्रिगुणात्मक है । त्रिगुणातीत मार्ग में विचरते हुए मनुष्य के लिए न कोई विधि है और न कोई निषेध । कल्हण कवि ने कहा है—'अंगारे से जले हुए मुखवाली चिड़ियों को भय उत्पन्न करने के कारण साल के पलाल से बना हुआ चंचा पुरुष खेतों की रक्षा करता है, इसीलिए जंगल में उसका निर्माण किया जाता है । परन्तु उस चंचा पुरुष से चिड़ियाँ ही डर सकती हैं, सारे जंगल को तोड़-मरोड़ कर नष्ट करने वाले जंगली हाथी के लिए वह चंचा पुरुष किस काम का है ? जैसे सूर्य की किरणों का प्रतिबिम्ब ही जल के भीतर है, उसी प्रकार 'मैं बद्ध हूँ', 'मैं मुक्त हूँ' इस प्रकार के विपरीत विचार भी बुद्धि के आयास मात्र से उत्पन्न होने से असत् हैं । इसी बात को परमार्थसार में स्पष्ट रूप में कहा गया है[2] ॥ १३५ ॥

---

१. 'माया परिग्रहवशाद् बोधो मलिनः पुमान् पशुर्भवति ।—परमार्थसार का० १६

२. 'गच्छति गच्छति जल इव हिमकरबिम्बं स्थिते स्थितिं याति ।
तनुकरणभुवनवर्गे तथायमात्मा महेशानः ॥—प० सा० ७

तुलना कीजिए—

आत्मा के भ्रम के कारण ही असत् होने पर भी धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक, जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, वर्ण-आश्रम आदि प्रतीत होते हैं—

तद्वद् धर्माधर्मस्वर्निरयोत्पत्ति-मरण-सुखदुःखम् ।
वर्णाश्रमादि चात्मन्यादपि विभ्रमबलाद्भवति ॥'—परमार्थसार का० ३०

अन्तःकरणत्यागम् उक्त्वा बाह्यकरणत्यागधारणाम् आह—

इन्द्रियद्वारकं सर्वं सुखदुःखादिसङ्गमम् ।
इतीन्द्रियाणि सन्त्यज्य स्वस्थः स्वात्मनि वर्तते ॥१३६॥

सम्बध्यमानसुखदुःखादिमयं सर्वम् इन्द्रियद्वारायातम्, न तु मम चिदात्मनो वास्तवम् इत्यतो हेतोः इन्द्रियाणि परित्यजेत् । इन्द्रियाणाम् एष एव सम्यक् त्यागो—यत् स्वस्थत्वं स्वरूपावस्थितत्वम् ।

'एते हि चिद्विलासान्ता मनोबुद्धीन्द्रियादयः ।'

इति उक्तनयेन स्वस्वरूपचिन्मात्रविलासज्ञानम् इन्द्रियाणां स्वस्थत्वं वर्तते । वर्तते इति लिङर्थे लट् । ततश्च आत्मसंस्थ एव तिष्ठेत ॥ १३६ ॥

अन्तःकरण त्याग देने पर, अब बाह्य इन्द्रियों के त्यागने की धारणा निरूपित है—

अनुवाद—सारे सुख-दुःखादि का संगम इन्द्रियों के द्वारा ही होता है । अतः इन्द्रियों को त्याग कर आत्मनिष्ठ होने पर साधक स्वस्थ हो जाता है[1] ॥' १३६ ॥

शांकरभाष्य में भी उल्लेख है—

तथाहि 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादीनि शास्त्राणि आत्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्थादिविशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते । अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम् । तद्यथा—पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेत्ति बाह्यधर्मानात्मनि अध्यस्यति । तथा देहधर्मान्—'स्थूलोऽहं', 'कृशोऽहं', 'गौरोऽहं' तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति । तथेन्द्रियधर्मान्—मूकः कारणः क्लीबः बधिरः अन्धोऽहमिति । तथा अन्तःकरणधर्मान्—कामसङ्कल्पविचिकित्साध्यवसायादीन् । एवमहम्प्रत्ययिनम् अशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मनि अध्यस्य, तञ्च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्येणान्तःकरणादिषु अध्यस्यति ।

—ब्रह्मसूत्र-शांकरभास्य (नि० सा०) पृ० ३-४, २५ कारिका के अंत में दी हुई टिप्पणी भी देखिए ।

१. प्रस्तुत कारिका के सम्बन्ध से निम्नलिखित उल्लेखनीय है—

'सुखदुःख-मोहमात्रं निश्चयसङ्कल्पनाभिमानाच्च ।
प्रकृतिरेवान्तःकरणं बुद्धिमनोहङ्कृति क्रमशः ॥'

अर्थात् सुख-दुःख मोहात्मिका प्रकृति है और निश्चयसंकल्प और अभिमान से क्रमशः बुद्धि, मन और अहंकार है ।

तथा—

'श्रोत्रं त्वगक्षि रसनाघ्राणं बुद्धीन्द्रियाणि शब्दादौ ।
वाक्पाणि-पाद-पायूस्थं कर्मेन्द्रियाणि पुनः ॥'

शब्दादि विषयों के लिए श्रोत्र, त्वक्, आँख, रसना और घ्राण बुद्धीन्द्रियाँ है ।

—परमार्थसार का० १९-२०

व्याख्या—जगत् में प्रतीत होने वाले सुख-दुःखादि सभी इन्द्रियों के द्वारा ही उपलब्धि में आते हैं। मुझ चैतन्य आत्मा में वस्तुतः सुख और दुःख लेशमात्र भी नहीं है। अतः इन्द्रियों के त्याग का यही उत्तम प्रकार है कि आत्मा में अपनी स्थिति को दृढ़ किया जाय। यह सारा जगत् चिन्मय के विलास मन और इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न हुआ है, अतः ये मुझ में नहीं है, न इनका कोई वास्तविक अस्तित्व ही है। इस प्रकार आत्मनिष्ठ होकर रहने पर ये सभी स्वतः नष्ट हो जाते हैं। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं—दृष्ट, दृश्य और दर्शन में भेद-बुद्धि त्यागने पर मनुष्य आत्मस्थ हो जाता है। इस अवस्था में साधक को किसी प्रकार सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता और वही हमारा वास्तविक स्वरूप है ॥ १३६ ॥

ज्ञानप्रकाशकं सर्वं सर्वेणात्मा प्रकाशकः।
एकमेकस्वभावत्वात् ज्ञानं ज्ञेयं विभाव्यते ॥ १३७ ॥

सर्वं प्रकाश्यं वेद्यं वस्तुजातं ज्ञानप्रकाशकम् अस्ति।
'कृत्यल्युटो बहुलम्।' (पा० व्या० ३।३।११३)
इति ज्ञानपदस्य कर्तरि प्रयोगेन ज्ञानं वेदकात्मा प्रकाशको यस्य तदेवंविधम् वेदकप्रकाश्यं वेद्यम् इत्यर्थः। वेदकसाध्यं वेद्यत्वम् उक्त्वा वेद्यसाध्यं वेदकत्वम् आह—सर्वेणात्मा इति। सर्वेण वेद्यजातेन आत्मा वेदकः प्रकाशकारी भवति। वेद्यम् ऋते किमपेक्षं वेदकत्वं वेदकस्य, वेदकः इति कस्य वेदकः इत्यर्थः। अतो वेद्य एव जीवितं ददाति वेदकस्य इति। वेद्यत्वं वेदकत्वस्वरूपं, वेदकत्वं वेद्यत्वात्म—एकप्रकृतिकत्वात्। अतो ज्ञानं वेदकं, ज्ञेयं वेद्यम् एकमेव तत्त्वं विशेषेण भावयेत्। यदुक्तम्—

'यावन्न वेदका एते तावद् वेद्याः कथं प्रिये।
वेदकं वेद्यमेकं तु तत्त्वं नास्त्यशुचिस्ततः ॥'

विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए—शोधनिबन्ध, परमार्थसार : श्रीमती कमला द्विवेदी पृ० ४१।

तथा—

प्रकृति भोग्य, दृश्य या वेद्य है, जिसका सृजन कलातत्त्व से होता है—

'वेद्यमात्रं स्फुटभिन्नप्रधानं सूयते कला।'

—तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० १७१

तथा—

'त्रयोविंशतिधा मेधं यत्कार्यकारणात्मकम्।
तस्याविभागरूप्येके प्रधानं मूलकारणम् ॥'

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भास्करी भाग २) पृ० २३९

इति । किञ्च—

'प्रकाशमानं न पृथक्प्रकाशात् स च प्रकाशो न पृथग्विमर्शात् ।
नान्यो विमर्शोऽहमिति स्वरूपात् अहंविमर्शोऽस्मि चिदेकरूपः ॥'

इति नीत्या प्रकाशकं ज्ञानं न आत्मनः पृथक्, सर्वशब्दवाच्यं ज्ञेयजातं ज्ञानात् न पृथक् इति ऐक्यं भावयेत् ॥ १३७ ॥

अनुवाद—समग्र ज्ञेय ज्ञाता द्वारा प्रकाशित होता है, सबके द्वारा आत्मा (ज्ञाता) प्रकाशित होता है । अतः ज्ञाता ओर ज्ञेय एक स्वभाव के होने से एक ही समझे जाते हैं[1] ॥ १३७ ॥

व्याख्या—सम्पूर्ण दृश्यमात्र का प्रकाशक ज्ञान है और ज्ञान सारे वस्तु जगत् ज्ञान का प्रकाश है । 'ज्ञायते इति ज्ञानम्' तथा कृत्यल्युटो बहुलम्' (पा० ३।३।११३) पाणिनि के इस सूत्र से कर्ता में 'ल्युट्' होकर 'ज्ञा' धातु से 'ज्ञान' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ ज्ञान कराने वाला होता है । तब 'ज्ञानं प्रकाशको यस्य तज्ज्ञान-प्रकाशकम्' । अर्थात् ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होने वाला यह अर्थ होगा, जो वेदक-सादृश्य वेद्य स्वरूप है, इसी प्रकार वेद्य-साद्य वेदक भी है । अतः सब का प्रकाशन ज्ञान है और ज्ञान की प्रकाशक सारी वस्तुएँ हैं । इससे सिद्ध होता है कि वेद्य और वेदक अभिन्न स्वरूप है । ऐसा चिन्तन करने से मनुष्य एक तत्त्व की साधना को दृढ़ कर सकता है । जैसा कि आचार्यों ने कहा है—'जब तक ये वेदक वस्तुएँ नहीं हैं, तब तक वेद्य वस्तुएँ कहाँ से आयेंगी । हे प्रिये ! वेद्य और वेदक दोनों तत्त्वों को एक ही समझना चाहिए । इनकी एकता को समझ लेने के बाद कोई अपवित्र नहीं है । जैसा कि आचार्यों ने कहा है—'वह प्रकाशमान वस्तु विमर्श से पृथक् नहीं है । अहं-प्रतीति से विमर्श भिन्न नहीं है और अहंता-प्रतीति चिन्मय से भिन्न नहीं है । इस नीति से प्रकाश और प्रकाशक दोनों अभिन्न हैं । प्रकाशक ज्ञान आत्मा से पृथक् नहीं है और सर्व शब्द से प्रतीत होने वाला सारा ज्ञेय ज्ञान से पृथक् नहीं है । इस प्रकार ऐक्य भाव से चिन्तन करना चाहिए ॥ १३७ ॥

तुलनीय—

'अध्यवसाया बुद्धिः'—सांख्यकारिका, पृ० २३ ।

'अभिमानोऽहङ्कारः'—वही पृ० २४ ।

'उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पमिन्द्रियं च साधर्म्यात्'—वही पृ० २७ ।

द्रष्टव्य—वहीं पर उद्धृत पृ० ४१ (शोधनिबंध) ।

दश इन्द्रिय एवं त्रिविध अन्तःकरण के संक्षिप्त प्रतिपादन के लिए अभिनवगुप्त की ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भास्करी २) पृ० २४१ पर ।

१. सब कुछ ज्ञान से प्रकाशित है और आत्मा ही प्रकाशक है, अतः एक स्वभाव के कारण ज्ञान (प्रकाश) ज्ञेय (प्रकाश) में दिखलायी देता है ।

अधुना निर्विकल्पदशाप्राप्त्यर्थं पूर्वोक्तद्वादशोत्तरशतशून्यभूमिषु, एकस्यामपि विश्रान्तानां प्रमातृणां यावज्जीवं जीवन्मुक्तितायां, देहपाते पुनस्तेषां विदेहमुक्तिः—पारमेश्वरस्वरूपाभेदात् तत्तुल्यता,

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते ।'

इति उपनिषत्प्रामाण्यात् निष्कलब्रह्मोपासकानां न कुत्रचित् गतागतं पशुप्रमातृषु स्वर्गनिरयगमनमिव, सकलब्रह्मध्यायिषु अर्चिरादिमार्गगमनमिव उत्क्रान्तिरपि तेषां नैव भवेत् । किन्तु निष्कलब्रह्मोपासकप्राणानां तप्तकटाहप्रक्षिप्तजलबिन्दुवत् तत्रैव लयो, यत् स्थानम्—

'जिज्ञासारहितं शुद्धं निर्विकल्पं परं पदम् ।'

यदाह कठवल्ल्युपनिषत्—

'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम् ॥'

इति परमगतिशब्दप्रतिपादितम् पूर्वोक्तलक्षणभैरवशरीरमेव तेषां स्वतः सिद्धं, न पुनः प्रेत्य बाह्यतिलान्नमध्वादिपिण्डसाधनापेक्षा कार्ममलावृताणुसङ्घवत्, एतत् सर्वम् अभिप्रेत्य आह—

मानसं चेतना शक्तिरात्मा चेति चतुष्टयम् ।
यदा प्रिये परिक्षीणं तदा तद्भैरवं वपुः ॥ १३८ ॥

मानसं सङ्कल्पात्मकं, चेतना बुद्धिः, शक्तिः प्राणाख्या, आत्मा एतदुपहितः परिमितप्रमाता, एतत् चतुष्टयं यदा परिक्षीणं चिच्चमत्कारम् आपन्नं तदा तत् पूर्वोक्तं भैरवं वपुः 'अन्तः स्वानुभवानन्दा' इत्यादिकम् । यद्येवं तर्हि कर्तृत्वज्ञातृत्वे प्रमीतस्यापि जीवन्मुक्त्यवस्थायामिव कथं न उपलभ्येते ? इति चेत्, रहस्यं शृणु—स्वतन्त्रो नित्यः परमेश्वरः, तस्य एतदेव स्वातन्त्र्यं यद्—देहेन्द्रियादिभिः जीवदशाभ्युपगमे क्रीडनकैः खेलनं कदाचित् स्वस्वरूपविश्रान्त्या बाह्यस्पन्दनं परित्यज्य प्रतिष्ठितस्पन्दाभ्युपगमः सुषुप्त्यादिवत्, पिण्डपातानन्तरं अक्षुब्धा निष्क्रियावस्था हि स्वतन्त्रेण परात्मना अभ्युपगता इत्यतो ज्ञातृत्वाद्यनुपलब्धिः । इयमेव अवस्था श्रीभगवद्गीतासु—

'तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।' (२।१४ भगवद्गीता)

इति मालामन्त्रावसरे भैरववपुःस्वरूपा देहान्तरप्राप्तिरेव द्वैपायनेन निर्दिष्टा । उक्तं च भैरवस्रोतसि अनुत्तरभट्टारके—

'मृतचेष्टस्य पिण्डस्य न किञ्चिदुपलभ्यते ।
सुखं दुःखं न चैवास्ति परमानन्दभावनात् ॥

जिज्ञासारहितं स्थानं यत्र देवो निरञ्जनः ।
अकालकलनाहेतुर्गमागमविवर्जितः ॥
निरालम्बो निरुत्साहः शून्यभूतः शिवः स्वयम् ।
संज्ञानाशेन निर्जीवसंज्ञा सा व्योमरूपिणी ॥'

तथा तत्रैव देवीं प्रति वचनान्तरम्—

'विचरामि न चैकाकी कदाचिच्छून्यरूपता ।
सर्वं सर्वमयश्चाहं तद्रमेऽहं त्वया सह ॥
कदाचिदीदृशं विश्वं दृश्यमेतदितीरितम् ।'

इति । अनेन अभिप्रायेण जैमिनीया अपि अन्त्येष्टिसमये निर्जीवस्यापि पिण्डस्य विष्णुसम्बन्ध्येकविंशतिस्नानानि वितरन्ति, अन्यथा—

'अविनाशी वा अरे अयमात्मा ।
'नित्यो नित्यानाम् ।'
'न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापि धनञ्जयः ।'

इत्येवमादीनि वाक्यानि अप्रमाणानि स्युः । तस्मात् पञ्चत्वेऽपि भैरवं वपुः निर्विकल्पमेव, इति न कश्चिद् दोषः । जयरथोऽपि एतद्रहस्यनयनिष्ठितानां तीर्थादिकमपि अनुपयुक्तमेवाह, यदुक्तं स्तोत्रे—

'बहुलमहसि बोधे प्रोच्छलत्येकरूपे
जननमरणभाषां कातराः कल्पयित्वा ।
अविदितपरमार्थास्तीर्थदेवालयादि-
श्रयणमुपदिशन्तो हन्त नापत्रपन्ते ॥'

इति । तत एतन्मार्गश्रद्धावतां विवेकिनां जीवन्मुक्तिरपि तृणमिव भासते, का कथा पशुदर्शनजीवितभूताया अन्त्येष्टिवार्तायाः, यत् स्तोत्रेऽपि—

'नयकलनया यस्योद्भूते विवेकपरामृते
तृणमिव न सा जीवन्मुक्तिर्गता गणनीयताम् ।
प्रमयसमये प्रत्यासन्ने स्वसंविदि संस्फुरन्
अभिलषति नैवान्त्येष्टचाद्याः क्रियाः पशुकल्पिताः ॥'

इति । मृतस्य पिण्डरचनापि उपहास्यैव । यदुक्तम्—

'प्राग्जन्मकोटिसमुपार्जितदुष्कृतौघ-
खेदावहं कमपि पिण्डमवैति जन्तुः ।
ऊर्ध्वोर्ध्वशासनरतोऽपि गुरुर्मृताय
तस्मै समर्पयति पिण्डमिति प्रमादः ॥'

इति । एतन्नयावलम्बिनो मरणं जीवितं च तुल्यतया इत्याह । मरणं जीवितं च देहस्यैव, न तु आत्मनः—

'जीवापेतं वाव किल इदं म्रियते न जीवो म्रियते ।'

इति श्रुतेः । एतन्निस्तरङ्गोपदेशमध्यात् एकयापि धारणया नैश्चल्ये सति, अस्य योगिनो द्विविधा दशा—जीवन्मुक्तिः सति देहे, पिण्डपातानन्तरं तु विदेहमुक्तिः इति । तत्र यावत् जीवावस्थायां मानसादिचतुष्टयं परिक्षीणमेव, सर्वत्र सर्वदा चिन्मात्रावहितत्वेन तच्चमत्कारापन्नत्वात् सर्गस्य, देहपाते तु शान्तबोधाख्यं देहान्तरमेव परमेश्वरस्वरूपत्वात्, न तु अन्यदेहान्तरप्राप्तिरुत्क्रम्यते, न हि सर्वगतस्य आत्मनः उत्क्रान्तिः सम्भवति । यदुक्तं वीरयामले—

'उत्क्रान्तिर्विद्यते यस्य तस्य स्यान्मानकल्पना ।'

मानं परिच्छेद इत्यर्थः ।

'अमाने शून्यनिर्भासे कस्योत्क्रान्तिः क्व च क्रमेत् ।।
यदि सर्वगतो देवो वदोत्क्रम्य क्व यास्यति ।
अथासर्वगतो देवो घटतुल्यस्तदा भवेत् ।।'

इति । इति प्रेत्य मुक्तिः जीवन्मुक्तस्यैव, न तु देहाभिमानिनः कर्मजडस्य, तस्य मलिनवासनाश्रयत्वेन परलोकगमनमेव, श्राद्धपिण्डदानादिकं तदुपयोग्येव, यद् देहाभिमानवासना श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादैः दर्शिता वार्तिके—

'अस्ति मे पिण्डदोऽद्याहं पिण्डदानक्रमात्तथा ।
प्राप्नोम्यवयवाभोगं पूर्णदेहोऽस्मि सुस्थितः ।।
अदृष्टक्रियया पुत्रशिष्यस्वात्मादिकल्पितया ।
स्वर्गभाग्यहमत्यन्तमात्तसद्भोगसुस्थितः ।।
नास्ति मे पिण्डदः कश्चित्स्वयं चास्म्यतिदुष्कृती ।
न मे त्रातास्ति कुत्रापि पतामि नरकार्णवे ।।'

इति । स्वसंवित्स्फार एव तथा तथा स्वर्निरयफलको भ्रान्त्यैव, न तु तत्त्वतः । इति अलम् अप्रकृतेन ।। १३८ ।।

निर्विकल्प अवस्था प्राप्ति के लिए पूर्वकथित ११२ प्रतिपादक भूमिकाओं में से किसी एक भी भूमिका में विश्रान्ति प्राप्त करने वाला प्रमाता जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है और देहपात के बाद भी परमेश्वर के स्वरूप से अभेद हो जाने के कारण विदेहमुक्त होकर ईश्वर-तुल्य बन जाता है ।[1]

---

१. जीवन्मुक्त के संबंध में परमार्थसार की कारिका उल्लेखनीय है—

'जिसकी ज्ञान-ग्रन्थि खुल चुकी है, संदेह समाप्त हो गया है, भ्रान्ति तिरस्कृत हो गई हैं, पुण्य और पाप नष्ट हो गये हैं, वह शरीर के साथ संबंध होने पर भी मुक्त होता है—

'भिन्नज्ञानग्रन्थिर्गतसन्देहः पराकृतभ्रान्तिः ।
प्रक्षीण्य पुण्यपापौ विग्रहयोगेऽप्यसौ मुक्तः ।।' —परमार्थसार का० ६१

उसके प्राण उछल-कूद नहीं करते, वहीं शान्त और लीन हो जाते हैं—ऐसा उपनिषद् के प्रमाण से सिद्ध है। अतः निष्कल ब्रह्म की उपासना करने वाले का कहीं भी आवागमन नहीं होता।[1] जैसा कि पशु-प्रमाता का स्वर्ग-नरकादि में आवागमन रहता है। 'सारी वस्तुएँ ब्रह्म-स्वरूप हैं'—ऐसा ध्यान करने वाले साधक को 'अर्चिस् मार्ग' या 'धूममार्ग' से होने वाले आवागमन की गंधमात्र भी उत्पत्ति नहीं होती।

इसी सम्बन्ध में कुछ अवतरण उल्लेखनीय है—

'जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डज्ञानेन तज्ज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृते ज्ञान-तत्कार्यसञ्चितकर्मसंशयविपर्ययादिनामपि बाधितत्वादखिलसम्बन्ध-रहितो ब्रह्मनिष्ठः।' —वेदान्तसार पृ० १२३

'यदा तु शुद्धविद्याशक्त्यासङ्कोचविकासोऽस्य विलाप्यते तदा मुच्यतेऽसौ वै न च देहपाते अस्य मुक्तिरपितु जीवतोऽपि।'

—स्वच्छन्दतन्त्र-टीका भाग ६, पटल १२, पृ० ५२

तुर्य तथा तुर्यातीत दोनों अवस्थाएँ जीवन्मुक्ति हैं, जो आगमशास्त्र में समावेश कहलाती है—

"यदा तूक्तगुरूपदेशादिदिशा तेनैवाहम्भावेन स्वातन्त्र्यात्मना व्यापकत्वनित्यत्वादि-धर्मपरामर्शमात्मनि विद्धता ततः शून्यादेः प्रमेयादुन्मज्जमेवास्यते तदा तुर्यातीतावस्था। यदापि यदापि परामृष्टः तथाभूतवैभवादिनित्यैश्वर्यसम्भेदेनेवाहम्भावेन शून्यादिदेह-धात्वन्तं सिद्धरसयोगेन विद्यते। तदास्यां तुर्यदशायां तदपि प्रमेयतामुज्झतीव। सेयं द्वयमपि जीवन्मुक्तावस्था समावेश इत्युक्ता शास्त्रे। सम्यगावेशनमेव हि तत्र प्रधानम्, न सिद्धये तूपदेशान्तराणि यथा गीतायाम्—'मय्यावेश्य मनो ये माँ' (१२।२) इति 'अथावेशयितं चित्रम्' (१२।९) इत्यादि च। × × × देहपाते तु परमेश्वरः एवैकरसः। इति कः कुत्र कथं समाविशेत्। तदेतन्मुख्यत्वं समावेशस्य लक्षणं भेदं देहस्थितोऽपि पतिः इति 'मुक्तः' इति शास्त्रेषूक्तः।'

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भास्करी २, पृ० २५७-५९)

'एष प्रमाता मायान्धः संसरीकर्मबन्धनः।
विद्याभिज्ञापितैश्वर्याश्छिद्धनो मुक्त उच्यते॥'

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका (३।२।२)

+ + + 'स पुनर्जन्मबन्धविरहाद् देहेऽपि स्थिति मुक्त इति व्यपदेश्ययोग्यः। पतिते तु शिव एकधनः इति कः कुतो मुक्तः। भूतपूर्वगत्या तु प्रमात्रन्तरापेक्षया मुक्त शिव इति व्यवहारः।' —वही, विमर्शिनी।

१. 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते।' —उपनिषद्

'न खल्वेष वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते।'

ब्रह्म के संबंध में शांकरभाष्य का यह संदर्भ उल्लेखनीय है—

'अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितं ब्रह्मशब्द-स्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्। सर्वस्य

किन्तु जैसे तप्त कढ़ाह (तवे) पर डाले हुए जल का छींटा जल कर वहीं तद्रूप हो जाता है, उसी प्रकार साधक के मन का वेग वहीं आत्मा में लय हो जाने के कारण गमनागमन रहित हो जाता है। कहा भी है—जिज्ञासा रहित शुद्ध निर्विकल्प अवस्था ही परमपद है।[1] जैसा कि कठवल्ली उपनिषद् में भी कहा गया है—जिस समय मन के साथ पाँचों इन्द्रियजन्य ज्ञान शांत होकर स्थिर हो जाता है तथा उसकी बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती है, उस गति को भी परम गति कहा जाता है।[2]

इस प्रकार की अवस्था का नाम भैरव शरीर है। उनका स्वतःसिद्ध यह ज्ञान नष्ट होकर फिर बाह्य वस्तुओं में साधनान्तर की अपेक्षा नहीं करता, जैसा कि कार्मण और आणव मल से आवृत प्राणी का[3]। इस सारी वार्ता को ध्यानस्थ करके कहा जा रहा है—

आत्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वा लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्।'

—ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य (नि० सा०) पृ० ६

तुलना कीजिए—

'तद्ब्रह्म परं शुद्धं शान्तमभेदात्मकं समं सकलम्।
अमृतं सत्यं शक्तौ विश्राम्यति भावस्वरूपायाम्॥'

—परमार्थसार, का० ४३

१. 'जिज्ञासारहितं शुद्धं निर्विकल्पं परं पदम्। ··· ··· (?)
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥'

—मुण्डकोपनिषद् २।२।९

'परम-पद' के सन्दर्भ में बृहदारण्यक उपनिषद् भी तुलनीय है—

'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येनं श्रुतेः श्रोतारं शृणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीया एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तम्।' —३।४।२

तथा—

'तद्वा एतदक्षरं गार्गि अदृष्टं द्रष्ट्रश्रुतं श्रोतृ अमतं मन्तृ अविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्गि आकाश ओतश्च प्रोतश्चेति।' —३।८।११

२. 'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्॥' —कठवल्ली उपनिषद्

३. तीनों मलों का विवेचन अन्यत्र निम्नांकित है—

मलस्वरूपः—

'अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत्स्मृतम्।' —तन्त्रसार आ० १ पृ० ५
'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्।' —तन्त्रालोक भाग १ पृ० ५८

अनुवाद—हे प्रिये ! संकल्प-विकल्पात्मक मानस, चेतना (बुद्धि), प्राणशक्ति तथा जीवात्मा—ये चारों जिस समय परिक्षीण हो जाते हैं, तब वह भैरव अवस्था होती है ॥ १३८ ॥

'योग्यतामात्रमेवैतत् भावव्यच्छेदसङ्ग्रहे ।
मलस्तेनास्य न पृथक् तत्त्वभावोऽस्ति रागवत् ॥' —तन्त्रालोक ५ पृ० ५७
'स्वात्मप्रच्छादनक्रीडामात्रमेव मलं विदुः ।'
—मालिनीविजयवार्तिक काण्ड २, १८६ पर

आणवमलः—

'सङ्कोच एव पुंसामाणवमलमित्युक्तप्रायम् ।'
—स्वच्छन्दतंत्रटीका पृ० ५१९
'स्वातन्त्र्यहानिर्बाधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥'
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका (भास्करी २ पृ० २४८)
'संविद्रूपे न भेदोऽस्ति वास्तवो यदपि ध्रुवे ।
तथाप्यावृत्तिनिर्ह्रादितारतम्यात् स लक्ष्यते ॥' —वही

मायीवमलः—

'भिन्नवेद्यप्रथात्रैनं मायाख्यं जन्मभोगदम् ।'
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका (भास्करी २) पृ० २४८
'शरीरभुवनाकारा मायीव प्रकीर्तितः ।'
—तन्त्रालोक १।५६

कार्ममलः—

'देवादीनां च सर्वेषां भाविनां त्रिविधं मलम् ।
तथापि कार्म नैवैकं मुख्यं संसारकारणम् ॥'
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका ३।२।१० (भास्करी २) पृ० २५३
'कर्मकस्तु शरीराणि विषयः करणानि च ।'
—वही उद्धृत पृ० २५५

त्रिविधमलः—

'अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्तिः सङ्कुचिता सती अपूर्णम्मन्यतारूपम् आणवमलम् । ज्ञानशक्तिः क्रमेण सङ्कोचाद् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किञ्चिज्ज्ञत्वप्राप्तः अन्तःकरणबुद्धीन्द्रियतापत्तिपूर्वम् अत्यन्तं सङ्कोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीवमलम् । क्रियाशक्तिः क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किञ्चित्कर्तृत्वाप्तः कर्मेन्द्रियरूपसङ्कोचग्रहणपूर्वकम् अत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभमनुष्ठानमयं कार्ममलम् ।' —प्रत्यभिज्ञाहृदय पृ० ६०

स्वातन्त्र्यहानिरूप 'आणव मल' 'विज्ञानकेवल' में, स्वातन्त्र्य का अबोधरूप 'आणव मल' 'प्रलयाकल' (जिनमें कार्ममल भी रहता है और विकल्प से मायीव भी)

व्याख्या—संकल्पात्मक मानस, चेतनात्मक बुद्धि, शक्त्यात्मक प्राण और आत्मा इन चारों से आवृत चिन्मय परिमित प्रमाता इस अंतःकरणचतुष्टय को परिक्षीण करके चित्-चमत्कार रूप अवस्था को प्राप्त कर लेने पर, वह अवस्था अन्तःस्वानुभवानन्दा है। यदि ऐसा है तो कर्तृत्व, ज्ञातृत्व अवस्था में जैसी प्रतीति जीव को होती है वैसी प्रतीति मुक्त्यावस्था में क्यों नहीं होती है? ऐसा प्रश्न करने पर समझाते हुए कह रहे हैं—वहा ऐसी प्रतीति नहीं होती है, इसका रहस्य सुनो—परमेश्वर नित्य और स्वतंत्र है। उसका स्वातन्त्र्य यह है कि देह-इन्द्रियादि के संयोग से जीव दशा को प्राप्त कर कदाचित् छोटा बच्चा खिलौनें से खेला करता है।[1]

में तथा देवादि सभी संहारी प्रमाताओं में त्रिविध मल और मुख्यतः कार्ममल पाया जाता है। इस संबंध में ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका ३-२-६-१० (भास्करी २) पृ० २५०-२५५ द्रष्टव्य हैं।

देखिए—परमार्थसार-शोधनिबन्ध : श्रीमती कमला द्विवेदी, पृ० ४७।

१. परमेश्वर नित्य और स्वतंत्र है। बन्धन और मोक्ष परमशिव की विचित्र लीला है—

'स्वज्ञानविभवमासनयोगेनोद्वेष्टयेन्निजात्मानम्।
इति बन्धमोक्षचित्रां क्रीडां प्रतनोति परमशिवः॥'

—विशेष द्र० परमार्थसार-शोधनिबन्ध, (का० ३३) श्रीमती कमला द्विवेदी, पृ० ५६।

'देवः स्वतन्त्रश्चिद्रूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः।
रूपं प्रच्छादनक्रीडा योगादणुरनेकशः॥'

—तन्त्रालोक, भाग ८ आ० १३, १०३

परम शिव के इस स्वातंत्र्य, जिससे कि वे दोनों तरह से बंधन व मोक्ष का संसार व अपवर्ग का आश्चर्यमय (विचित्र क्रीड़ा) खेलते रहते हैं, यह शिव का स्वभाव ही है—

'लोकवन्तु लीलाकैवलम्।' —ब्रह्मसूत्र (२।१।३३)

'यथा लोके कस्यचिदाप्तैषणस्य राज्ञो राजामात्यस्य वा व्यतिरिक्तं किञ्चित् प्रयोजनमभिसन्धाय केवलं लीलारूपाः प्रवृत्तयः क्रीडा-विहारेषु भवन्ति। यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसन्धाय बाह्यं किञ्चित् प्रयोजनं स्वभावादेव केवलं प्रवृत्तिर्भविष्यति। यद्यप्यस्माकमियं जगद्बिम्बरचना गुरुतरसम्भवेवाभाति तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयम्, अपरिमितशक्तित्वात्।' —शाङ्करभाष्य, वही

सांख्यदर्शन में लीला-व्यापार पुरुष नहीं अपितु प्रकृति-नटी करती है, पुरुष का बंध-मोक्ष नहीं होता, प्रकृति ही अपने को बाँधती-छोड़ती रहती है—

'रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥' —सांख्यकारिका, ५९
'तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥' —वही

और स्वयं स्व-स्वरूप में विश्रान्ति करके बाह्य स्पन्दन का त्याग कर स्पन्द में स्थित होता है। इसी प्रकार सुषुप्त्यादि अवस्था में या शरीर त्यागने के अनन्तर अक्षुब्ध निष्क्रियावस्था में स्वतंत्र परमात्मा रूप से अनुमत ज्ञातृत्वादि युक्त अवस्था है। वह भैरवस्वरूप है। उस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर आत्मानन्दातिरिक्त कोई स्पन्द उसमें नहीं रहता है। तब फिर भिन्न प्रतीति का होना आत्मस्पन्दन में संभव नहीं है। जैसा कि भगवद्गीता में भी कहा गया है—इस शरीर में बाल, यौवन और वार्धक्य अवस्थाएँ क्रमशः एक के समाप्त होने पर दूसरी प्राप्त होती है। उस अवस्था के नाश की चिन्ता या अन्य अवस्था की प्राप्ति के आनन्द की अनुभूति मनुष्य को विशेष रूप से प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार देहान्तर-प्राप्ति भी अवस्था-प्राप्ति के समान ही है, इसी से धीर पुरुष देहान्तर-प्राप्ति के समय भी मोह को प्राप्त नहीं होता।

इसी प्रकार मालामन्त्र के समय भैरव-स्वरूप शरीर भी देहान्तर-प्राप्ति है। 'भैरव स्तोत्र' नामक ग्रन्थ में अनन्तभट्टारक ने भी इसी प्रकार का विवेचन किया है—चेष्टाहीन मृत शरीर को किसी भी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती। उस शरीर में परमानन्द भाव होने के कारण सुख-दुःख का अनुभव भी नहीं होता। जहाँ पर निरंजन देव स्थित है, वह स्थान जिज्ञासा से कालकलना और आवागमन से तथा उत्साह से रहित होता है। यह शून्यावस्था स्वयं शिवस्वरूप है। संज्ञा (प्रतीति) के न होने के कारण उसका नाम निर्जीव है और वह अवस्था आकाशस्वरूप है।[1] इसी प्रकार वहाँ देवी के प्रति और भी कहा है—हे देवि ! मैं शून्यरूपता के कारण कभी

सृष्टि-निमित्त के संबंध में कुछ गौडपादकारिकाएँ भी उल्लेखनीय हैं—

'विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः।
स्वप्नमाया सरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता॥
इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः॥
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्तं क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्रकामस्य का स्पृहा॥'

—गौडपादकारिका १।७-८।

१. 'मृतचेष्टस्य पिण्डस्य न किञ्चिदुपलभ्यते।
सुखं दुःखं न चैवास्ति परमानन्दभावनात्॥
जिज्ञासारहितं स्थानं यत्र देवो निरञ्जनः।
अकालकलनाहेतुर्गमागमविवर्जितः॥
निरालम्बो निरुत्साहः शून्यभूतः शिवः स्वयम्।
संज्ञानाशेन निर्जीवसंज्ञा सा व्योमरूपिणी॥'

यह परमतत्त्व संज्ञा की प्रतीति में नहीं आता, क्योंकि यह प्रमाणगम्य नहीं है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य है—

भी एकाकी विचरण नहीं करता हूँ, सर्वमय हूँ, सम्पूर्ण जगत् मेरा ही स्वरूप है, इसी-लिए मैं ऐसे संसार में तुम्हारे साथ रमण करता हूँ, उस समय यह दृश्य के रूप में अभिहित किया जाता है। इसीलिए मीमांसक अन्त्येष्टि के समय निर्जीव प्राणी के लिए भी पिण्डदान तथा विष्णु सम्बन्धी २१ स्नानादि कराते हैं। अन्यथा—'यह आत्मा अविनाशी, नित्यों का भी नित्य है, सर्वव्यापी है और धनंजय नामक प्राणवायु मृत शरीर को भी नहीं त्यागता है।' इत्यादि वाक्य अप्रमाण हो जायेंगे। अतः मरने पर भी निर्विकल्पावस्था में भैरव शरीर प्राणी का रहता है। इसीलिए ऐसा करना संगत ही है। इस रहस्यमय स्थिति में रहने वाले साधकों के लिए तीर्थादिक भी अनुपयुक्त है। ऐसा स्तोत्र में वर्णन किया गया है। 'अत्यन्त तेजस्वी ज्ञानबोध के तीव्र वेग से प्रवाहित होते रहने पर भी मनुष्य ही जन्म-मृत्यु की भावना की कल्पना करते हैं तथा परमार्थ तत्त्व को नहीं समझते हुए तीर्थयात्रा, देवालयों में गमन आदि का आश्रय लेते हुए भी लज्जित नहीं होते। इसका बडा खेद हैं'।[1] अतः इस भाग में श्रद्धा रखने वाले विवेकी, जीवन्मुक्त प्राणी मुक्ति को भी तृणवत् तुच्छ

'कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादि सिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः॥'

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका १।१।१

'इह क ईश्वर कीदृशे कीदृशेन प्रमाणेन अस्ति इति ज्ञानलक्षणां सिद्धिं, नास्तीति ज्ञानलक्षणं वा निषेधं कुर्यात्?' —वही,

'तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वं प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधा मोक्षपराणि। उच्यते, देहेन्द्रियादिषु अहं ममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यानुपपत्तेः न हीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः सम्भवति। न चाधिष्ठानमन्तरेण इन्द्रियाणां व्यवहारः सम्भवति। न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते। न चैतस्मिन् सर्वस्मिन् असति असङ्गत्यात्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते। न च प्रमातृत्वन्तरेण प्रमाण-प्रवृत्तिरस्ति तस्मादविद्यावद् विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।'

—शाङ्करभाष्य (नि० सा०) पृ० २-३

'सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः।
सर्वाश्रयात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति॥' —वही पृ० ६

'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्···विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।'

—बृहदारण्यक उपनिषद् ४।५।१५

१. 'बहुलमहसि बाधे प्राच्छलत्येकरूपे
जननमरणभाषां कातराः कल्पयित्वा।
अविदितपरमार्थास्तीर्थदेवालयादि-
श्रयणमुपदिशन्तो हन्त नापत्रपन्ते॥'

—?

मानते हैं। तब फिर उनके सामने पशु-दर्शन प्रतिपादित अन्त्येष्टि आदि की बात ही क्या है ?

स्तोत्रों में भी इसी बात का प्रतिपादन है—नेत्रकलना से जिसके हृदय में विवेक रूपी परामृत का उद्भव हो चुका है, वे मनुष्य जीवन्मुक्ति को तृणवत् समझते हैं। अंतिम समय के आसन्न होने पर वे स्वसंवित् ज्ञान में प्रवाहित होते हुए, पशु लोगों के द्वारा अन्त्येष्टि आदि क्रिया की भी अभिलाषा नहीं रखते। उनके सिद्धान्त से तो मृतपुरुष के लिए किये जाने वाले पिण्ड-रचनादि उपहास योग्य हैं। पूर्व के करोड़ों

प्रस्तुत अवतरण की तुलना के लिए परमार्थसार की निम्नलिखित कारिकाएँ द्रष्टव्य है—

'अज्ञानतिमिरयोगादेकमपि स्वयं स्वभावमात्मानम्।
ग्राह्यग्राहकनाना वैचित्र्येणावबुध्येत ॥'

—परमार्थसार, का० २५

अज्ञानतिमिर के संयोग के कारण एक होने पर भी अपने आत्मस्वभाव के ग्राह्य (विषय-प्रमेय) तथा ग्राहक (प्रमाता-विषयी) के विविध वैचित्र्य से समझ में आने लगता है।

तथा—

'रज्वां नास्ति भुजङ्गस्त्रासं कुर्वन् च मृत्युपर्यन्तम्।
भ्रान्ते महती शक्तिर्न विवेक्तुं शक्यते नाम ॥'

रस्सी में साँप नहीं है, परन्तु मरने तक डर बनाए रहता है, भ्रान्ति की शक्ति महान् है, जिसका विवेचन करना संभव नहीं है। —वही २८

तथा—

'तद्वद् धर्माधर्मस्वर्निरयोत्पत्ति-मरण-सुख-दुःखम्।
वर्णाश्रमादि चालन्यदपि विभ्रमबलाद्भवति ॥'

उसी प्रकार धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक, जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, वर्ण-आश्रम आदि असत् होते हुए भी आत्मा के भ्रम के कारण प्रतीत होते हैं। —वही, श्लोक २९

तथा—

'एतत्तदन्धकारं यद्भावेषु प्रकाशमानतया।
आत्मानतिरिक्तेष्वपि भवत्यनात्माभिमानीयम् ॥' —वही, श्लोक ३०

'तिमिरादपि तिमिरमिदं गण्डस्योपरि महानयं स्फोटः।
यदनात्मन्यपि देहप्राणादावात्ममानित्वम् ॥'—वही, श्लोक ३१

यह (भ्रान्ति) वह अन्धकार है, जो पदार्थों में प्रकाशवान् होने से अभिन्न (पदार्थों) को भी अनात्मा समझता है। यह मोहरूपता अन्धकार (अन्धेपन) में भी वह अन्धकार (अन्धापन) और छाले पर वह बड़ी फुन्सी है कि अनात्मा देह-प्राणादि में आत्मा का अभिमान होता है।

जन्मों में उपार्जित पाप-समूह को किसी पिण्डदान को लेकर जन्तु (जीव) शान्ति का आश्रय लेना चाहता है। वहाँ तक तो ठीक है, लेकिन ऊपर से ऊपर के शासन में विहार करने वाला गुरु (ज्ञानी) भी मुर्दे के लिए पिण्डदान करते हैं। यह कितना बड़ा प्रमाद है ? अतः इस मार्ग से शरीर त्यागने वाले जीवों के लिए जीवन और मरण दोनों तुल्य ही है। क्योंकि जन्म और मरण दोनों शरीर के ही होते हैं, न कि आत्मा के। जैसा कि श्रुति में कहा है—'यह शरीर जीव से रहित होकर ही मरता है, जीव कभी नहीं मरता। इन क्रमबद्ध उपदेशों के द्वारा ही एक धारणा जिसकी निश्चल हो गयी है, उस योगी के लिए दो ही दशाएँ सामने रहती है—(१) जीवन्मुक्त अवस्था को भोगना है तथा (२) देहपात के अनन्तर विदेह मुक्ति की अवस्था का भोग करना है। वहाँ जब तक जीवितावस्था में मानसादि अंतःकरणचतुष्टय परिक्षीण होता है, तब तक सर्वत्र सदा चिन्मय मात्र तत्त्व से, उसके चमत्कार से प्रभावित सृष्टि का अनुभव करता है। देहपात होने पर तो उसका शांतबोध नामक देहान्तर है, जो परमेश्वर-स्वरूप है, न कि देहान्तर प्राप्त करता है।

सर्वगत आत्मा का उत्पन्न होना संभव नहीं है। जैसा कि 'वीरयामलः' में कहा है—'उसी प्राणी का उत्क्रमण होता है जिसके परिच्छेद की कल्पना होती है। शून्य-निरभाषा में मानरहित होकर कौन प्राणी जन्म-मरण की उत्क्रान्ति में पड़ता है। आप ही बतलाइए, सर्वगत आत्मा उत्क्रमण करने कहाँ जायगी ? यदि वह असर्वगत है तो वह तो घटतुल्य हो गयी। अतः सर्वगत आत्मा की जन्म-मृत्यु नहीं होती है। मरकर भी मुक्ति जीवन्मुक्त की ही होती है, देहाभिमानी की नहीं। क्योंकि कर्म-बन्धन से जड़ता को प्राप्त हुए प्राणी का मलिन वासना का आश्रय होने से परलोक-गमन होगा ही। इसीलिए उस प्राणी के लिए पिण्डदानादि करना उपयुक्त ही है। क्योंकि वह देहाभिमान वासना है। जैसा कि अभिनवगुप्तपाद ने भी कहा है—'आज मेरा पिण्डदान करने वाला है तथा उस पिण्डदान के क्रम से मैं अवयव के आभोग को प्राप्त करूँगा और सुस्थित होकर पूर्ण देहवाला बनूँगा। पुत्र या शिष्य के द्वारा रचित अदृष्ट क्रिया से मैं स्वर्ग प्राप्त करूँगा तथा अत्यन्त उत्तम भोगों को प्राप्त कर सुखी रहूँगा; और साथ ही मेरा कोई पिण्डदान करने वाला नहीं है, अतः मैं स्वयं भी अत्यन्त पापी हूँ। मेरा कहीं कोई रक्षक नहीं है। अतः नरक में गिरूँगा' इत्यादि कथन अपने संवित् के स्फुरण मात्र हैं। अतः स्वर्ग-नरक की कल्पना भी भ्रान्तिमात्र ही है, न कि तत्त्वतः। अब इन अप्रासंगिक बातों के विचारों को यहीं विश्राम देना चाहिए ॥ १३८ ॥

एतद् उपसंहरति—

निस्तरङ्गोपदेशानां शतमुक्तं समासतः।
द्वादशाभ्यधिकं देवि ! यज्ज्ञात्वा ज्ञानविज्जनः ॥ १३९ ॥

द्वादशाभ्यधिकं शतं द्वादशोत्तरशतम् ॥ १३९ ॥

अनुवाद—हे देवि ! बारह ऊपर सौ निस्तरंग उपदेश संक्षेप में बतला दिये हैं, जिन्हें जानकर व्यक्ति ज्ञानी हो जाता है[1] ॥ १३९ ॥

अत्र चैकतमे युक्तो जायते भैरवः स्वयम् ।
वाचा करोति कर्माणि शापानुग्रहकारकः ॥ १४० ॥

अत्र च एकतमे—एतेषु उपदेशेषु मध्ये एकस्मिन्नपि, युक्तः समाहितः, वाचा, न पुनः प्रयत्नेन इत्यर्थः ॥ १४० ॥

अनुवाद—इनमें से एक (उपदेश) में भी लग जाये तो स्वयं भैरव बन जाता है, वह वाणी से काम करने लगता है, शाप तथा अनुग्रह करने वाला हो जाता है ॥

अजरामरतामेति सोऽणिमादिगुणान्वितः ।
योगिनीनां प्रियो देवि ! सर्वमेलापकाधिपः ॥ १४१ ॥
जीवन्नपि विमुक्तोऽसौ कुर्वन्नपि च चेष्टितम् ।

अनुवाद—हे देवि ! ऐसा साधक अणिमा आदि आठ प्रकार की सिद्धियों के गुणों से युक्त हो जाता है, (तथा ज्ञान, क्रिया, आनन्द आदि शक्ति रूप) योगिनियों का प्रिय होकर सभी वर्णों का अधिपति बन जाता है तथा अजरता और अमरता को पा लेता है । वह जीवित रहता हुआ और काम करता हुआ भी मुक्त है ॥ १४१½ ॥

श्रीदेवी उवाच

इदं यदि वपुर्देव परायाश्च महेश्वर ! ॥ १४२ ॥
एवमुक्तव्यवस्थायां जप्यते को जपश्च कः ।

इदम् इति उक्तरीत्या सर्वमयव्यवस्थायां सत्यां, जप्यते को जपश्च कः—भेदस्य अभावात् ॥ १४२½ ॥

अनुवाद—देवी ने कहा—महेश्वर ! यदि यह शरीर परा का हो जाता है तो पहले बतलायी हुई (सर्वमयता की) अवस्था में किसका जप होता है ? और जप (करने वाला) कौन होता है ? ॥ १४२½ ॥

---

१. ज्ञानी का कर्म फलवान् नहीं होता, परमार्थसार में यज्ञ के दृष्टांत से इसकी पुष्टि की गयी है—

'इति युक्तिभिरपि सिद्धं यत्कर्म ज्ञानिनो न सफलं तत् ।
न ममेदमपि त्वस्यति दाढर्यतो नहि फलं लोके ॥'

—परमार्थसार, ६७

'इत्थं सकलविकल्पान् प्रतिबुद्धो भावनासमीरणतः ।
आत्मज्योतिषि दीप्ते जुह्वज्ज्योतिर्मयो भवति ॥' —वही पर ६८

ध्यायते को महानाथ पूज्यते कश्च तृप्यति ॥ १४३ ॥
हूयते कस्य वा होमो यागः कस्य च किं कथम् ।

महानाथ हे देव ! कस्य वा किमर्थम् ॥ १४३½ ॥

अनुवाद—हे महानाथ ! ध्यान किसका होता है ? पूजा किसकी होती है ? और कौन तृप्त होता है ? हवन किसका है ? होम क्या है ? और याग किसका होता है ?

व्याख्या—हे प्रभो ! जब सब एक ही होता है, तब फिर कर्ता और क्रिया एक होने से द्वैत भाव ही नहीं रहता ? ॥ १४३½ ॥

श्रीभैरव उवाच

एषात्र प्रक्रिया बाह्या स्थूलेष्वेव मृगेक्षणे ॥ १४४ ॥
भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या ।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ॥ १४५ ॥

प्रक्रिया जपादिका । परे भावे विश्वपूरणे स्वस्वभावे या भावना विमर्शना—

'अहमेव परो हंसः शिवः परमकारणम् ।'

(स्व० ४ प० श्लो० ३९५)

इत्यादिरूपा भाव्यते सम्पाद्यते ॥ १४४ ॥

स एव नादः अकृतकाहंविमर्शात्मा जपनीयो देवः । या भावना निष्पाद्यते स जपः इति अन्वयः । जप्यम् आह स्वयं नादो मन्त्रात्मा इति—

'पृथङ्मन्त्रः पृथङ्मन्त्री न सिद्ध्यति कदाचन ।'

इति न्यायात् । अत्र सूक्ष्मवस्तूपदेशमये शास्त्रे ॥ १४५ ॥

अनुवाद—भैरव बोले—'हे देवि ! यह बाह्य प्रक्रिया स्थूल के प्रति ही होती है । बारम्बार परम भाव में जो भावना की जाती है, वही यहाँ (सर्वमयी भूमिकाएँ) जप है । स्वयं नाद मन्त्रात्मा जपनीय ही होता है[1] ॥ १४४–४५ ॥

---

१. प्रस्तुत कारिका के संदर्भ में परमार्थसार की यह कारिका तुलनीय है—

समस्त भुवनावली को, तत्त्वक्रम की कल्पना को और इन्द्रिय-समूह को जो अन्तर्बोध में परिवर्तित कर देता है, वही इसका जप है—

'भुवनावलीं समस्तां तत्त्वक्रमकल्पानामथाक्षगमनम् ।
अन्तर्बोधे परिवर्तयति यत्सोऽस्य जप उदितः ॥'

—परमार्थसार-शोधनिबन्ध : श्रीमती कमला द्विवेदी, पृ० ११२ ।

व्याख्या—अहंता का विमर्श न करने वाला देवता जपनीय है, वह भी नादस्वरूप है और उससे नाद-रूप-भावना निकलती है, वह भी जप ही है। इस रूप में जप और जप्य दोनों नादरूप मंत्रात्मा होने से पृथक् नहीं रहते। इस प्रकार मंत्र और मंत्री पृथक् नहीं है। इस प्रकार यह शास्त्रोक्त वस्तूपदेश है ॥ १४४–४५ ॥

ध्यानं हि निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीराक्षिमुखहस्तादिकल्पना ॥ १४६ ॥

निश्चला प्ररूढा, निराकारा नानोल्लेखशून्या, निराश्रया कन्दहृद्द्वादशान्ताद्याश्रयहीना ॥ १४६ ॥

अनुवाद—निराकार और निराश्रय बुद्धि का निश्चल होना ही ध्यान है,[1] न कि शरीर के इन्द्रिय, मुख, हस्त आदि का योग ॥ १४६ ॥

व्याख्या—निश्चल का अर्थ है—प्ररूढ़ और निराकार। वह नाम और उल्लेख से शून्य है। निराश्रय का अर्थ है—कन्द, हृदय द्वादशान्तादि आश्रय से रहित ॥१४६॥

अपरत्र बाह्योपकरणपूर्वा पूजा, अस्मिन् दर्शने तु निर्विकल्पदिव्यपदावेशात् अन्यत् न अर्चनम् इत्याह—

पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा।
निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यादरालयः ॥ १४७ ॥

महाव्योम्नि परचित्प्रकाशे, आदरात् श्रद्धाप्रकर्षात्, यो लयो विश्रान्तिः, सा यस्मात् पूजा तस्मात् पुष्पाद्यैः नाम न पूजा ॥ १४७ ॥

जप के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है—

'संयम्येन्द्रियग्रामं प्रोच्यरेन्नादमान्तरम्।
एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जपः ॥' —जपसूत्र, पृ० ३८
'तज्जपस्तदर्थं भावनम्।' —योगसूत्र १।२८

१. प्रस्तुत कारिका के संदर्भ में परमार्थसार की यह कारिका तुलनीय है—

'विचित्र रूपों की सृष्टि ही ध्यान है।'

क्योंकि वह ईश्वर अविनाशी है, अतः ज्ञानी विचित्र रूपों की सृष्टि का ध्यान करता रहता है। जिसके परमार्थस्वरूप का आलेखन संकल्प से होता है, वही ध्यान है—

'ध्यानमनस्तमितं पुनरेव हि भगवान् विचित्ररूपापि।
सृजेति तदैव ध्यानं सङ्कल्पालिखितसत्यरूपत्वम् ॥'
—परमार्थसार, का० ७७ विशेष द्रष्टव्य—शोधनिबन्ध पृ० १११

योगसूत्रकार ने 'यथाभिमतध्यानाद्वा' (१।१४) के द्वारा ध्यान को चित्तस्थैर्य का साधन माना है।

दूसरे शास्त्रों में बाह्य उपकरणों से जो पूजा लिखी है, इस दर्शन में तो निर्विकल्प दिव्य पद के आवेश का वर्णन होने से आत्मेतर कोई अर्चना ही नहीं है, अब इसको ही निरूपित कर दिखलाते हैं—

अनुवाद—हे देवि ! पुष्पादि के द्वारा की गई पूजा का नाम 'पूजा' नहीं है। आदरपूर्वक परमाकाश में, निर्विकल्पावस्था में बुद्धि को स्थिर करना, जिससे अंतःकरणचतुष्टय का चिदाकाश में लय हो जाय, इसी का नाम 'पूजा' हैं[1] ॥ १४७ ॥

---

१. प्रस्तुत कारिका के सम्पूर्ण संदर्भ की तुलना परमार्थसार की निम्नलिखित कारिकाओं से की जा सकती है—

छत्तीस तत्त्वों से भरा हुआ, शरीर की रचना रूपी गवाक्षों से परिपूर्ण, अपना या दूसरे का शरीर अथवा घटादि ही उसके लिए देवता का घर है—

'षट्त्रिंशत्तत्त्वभूतं विग्रहरचनागवाक्षपरिपूर्णम् ।
निजमन्येदथ शरीरं घटादि वा तस्य देवगृहम् ॥'

—परमार्थसार का० ७४

और वहाँ परमात्मा महाभैरव शिव देवता, जो अपनी शक्ति से युक्त है, को आत्मपरामर्शरूप विमल द्रव्यों से पूजा करता रहता है—

'तत्र च परमात्ममहाभैरवविशदेवता स्वशक्तियताम् ।
आत्मामर्शनविमलद्रव्यैः परिपूजयन्नास्ते ॥'

—परमार्थसार, का० ७५

तुलनीय—

'यत्किञ्चिन्मानसाह्लादि यत्र क्वापीन्द्रियास्थितौ ।
योज्यते ब्रह्म तद्धाम्नि, पूजोपकरणं हि तत् ॥'

—तंत्रालोक जि० ३ आ० ४, पृ० १२२

तथा—

संकेतपद्धति ग्रन्थ में कहा गया है—

'न पूजा बाह्यपुष्पादिद्रव्यैर्या प्रथिताऽनिशम् ।
स्वे महिम्नद्वये धाम्नि सा पूजा या परा स्थितिः ॥'

श्रीमत् शंकराचार्य-विरचित मानसपूजास्तोत्र के एक श्लोक में भी किञ्चित् इसी भाव का आभास मिलता है—

'आत्मात्वं गिरजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वागिरो
यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥'

भगवान् शंकराचार्य की इस उक्ति का मूल श्रीपूर्वआगमशास्त्र में इस प्रकार देखने में आता है—

अत्रैकतमयुक्तिस्थे योत्पद्येत दिनाद्दिनम् ।
भरिताकारता सात्र तृप्तिरत्यन्तपूर्णता ॥ १४८ ॥

एकतमयुक्तिस्थे योगिनि इति शेषः ॥ १४८ ॥

अनुवाद—यहाँ बतलायी हुई (११२) युक्तियों में से किसी एक युक्ति में संलग्न होकर (स्थित होकर) उत्तरोत्तर जो भरितावस्था, अत्यन्तपूर्णता या तृप्ति उत्पन्न होती है (वही 'पूजा' है) ॥ १४८ ॥

महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम् ।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतनास्रुचा ॥ १४९ ॥

महाशून्यस्य शून्यातिशून्यपदस्य आ समन्तात् लयो यत्र परतत्त्वात्मनि वह्नौ, तत्र भूतेन्द्रियविषयभुवनतत्त्वादिरूपं सकलं जगत्, तद्विभागकल्पना-हेतुना सह, चेतना विश्वानुसन्धात्री शक्तिरेव स्रुक् तया हूयते यत्, स होमः अग्नौ हविर्दानम् इत्यर्थः ।

'चितिः स्रुक् चित्तमाज्यम् ।'

इत्यादिश्रुतिः । स होमः स्रुक् च चेतना इति पाठान्तरम् ॥ १४९ ॥

अनुवाद—परम शून्यात्मक वह्नि में मन के साथ भूत, इन्द्रिय तथा विषय का बुद्धि स्रुच[1] से हवन ही होम है[2] ॥ १४९ ॥

'द्रवद्रव्यसमायोगात् स्नपनं तस्य जायते ।
गन्धपुष्पादिगन्धस्य ग्रहणं यजनं स्मृतम् ॥
षड्रसास्वादनं तस्य नैवेद्याय प्रजायते ।
यमेवोच्चारयेद् वर्णः स जपः परिकीर्तितः ॥'

संविदुल्लास ग्रन्थ में—

'विश्वं मूर्तिर्वैखरी नाममाला
यस्यैश्वर्यं देशकालातिलङ्घि ।
तद्भक्तानां स्वैरचारः सपर्या
स्वेच्छाशास्त्रं स्वस्वभावश्च मोक्षः ॥'

१. हवन में द्रव्य-सामग्री डालने की लकड़ी का बना हुआ चम्मच स्रुच कहा जाता है ।

२. कारिका के सम्पूर्ण संदर्भ की तुलना के लिए परमार्थसार की यह कारिका उल्लेखनीय है—

पूजा के अन्त में अग्निहोत्र होता है, वह ज्ञानी का किस प्रकार होना चाहिए—
बाहर (बाह्य) और अन्दर (अन्तर) की कल्पना रूप भेदमहाबीज के समूह को अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि में अर्पण करने वाले उस (ज्ञानी) का होम बिना प्रयत्न के होता है ।

व्याख्या—शून्यातिशून्य अर्थात् महाकाश से भी बड़ा जो आत्मतत्त्व है, उसके भीतर सम्पूर्ण प्रकारों से लय हो जाना, उस परम तत्त्व रूप वह्नि में पंचमहाभूत, इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषय, सम्पूर्ण भुवन तत्त्वादि के सहित जगत्, जो कि विभाग-कल्पना का कारण है, ऐसे मन के साथ चेतना रूप स्रुच अर्थात् विश्व का अनुसंधान करने वाली शक्ति रूप स्रुच से जो हवन किया जाता है, वही होम है। जैसा कि वेदों में कहा गया है—'चेतना स्रुच है और चित्त घी है' ॥ १४९ ॥

यागोऽत्र परमेशानि तुष्टिरानन्दलक्षणा।
क्षपणात् सर्वपापानां त्राणात् सर्वस्य पार्वति ॥ १५० ॥
रुद्रशक्तिसमावेशस्तत्क्षेत्रं भावना परा।
अन्यथा तस्य तत्त्वस्य का पूजा कश्च तृप्यति ॥ १५१ ॥

यागो देवपूजा ॥ १५० ॥

पशुप्रमातुः, रुद्रप्रमातृणां पतिरूपाणां या शक्तिः अनाश्रिताख्या तस्यां समावेशः तन्मयीभवनं तदेव क्षेत्रम् इति अन्वयः। हेतुरूपेण क्षेत्रपदं निर्वक्ति—क्षपणात् इति। तत् क्षेत्रं न पुनः कुरुक्षेत्रादि ॥ १५१ ॥

अनुवाद—हे देवि! इस शास्त्र में आनन्दलक्षणा तुष्टि ही याग है, सारे पापों को क्षय करके साधक को बचाने वाली रुद्र शक्ति का आवेश ही क्षेत्र है, जो परा भावना के नाम से कही गयी है। हे पार्वती! अन्यथा उस तत्त्व की पूजा करना क्या है और पूजा करने से तृप्त होने वाला कौन है? ॥ १५०-५१ ॥

व्याख्या—पशु-प्रमाताओं और रुद्र-प्रमाताओं की जो शक्ति है, वह अनाश्रिता के नाम से वर्णित है। उसमें तन्मयीभाव हो जाना, यही क्षेत्र शब्द का अर्थ है, क्योंकि हेतुरूप से वही क्षेत्र कुरुक्षेत्र आदि है ॥ १५०-५१ ॥

यागक्षेत्रादि किं कथम् इति देवीप्रश्नविषये आदिशब्दग्राह्यं स्नानमपि निर्दिशति—

'बहिरन्तरपरिकल्पमभेदबीजनिचयमर्पयतः ।
तस्यातिदीप्ततप्तसंविज्ज्वलने यत्नाद् विना भवति होमः ॥'

—परमार्थसार, का० ७६

विशेष द्रष्टव्य—शोधनिबन्ध-परमार्थसार : श्रीमती कमला द्विवेदी, पृ० ११० पर।

तुलनीय—

श्री भट्टवीरवामनक ने कहा है—'जिसमें द्वैत का वन ईन्धन है, मृत्यु ही महापशु है उस अलौकिक यज्ञ से नित्य हवन किया करते हैं?।'

तथा—

'महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।
हूयेत मनसा सार्धं, स होमः स्रुक् स चेतनम् ॥—स्वच्छन्दतन्त्र जि० १ पृ० ८७

स्वतन्त्रानन्दचिन्मात्रसारः स्वात्मा हि सर्वतः ।
आवेशनं तत्स्वरूपे स्वात्मनः स्नानमीरितम् ॥ १५२ ॥

स्वात्मस्वरूपे आवेशनमेव मुख्यं स्नानम् इति भावः ॥ १५२ ॥

'पूजा क्षेत्रादि क्या है ?'—देवी के इस प्रश्न में आदि शब्द से स्नानादि का ग्रहण है, इसीलिए स्नान क्या है, यह बतलाया जा रहा है—

अनुवाद—हे देवि ! आत्मा पूर्णतः चिन्मात्र, स्वतंत्र तथा आनन्द घन सर्वव्यापी है, ऐसी आत्मा के स्वरूप में समापत्ति ही आत्मा का स्नान माना गया है ॥ १५२ ॥

यैरेव पूज्यते द्रव्यैस्तर्प्यते वा परापरः ।
यश्चैव पूजकः सर्वः स एवैकः क्व पूजनम् ॥ १५३ ॥

यैः इति कुसुमादिभिः अलिबलिपिशितादिभिश्च । परापरः इति परादेव्या सहितः परः परमेश्वरः । अतः क्व पूजनम् ? उक्तपारमार्थिकपूजाव्यतिरेकेण न किञ्चित् अन्यत् पूजनादि इत्यर्थः ॥ १५३ ॥

अनुवाद—जिन द्रव्यों से परापर की पूजा की जाती है और पूजा करने वाला है वह एक ही है, अतः पूजा कैसी ? ॥ १५३ ॥

व्याख्या—जिन पुष्पों के द्वारा तथा मद्य-मांसादि की बलियों से पूजा की जाती है, वह परादेवी सहित परमेश्वर उन पूजाद्रव्यों से पृथक् नहीं है, तो फिर पूजन किसका किया जाय ? क्योंकि पूजा के द्रव्य भी पूजक-स्वरूप ही हैं । पूज्य-पूजक द्वैत भाव के बिना पूजा संभव नहीं है; और जब परादेवी सहित परमेश्वर एक ही आत्मा है, तब पूजा कौन करे और किसकी ? क्योंकि पूज्य-पूजक अलग नहीं है । अतः इस अवस्था में केवल उस परादेवी सहित परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही पूजा है, यही पूजक है और यही पूज्य भी है ॥ १५३ ॥

व्रजेत् प्राणो विशेज्जीव इच्छया कुटिलाकृतिः ।
दीर्घात्मा सा महादेवी परक्षेत्रं परापरा ॥ १५४ ॥
अस्यामनुचरन् तिष्ठन् महानन्दमयेऽध्वरे ।
तया देव्या समाविष्टः परं भैरवमाप्नुयात् ॥ १५५ ॥
षट् शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकविंशति ।
जपो देव्याः समुद्दिष्टः प्राणस्यान्ते सुदुर्लभः ॥ १५६ ॥

'ऊर्ध्वे प्राण' इति सकार-हकारजपात्मिकां परां देवीम् उपक्रान्ताम् 'होच्चारं मनसा कुर्वन्' इति हंसोच्चारं मनसा कुर्वन् शान्ते प्रलीयते इति

मध्ये अभिहितां, पुनः सर्वेषु श्लोकेषु चतुर्थचरणेषु फलभूतां शून्यभूमिं प्रज्ञा-पारमितां निर्विकल्पावस्थां श्लोकत्रयेण अन्ते उपसंहरति—व्रजेत्प्राण इत्यादि। प्राणः 'सः' इत्येवंरूपः प्रकाशो व्रजेत् बहिः निःसरेत्, जीवः 'अहम्' इत्येव-म्प्रकारः क्षपारूपः, प्राणस्य बहिर्निःसरणे अपानस्य अन्तःप्रवेशने जीवात्मता सम्भवति इति सम्भावनायां लिङ्। जीवस्य प्राणान्तर्वर्तित्वात्, प्राणस्य हकार-लिपिवत् कुटिलाकृतित्वात् जीवोऽपि कुटिलः, प्रत्यावृत्य अन्तःप्रवेशाभावे जीव एव न स्यात् इति अपानदशैव जीवप्रादुर्भावः इत्यतो 'विशेत् जीवः' इति उक्तम्। वक्रत्वमपि तस्य स्वतन्त्रपरमेशेच्छयैव। कुण्डलिन्या अधोमुख्याः सार्धत्रिवलयाकारत्वात् तदन्तःस्था प्राणशक्तिरपि कुटिला। प्राणान्तर्वर्ती आकाशो बालाग्रशतभागानाम् अन्तिमो भागः परमसूक्ष्मो निराकृतिः। आधार-वक्रतया आधेयस्यापि उपचारात् वक्रत्वम्, न तु तत्त्वतः इति प्राण एव कुटिलः। हृदयाकाशसंविन्मात्रात् जीवदशोद्भूतिः—

'प्राक् संवित्प्राणे परिणता।'

इति श्रुतेः। पूर्णाहंविमर्शसंविन्मात्रात् न्यूनदेहाभिमानि जीवत्वम्, महाकाशत्वे सति घटाद्याकाशोद्भूतिवत्। इडायां वामनाड्यां संवलनात्, पिङ्गलायां दक्ष-नाड्यां वलनात् प्राणशक्तेः द्विवलयाकारत्वम्। सुषुम्नाख्या मध्यनाडी तु सार्ध-मात्रात्मकत्वात् सार्धा। प्राणस्य हृदाकाशात् आरोहणेन प्राणात्मकतया 'हम्' इति, द्वादशान्तात् अवरोहणेन अपानदशया 'स' इति वर्णद्वयोत्पत्तिः। जीवस्य जीवत्वमेतद्वर्णद्वयव्यक्तभाषणेन—

'हंस-हंसेति मन्त्रेण जीवो जपति सर्वदा।'

इति, उक्तत्वात् जीव एव जपति, न तु परमेश्वरः—हंस इति मन्त्रेण न्यूनाभि-मानघटनात्, ईश्वरदशायां तु पूर्णाहन्तात्मकतया 'अहं सः, सोऽहम्, अहम् इदम्' इत्यादिविमर्शाच्छुरितत्वात् इदं त्याज्यम्, इदम् उपादेयम्, इदं मम, न इदं मम इति हान-समादानधर्मित्वात् हंसत्वम्। एवं चिदर्करश्मिविकासे दिन-प्रकाशः प्राणः, तत्सङ्कोचेन रात्रिरपानः। एवं स-हयोः धर्माधर्मयोः, दीर्घ-ह्रस्वयोः, दिनक्षपयोः, अग्नीषोमयोः मूलभूता हृदाकाशसंवित् शून्यभूमिः परा देवी विज्ञानतन्त्रे सर्वसाधारणा फलभूता निर्दिष्टा। एतस्या विततरूपत्वं दर्शा-यति 'दीर्घात्मा सा महादेवी परक्षेत्रं परापरा।' इति। सा महादेवी महदम्ब-रैकप्रकाशस्वरूपा संविद् गगनचरी प्रमातृप्रमेयप्रमाणगामिनी 'स-ह'-इति वर्ण-द्वयसत्ताप्रदा तद्विश्रान्तिभाजनं, तन्मूर्धाकाशस्थत्वात् तटस्थरूपत्वेन स्थिता तत्पार्श्वस्थान्तर्बहिष्करणविसर्गकर्त्री अजपा—अव्यपदेश्यापि सती विततता-कृतिर्भवति। तस्या एव विस्तारो द्वैतसम्पत्तिर्दिनक्षपात्मिका। सैव परं क्षेत्रं

सर्वपाशानाम् क्षपणात्, सर्वस्य त्राणात् तीर्थभूमिर्वा सा, न तु कुरुक्षेत्रादि क्षेत्रम् । इयं परापरा दशा—भेदाभेदात्मकतया अहम् इति प्राधान्येन, इदम्-इति गुणीकारेण, अर्थतः तच्छब्दास्मच्छब्दयोः अभेदः, तत्तया मत्तया निर्देशेन भेदश्च इति परापरात्वम् । स्फुटवाच्यहकार-सकारान्तर्गर्भिता परा देवी अन्तः-प्रवेशदशायां हं-कारस्य मस्तकोर्ध्वे—

'अम् इत्यनुस्वारः ।'

इति कृतलक्षणानुस्वाररूपा केवलबिन्दुतया अजप्या । एवं बहिःनिःसरण-दशायां सः-कारपार्श्वे—

'अः इति विसर्जनीयः ।'

इति कृतलक्षणविसर्जनीयात्मिका अकारं विना बिन्दुद्वयस्य अनुच्चार्यत्वात् अजपा । एवं वर्णक्रमेण अजपात्वम् । संवित्क्रमेण तु संवित्प्रकाशेन सर्वशब्द-स्फुरणम् । तत्स्फुरणं तु न केनचिदपि सम्भवति—संविदन्तराभावेन स्वप्रकाश-त्वात्, स्वप्रकाशस्य च परप्रकाशानपेक्षत्वात् प्रदीपस्य प्रदीपान्तराभाववत् । ननु जीवोऽस्ति हंसमन्त्रजीवः, तन्मन्त्रमात्रविमर्शानुसरणेन तस्य पूर्णाहंविमर्शः कथं जायते ? इति चेत् ब्रूमः—अत्राहुः महेश्वरानन्दपादाः—

'यदि निजहृदयोल्लासं निर्णेतुं नित्यनिष्कलमिच्छा ।
मध्यतुटिस्त्रुटितव्या अस्तङ्गतयोः सोमसूर्ययोस्तर्हि ।।'

इति । सोमः अपानो—हकारः सकलवेद्यवर्गपोषकत्वात्, ज्ञातृत्वात् सकारात्मा सूर्यः हङ्कार-सः कारयोः अस्तङ्गतयोः सतोः मध्यतुटिः उद्धर्तव्या-माणिक्य-मालिन्यादिवत् । सकारस्य अस्तङ्गमनं स्वहृदये विसर्जनीये हकारस्य च स्वहृदयसम्पुटीकरणलक्षणे अनुस्वारे यदा विश्रान्तिः तदा मध्यमा तुटिः—विभज्यावस्थानक्षणलक्षणो यः कालखण्डः स उत्त्रुटितव्यः, तदानीम् 'अहं सः' इति विमर्श उत्पद्यते । हंसमन्त्रश्लिष्टः अहं सः, सोऽहम् इति महामन्त्रः, स एव विमृष्टव्यः स्वात्मप्रत्यभिज्ञानोपायत्वात् ।

जयरथस्तु—स-हाभ्यां—सकार-हकाराभ्यां जातो जपः सहजोऽकृत्रिमः ।

'स-हौ क्षपादिनामानावधरोत्तरचारिणौ ।
परस्परद्वेषरतौ मत्तौ नागहुडोपमौ ।।
कस्तौ रोधयितुं शक्तो वीर्यं मुक्त्वास्वरं महत् ।'

इति । अत्र क्षपादिनामानौ इति क्षपा-दिनाभ्याम् आ समन्तात् मननं ज्ञानं ययोः इति यथाक्रममपानस्य प्राणस्य च क्षपया दिनेन च शास्त्रीयो व्यपदेशः । यदाशयेन वीरावलिकुले—

'सितासितौ दीर्घह्रस्वौ धर्माधर्मौ दिनक्षपे ।
क्षीयेते यदि तद्दीक्षा व्याप्त्या ध्यानेन योगतः ॥'

इति । शुक्लो दिनम्, कृष्णा रात्रिः । प्रकाशविकासेन दिनस्य दीर्घता, तत्सङ्कोचेन रात्रिर्ह्रस्वा । वेदोक्तविध्यधिकारबाहुल्यात् धर्मत्वं दिनस्य, रात्रेस्तु तदनधिकारात् अधर्मता । त्रयीतनुत्वं सूर्यस्यैव, न तु चन्द्रस्य । कुम्भकावस्थया प्राणापानयोः प्रशान्तिः योगिनाम् अभीष्टैव, अत एव क्षीयेते तौ इति उक्तम् । अन्यथा हि वृथायुर्हरणम् अनवरतजन्ममरणप्रवाहकारणं विदध्याताम् । श्रुतिस्मृतिषु तु दिनक्षपयोः श्वत्वेन निर्देशः कृतः, मृत्युदूतत्वात् आयुर्हरणात् जनहिंसकत्वाच्च । तथा च ब्राह्मणम्—

'एतौ वै यमश्वौ यमस्य श्वानौ यदहोरात्रे ताविदं
मनुष्याहरणावन्तःप्राणप्रवेशेनोपसृजन्तौ प्रवहतः ॥'

इति । तथा यमसूक्तं च—

'यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ ।
ताभ्यामेनं परिदेहि राजन् स्वस्ति चास्मा अनमीवं च देहि ॥
उदनसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु ।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥'

चतुरक्षौ चतुरपरिवर्तिनौ–दिनात् अनन्तरं रात्रिः तस्या अनन्तरं दिवसः इति, एवम् अविच्छिन्नपरिवर्तिनौ इत्यर्थः । शकन्ध्वादिवत् चतुरक्षौ इति रूपम्, चतुरं निपुणं चक्रभ्रमणं ययोः तौ इति विग्रहः, चक्रवाचकौ हि अक्षशब्दः, चक्रेण परिवर्तनं लक्ष्यते, चतुरचक्रौ—

श्वानौ द्वौ श्यावशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ ।
ताभ्यां पिण्डं प्रदास्यामि स्यातां मे तावहिंसकौ ॥'

इति कपिशवर्णः श्वा रात्रिः, चित्रवर्णः श्वा दिनं, प्रातःकाले रक्तप्रकाशे, मध्याह्ने शुक्लतायां, सायं श्यामत्वेन, कर्बुरवर्णत्वाद् दिनस्य । वैवस्वतोऽत्र मृत्युः तद्गृहोत्पन्नत्वात् तद्रक्षकत्वात् जनायुर्हरणात् मृत्युदूतौ, तदर्थं पाञ्चभौतिकं पिण्डमेव पिण्डं कवलं दास्यामि—ममतायाः त्यजामि । शुनो हि भक्तादिपिण्डदानं लोके ख्यातम्, अहोरात्रिपरिवृत्त्या भौतिकपिण्डस्य सञ्जातजीर्णभावस्य क्षतिः इत्यतः—पिण्डं प्रदास्यामि इति उक्तम् । मम पुनः चिद्रूपस्य अविनाशिन एतद् गतिपरिवर्तनस्य अङ्गीकृतप्राणापानगतिविच्छेदे तौ श्वानौ हिंसकौ न भवेताम्, तत्कृतं हिंसनं न सम्भवति, इति सम्भावनायां लिङ् । शुनः सकाशात् अवश्यं तद्विरचितदंशननिराकरणेन स्वात्मरक्षणं विधेयम् । तस्मात् योगेन ध्यानेन यदि तौ क्षीयेते तदा दीक्षा—ज्ञानसद्भावः पशु-

वासनाक्षयश्च, इति दिक्। अस्वरं पुनः निर्विभागा पश्यन्ती भूमिः इति केचित् आमनन्ति। यत् आदिष्टं श्रीवामननाथेन—

'अप्राणमस्वरं ध्यात्वा पश्यन्त्या निर्विभागया।
चिन्मात्रस्पर्शयोगेन विलीनः स्यात् परे पदे॥'

इति। अस्यापि मूलभूः—

'ततोऽस्वरोऽर्कसोमाग्निकलाबीजप्रसूतिभाक्।
उदेत्येकः समालोकः प्रमाणार्थप्रमातृगः॥'

इति। अर्थः प्रमेयम् इति श्रीक्रमस्तोत्रसंवादात् अपादानत्वेन परैव देवी देश-कालाकारावच्छेदविनाशिनी समालम्भनीया। एषैव भगवती निरावरणरूपा प्रज्ञापारमिता इति उच्यते, तत् उक्तम्—

'निष्प्रपञ्चा निराभासा निर्विकल्पा निरामया।
निःस्वभावा परा सूक्ष्मा बिन्दुनादविवर्जिता॥
प्रज्ञापारमितापारा सर्वबुद्धोदया परा।'

इति। इयमेव शून्यभूमिः विज्ञानतन्त्रे परमशिवेन उपदिष्टा सर्वत्र, अन्यदर्शनेषु शून्यावस्थाया मोक्षत्वं प्रतिपाद्यते। भावनाबलेन यः साक्षात्कारः स शैवशास्त्रेषु मायागर्भपरिभ्रमणमेव इति निश्चिनुमः, इति अलम्। अस्यां परापराभूमौ सकार-हकारसङ्घट्टात्मको य आनन्दः स महानन्दः तन्मये यज्ञे 'सोऽहम्' इति विमर्शरूपे अनुचरन् तिष्ठन्—तया पश्यन्त्या सह एकीभूतः सन् परास्वरूपो भवेदेव इत्यर्थः। 'हंस' इति मन्त्राणाम् अहर्निशं यावती सङ्ख्या जायते तत् दर्शयति—षट् शतानि इति। सुदुर्लभः इति—अजपाजपविमर्शनं प्राणनिर्याण-समये बहुतरजन्मार्जितपुण्यातिशयेन लभ्यते इति शिवम्॥ १५६॥

अनुवाद—"बाहर निकलने वाला श्वास प्राण कहलाता है तथा भीतर प्रवेश करने वाला अपान वायु ही जीव कहलाता है, जो स्वभावतः कुटिल आकृति का है। वह प्राणापान स्वरूप 'परापरावस्था महामाया' है"॥ १५४॥

"इस 'महानंदमय मार्ग' में घूमता हुआ उस परादेवी के साथ समाविष्ट जीव 'परमभैरवता' को प्राप्त करता है"॥ १५५॥

'दिन और रात में होने वाले (२१६००) श्वास-प्रश्वास देवी का जप माना गया है, जो प्राणों के खत्म हो जाने पर अत्यन्त दुर्लभ है'॥ १५६॥

व्याख्या—'ऊर्ध्वे प्राणाः' इस प्रतीक से लेकर 'प्राणस्यान्ते स दुर्लभः' यहाँ तक तीन कारिकाओं में वर्णित 'साधना' की प्रक्रिया समझा रहे हैं—'सकार' और 'हकार' के जप-स्वरूप 'परादेवी' मन से हकार का उच्चारण करते हुए 'हंस' उच्चारण मन से करता हुआ साधक शान्तावस्था में विलीन हो जाता है। इसके मध्य में कहे हुए सभी श्लोकों में जो साधना है, उसके चतुर्थ चरण में फलीभूत शून्यभूमि, जिसको

प्रज्ञापारमितावस्था भी कहते हैं अथवा निर्विकल्पावस्था के नाम से भी कही गई है। इन्हीं तीन श्लोकों में अंत में उसका उपसंहार करते हुए कहते हैं—'व्रजेत्प्राण' इत्यादि। प्राणः अर्थात् 'सः' इस प्रकार का उच्चारण जो प्रकाशरूप है और नाभि-चक्र से ऊपर उठकर बाहर निकलता है तथा 'अहं' इस प्रकार जो रात्रिरूप जप होता है, वह द्वादशान्त से लेकर हृदय तक आता है। इस प्रकार प्राणवायु के बाहर निकलने पर और अपानवायु के अंतःप्रवेश करने पर, क्योंकि जीव प्राणान्तरवर्ति है, प्राण हकार अक्षर की आकृति के तुल्य आकृतिवाला होने से 'कुटिल' आकृति का है। साथ ही प्रत्यावृत्ति के समय अंतःप्रवेश के अभाव में जीव ही नहीं रहता है। अतः अपानदशा ही जीव का प्रादुर्भाव कराने वाली है। इसी अभिप्राय से 'विशेत्जीवः' कहा गया है। उसका वक्रत्व भी परमेश्वर की स्वतंत्र इच्छा से ही है। कुण्डलिनी नाड़ी अधोमुखी, जो साढ़े तीन चक्र (आँटे) लगाकर स्थित है। अतः उसके भीतर संचार करने वाली प्राणशक्ति भी कुटिला ही है। इसी प्रकार प्राण के भीतर रहने वाला बाल (केश) के अग्रभाग के सौवें अंश के तुल्य अतिसूक्ष्म परमाकाश निराकार है। आधार के वक्र होने के कारण वस्तुतः वक्र न होने पर भी आधेय भी स्वभावतः वक्र ही होगा। इस प्रकार प्राणवायु ही कुटिलाकृति होकर हृदयाकाश संवित्रूप जीव-दशा को धारण कर लेता है।

वेदों में भी कहा गया है—'वह अनादि चैतन्य संवित् प्राण में परिणत होने पर जीव कहलाता है।' इस प्रकार पूर्णाहंता विमर्श संविन्मात्र से न्यून देहाभिमानी जीव-दशा को प्राप्त होता है। जैसे महाकाश आदि से घटाकाश आदि की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार परमात्मा के द्वारा प्राणवायु कुटिल सूक्ष्म कुण्डलिनी के भीतर प्रवेश पाकर जीव-दशा को प्राप्त हो जाती है। 'इडा' नामक 'वामनाड़ी' में संवलित होकर 'पिंगला' अर्थात् 'दक्षिण नाड़ी' में वलन पाने के दो वलयाकार बन जाते हैं। 'सुषुम्ना' नामक 'मध्यनाड़ी', जो डेढ मात्रा वाली है, अतः वह सार्द्ध नाड़ी कहलाती है। प्राण के हृदयाकाश से चढ़कर प्राणरूप से 'हम्' ऐसा उच्चारण करता हुआ द्वाद-शान्त से अवरोहण करने पर अपान दशा से 'सः' इन दो वर्णों की उत्पत्ति होती है। अतः जीव का जीवत्व इन हकार और सकार इन दो वर्णों से अभिव्यक्त होता है। इसीलिए कहा गया है—हंस-हंस इस मन्त्र के द्वारा जीव सदा उस आत्मा का जाप करता रहता है। ईश्वर किसी का जप नहीं करता, क्योंकि न्यूनाभिमान घटक ही पूर्णाभिमान घटक का जप कर सकता है। ईश्वर अवस्था में तो पूर्णाहंतात्मक होने के कारण उस अवस्था में 'सः अहम्', 'इदम्' 'अहम्' इत्यादि विमर्श होते ही नहीं। तथा यह न त्याज्य है, न यह उपादेय है, न यह मेरा है, न यह मैं हूँ इत्यादि हानो-पादान विमर्श का अभाव रहता है। इस प्रकार चैतन्य सूर्य की किरणों के प्रकाश के विकास से प्रकाश रूप प्राण ही दिन है और उसके संकोच से उत्पन्न होने वाला अपान ही रात्रि है। इस प्रकार 'सः' और 'ह' रूप धर्माधर्म, दीर्घ-ह्रस्व, दिन-रात्रि, अग्नि-सोम इत्यादि नामों से मूलभूत हृदयाकाश संवित्रूप शून्यभूमि परादेवी है, जिसको

'विज्ञानभैरव' में सर्वसाधारण फलस्वरूप बतलाया है। जिसका विस्तृत रूप इस प्रकार हैं—यह महादेवी महाकाश को प्रकाशित करने वाली, प्रकाशस्वरूपा संवित्रूप से सारे आकाश में फैली हुई, प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता के रूप से 'स' और 'ह' इन दो वर्णों के संघट्टन से विश्रान्ति को प्राप्त हुई, उनके मस्तक पर रहने वाले आकाश के मध्य स्थित, तटस्थ रूप से अडिग उसके पार्श्व में स्थित तथा भीतर बारह विभाग करने वाले विसर्ग की निर्मात्री है, वह अजपा कहलाती है। अजपा का अर्थ है—व्यपदेश करने के अयोग्य। फिर भी विस्तृत आकृति वाली हो जाती है। और उसी का यह विस्तार द्वैत सम्पत्ति है, जो दिन और रात्रि के रूप में सदैव सामने आता है। वही इसका परमक्षेत्र भी है, जो पाशों के क्षय करने के कारण तथा सबकी रक्षा करने के कारण क्षेत्र अर्थात् 'तीर्थभूमि' कहलाता है। इसी विचार के विमर्श का नाम तीर्थस्थान है, न कि कुरुक्षेत्रादि तीर्थस्थलों पर किया गया स्नान।

ये परापरावस्थाएँ ही भेदाभेद बुद्धि से प्रधानतया 'अहम्' के रूप से और गुणीभूत अवस्था में 'इदम्' के रूप से अर्थात् 'तत्' और 'अस्मद्' शब्द के रूप से अभेदभाव को प्राप्त होती हुई तत्तात्मक और मत्तात्मक निर्देश से 'परा' और 'अपरा' का भेद प्रतिपादित करती है। स्पष्ट उच्चारण के योग्य हकार और सकार के अन्त में गर्भित 'परा देवी' अन्तःप्रवेश अवस्था में, 'अकार' को मस्तक पर 'अम्' इस अनुस्वार के रूप में केवल बिन्दु रूप से अजप्य तथा बाहर निकलने की अवस्था में 'सः' के आगे, बिना अकार के इन दो बिन्दुओं का उच्चारण सम्भव न होने के कारण 'अजपा' कहलाती है। इस प्रकार वर्णक्रम से इसका 'अजपा' नाम यथार्थ ही है। संवित्क्रम से संवित्प्रकाश द्वारा सभी शब्दों का स्फुरण होता है। वह स्फुरण अन्य किसी से तो हो ही नहीं सकता। क्योंकि बिना संवित् स्वप्रकाश और प्रकाश्य तथा परप्रकाश की अनपेक्षा होने के कारण स्वतःप्रकाश्य है। जैसे दीपक को प्रकाशित करने के लिए अन्य दीपक के प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती।

अब कहते हैं कि यदि जीव हंस-मंत्रस्वरूप है तो उस मन्त्र मात्र के विमर्श से पूर्णाहन्ता विमर्श की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी? क्योंकि जीव (हंस) मंत्र विमर्श करने से जीव का विमर्श हो सकता है। किन्तु पूर्णाहन्ता का विमर्श किस प्रकार होगा? ऐसा कोई कहते हैं—इस पर महेश्वरानंदपाद ने कहा है—'यदि सहृदयोल्लास का निर्णय करने के निमित्त नित्य निष्कल इच्छा जागृत हो जाय तो दो वर्णों के उच्चारण के मध्य में जो तुट्यात्मक काल है, उस पर विचार करना चाहिए। सोम और सूर्य के मध्य में—एक के अस्त होने पर दूसरे का उदय होता है, उसका मध्यावधिकाल पूर्णाहंता विमर्श-स्वरूप है। अभिप्राय यह है कि अपान का नाम सोम है, जिसका उच्चारण 'हकार' के द्वारा होता है और वह सारे वेद्य-वर्ग का पोषक है। साथ ही ज्ञातृ-स्वरूप होने के कारण 'सकार' सूर्य-स्वरूप है। इस प्रकार 'हकार' और 'सकार' के एक के अस्त होने पर दूसरे का उदय होता है। प्रथम के अस्त होने पर और द्वितीय के उदय होने के मध्य में जो काल रहता है, उसे शास्त्र में 'त्रुटि' नाम

से सम्बोधित किया गया है। यथा सूत्र में एक मणि के बाद दूसरी मणि पिरोते हैं। उसके मध्यस्थित आकाश के सदृश हकार और सकार के मध्यगत-प्राणवायु के प्राणत्व के नष्ट होने पर और अपान में अपानत्व के उदय होने के पूर्व का काल है, वही 'परम भैरव' कहलाता है। साथ ही अपान में अपानत्व नष्ट हो जाने के बाद और प्राणत्व के उदय होने के पूर्व मध्यावधि का नाम 'परादेवी' है। इस प्रकार परास्वरूप भैरव और भैरवस्वरूप परा होने से दोनों का स्वरूप समान है और उसी का काल 'तुटिकाल' है और वही पूर्णाहंताविमर्श है।

इस प्रकार जीव (हंस) मंत्र का साधन करने वाले प्राणी को पूर्णाहंताविमर्श अनायास ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि जब वह त्रुटिकाल में विमर्श करता है, तब उसे विचार होता है कि 'अहं सः, न तु प्राणापानरूपः' 'मैं वह हूँ न कि प्राणापान-स्वरूप'। अतएव यह हंस-मंत्र ही विमर्शनीय है, इसी से स्वात्मप्रत्यभिज्ञान विवृत होता है और उसका यह एक मात्र ही साधन है। 'जयरथ' ने तो हंस-मंत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—सकार और हकार के द्वारा उत्पन्न होने के कारण यह सहज है (अर्थात् अकृत्रिम है), ये सकार और हकार, रात-दिन के रूप में नीचे और ऊपर संचरण करने वाले अपान और प्राण के नाम से संचरण कर रहे हैं, वे एक-दूसरे के इस प्रकार द्वैषी है जैसे सर्प और नेवला। इस वीर्य को कौन रोक सकता है ? यहाँ 'क्षपादिनामानी' अर्थात् रात-दिन के नाम से निरन्तर मनन और ज्ञान के द्वारा यथाक्रम अपान का प्राण में और प्राण का अपान में परिवर्तन होता रहता है। जिसे शास्त्र में रात-दिन के नाम से व्यपदेश किया गया है। इसी आशय से वीरयावलिकुल में कहा है—'शुक्ल और कृष्ण, दीर्घ और ह्रस्व तथा दिन और रात्रि—यह व्यवहार जिस क्रिया से क्षीण हो जाता है, उसी क्रिया का नाम दीक्षा है न कि बाह्याभिषेक का नाम (दीक्षा है)'। शुक्ल दिन है, तो रात्रि कृष्ण। प्रकाश के विकास से दिन में दीर्घता है और संकोच के कारण रात्रि को ह्रस्व कहा है। वेदोक्त-विधि के अधिकार का बाहुल्य होने के कारण दिन को धर्म कहा है, रात्रि में उसका अधिकार न होने के कारण अधर्म माना है। 'त्रयी-तनु' सूर्य का नाम है, चन्द्र का नहीं। कुम्भकावस्था में प्राण और अपान दोनों प्रशान्त हो जाते हैं, ये योगियों के अभीष्ट हैं। इसीलिए कहा है—'ये दोनों क्षय हो जाय (अर्थात् शांत हो जाय), अन्यथा आयु व्यर्थ ही नष्ट होती जा रही है, हम निरन्तर जन्म-मरण के प्रवाह का कारण बन रहे हैं। वेदों में और स्मृतियों में तो दिन और रात्रि को कुत्ते के रूप में निर्देश किया है। इसका कारण यह हो सकता है कि ये मृत्यु के दूत हैं और आयु का हरण करने से जन-हिंसक हैं। जैसा कि ब्राह्मण में कहा है—ये दोनों यमराज के श्वान हैं, जिनको यहाँ हम रात-दिन के रूप में अभिहित किया करते हैं। ये मनुष्य की आयु का हरण करने वाले हैं तथा प्राण के प्रवेश-निर्गम के द्वारा निरन्तर बहते रहते हैं। इसी तरह यमसूक्त में भी कहा है—जो ये दोनों कुत्ते यम के रक्षक हैं, इनमें चार परिवर्तन होते हैं। दिन के बाद रात्रि और रात्रि के बाद दिन। जो इन चारों

मार्गों के अविच्छिन्न परिवर्तन में साक्षी होने के कारण इनके रक्षक माने गये हैं, अतः हे राजन् ! इनके नाम पर कुछ बलिदान दो, जिससे ये हमें सताने वाले न बने। नासिका के भीतर प्राणवायु के रूप में उद्वलित होने वाले ये यमराज के दूत हर प्राणी में निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं, वे हम लोगों को कभी सूर्य के रूप में और कभी चन्द्र के रूप में प्रत्यक्ष परिवर्तित होते हुए दिखलायी देते हैं।

इसी प्रकार स्मृतियों में भी कहा गया है—'दो कुत्ते जिनका श्याम और शबल (चितकबरा) स्वरूप है और वैवस्वत कुलोत्पन्न हैं, उन दोनों के लिए मैं पिण्डदान करता हूँ, जिससे ये दोनों अहिंसक बनें। अभिप्राय यह है कि एक कुत्ता-रात्रि जिसका वर्ण श्याम है, दूसरा कुत्ता–दिन जिसका चित्र वर्ण है। दिन रूपी कुत्ते को चित्र वर्ण इसलिए कहा है कि प्रातःकाल में लाल प्रकाश, मध्याह्न में शुक्ल और सायंकाल में श्याम होने के कारण कर्बुर वर्ण हो जाता है। वैवस्वत नाम मृत्यु का है, क्योंकि वह भी वैवस्वत वंशोत्पन्न है। उसके घर में उत्पन्न और उनके रक्षक होने के कारण ये प्राणापान रूप दिन-रात्रि भी मृत्यु के दूत होने के कारण वैवस्वत कुलोत्पन्न माने गये हैं। इनके निमित्त यह पाँचभौतिक शरीर ही पिण्ड रूप में है। अतः मैं अहंता और ममता का त्याग कर इस पाँचभौतिक पिण्ड को बलि के रूप में इनको अर्पण करता हूँ। फिर मुझ चिन्मय अविनाशी का इस गति-परिवर्तन से—प्राणापान रूप गति के विच्छेद हो जाने से, दोनों श्वान हिंसक नहीं हो सकेंगे। इन कुत्तों के काटने से बचने का कोई उपायान्तर नहीं है। अतः योग के द्वारा ध्यान करने से ये दोनों—प्राण और अपान क्षय हो जाते हैं, तभी ज्ञान-सद्भाव के उदय हो जाने से पशु-वासना का क्षय होगा और दीक्षा शब्द सार्थक हो सकेगा।

कुछ लोगों का मत है कि कोई स्वरहीन निर्विभाजित होने वाली 'पश्यन्ती' नाम की भूमिका है। क्योंकि श्रीवामननाथ ने भी यही आदेश दिया है—'प्राण वायु से रहित, स्वरहीन, अविभाजित, पश्यन्ती नाम की अवस्था इसके पश्चात् साधक के समक्ष आयेगी, जिसको चैतन्य के स्पर्शमात्र से प्रतीति होती हैं, उसमें चैतन्य का स्पर्श मात्र कर लेने के बाद परमपद में तत्काल लय हो जाता है।

इसकी भी मूल भूमिका इसके आगे स्वरहीन सूर्य, सोम और अग्निकला, जो बीज रूप से विद्यमान है, उसका एक उज्ज्वल प्रकाश प्रकाशित होता है, जो प्रमातृ-गत प्रमाण ही अर्थ के रूप में प्रतीत होता है। प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता इस त्रिपुटि के रूप में अभेद भाव से प्रतीति का कारण है। इसी को श्रीक्रमस्तोत्र में अपादान के रूप में परादेवी, देश, काल और आकार के विभाजन से आश्रय के अयोग्य माना गया है। यही भगवती निरावरण रूपा है, अतएव प्रज्ञापारमिता नाम से कही गयी है। कहा भी है—'यह परादेवी निष्प्रपंच, निर्विकल्पा, निरामया और निःस्वभावा है। परा तथा सूक्ष्मा होने के कारण बिन्दुओं और नाद से वर्जित है। बुद्धि के सारे विकारों से परे होने के कारण 'प्रज्ञापारमिता पारा' कहलाती है। इसी का नाम शून्य-भूमि है। विज्ञानभैरव में परमशिव के द्वारा इसी का उपदेश सर्वत्र दिया गया है।

अन्य दर्शनों में तो शून्यावस्था मोक्षदायिनी मानी गयी है। भवनाबल से होने वाले साक्षात्कार को शैवदर्शन में माया गर्भ परिभ्रमण होने के कारण वास्तविक नहीं है—में (टीकाकार) ऐसा समझता हूँ। इस 'परापरा भूमि' में 'सकार' और 'हकार' के संघट्टात्मक उत्पन्न होने वाला आनन्द 'महानन्द' कहलाता है। तद्रूप महायज्ञ में 'सो-ऽहम्' इस विमर्श के रूप में उच्चारण रहित अवस्था में स्थित उस पश्यन्ती के साथ एकीभूत होकर परस्वरूप होना चाहिए।

अब 'हंसः' इस मन्त्रवर्णों के उच्चारण करने के साठ घड़ी के काल में जितनी संख्या में उच्चारण होता है, उसे दिखलाते हैं—रात-दिन में २१६०० संख्या से मनुष्य प्रकृति से इसका उच्चारण करता है। इस अजपा जप का विमर्श मनुष्य प्राण निर्माण के समय तक भी प्राप्त कर लेता है, तब समझना चाहिए कि उसके अनेक जन्मों के एकत्रित पुण्यों का उदय हो गया है ॥ १५४–५६ ॥

इत्येतत् कथितं देवि परमामृतमुत्तमम् ।
एतच्च नैव कस्यापि प्रकाश्यं तु कदाचन ॥ १५७ ॥
परशिष्ये खले क्रूरे अभक्ते गुरुपादयोः ।
निर्विकल्पमतीनां तु वीराणामुन्नतात्मनाम् ॥ १५८ ॥

निर्विकल्पमतित्वादेव वीराणां छिन्नसंशयशत्रूणाम्, उन्नतः शुद्धविद्या-प्रधानो न तु मायापतितः आत्मा येषाम् ॥ १५८ ॥

अनुवाद—हे देवि ! मैंने अध्यात्मशास्त्र का यह परम अमृतमय उपदेश कहा है। इसे किसी के सामने प्रकाशित नहीं करना चाहिए।

दूसरों के शिष्यों, दुष्टों, क्रूर पुरुषों तथा गुरु-चरणों में जिसकी भक्ति नहीं है, ऐसे शिष्य को कभी नहीं कहना चाहिए। किन्तु निर्विकल्प बुद्धि वाले (निःशेष संशय) वीर साधकों को तथा युद्धविद्याप्रधान उन्नत पुरुषों को उपदेश देने योग्य हैं ॥ १५७–५८ ॥

व्याख्या—माया जाल में पड़े हुओं को यह उपदेश देने योग्य नहीं है ॥१५७-५८॥

भक्तानां गुरुवर्गस्य दातव्यं निर्विशङ्कया ।
ग्रामो राज्यं पुरं देशः पुत्रदारकुटुम्बकम् ॥ १५९ ॥
सर्वमेतत् परित्यज्य ग्राह्यमेतन्मृगेक्षणे ।
किमेभिरस्थिरैर्देवि स्थिरं परमिदं धनम् ॥ १६० ॥

तत्त्वोपदेशकस्य देहप्रमातृकृतभेदस्य, वस्तुतः शिवैकरूपस्य गुरोः, न तु नियतस्यैव कस्यचित्, भक्तानां निर्विशङ्कं प्रकाशनीयम् ॥ १५९ ॥

ग्राह्यम् इति आत्मीकार्यम्। स्थिरं धनम् इति सर्वदौर्गत्यहरत्वात् ॥ १६० ॥

अनुवाद—जो गुरुचरणों में पूर्ण श्रद्धावान् है, ऐसे शिष्यों को निःशंक होकर (इसका उपदेश) देना चाहिए। ग्राम, नगर, राज्य, देश, कुटुम्ब सब कुछ त्याग कर भी इसको ग्रहण करना चाहिए। हे मृगेक्षण! इन अस्थिर वस्तुओं से क्यों ? क्योंकि यह (परम अमृतत्त्व) ही परम स्थिर धन है ॥ १५९–६० ॥

प्राणा अपि प्रदातव्या न देयं परमामृतम्।

अनुवाद—प्राण तक भी देना पड़े तो दे देना चाहिए, परन्तु यह परमामृत (किसी भी स्थिति में) नहीं देना चाहिए ॥ १६० ॥

श्रीदेवी उवाच

देवदेव ! महादेव ! परितप्तास्मि शङ्कर ॥ १६१ ॥
रुद्रयामलतन्त्रस्य सारमद्यावधारितम्।
सर्वशक्तिप्रभेदानां हृदयं ज्ञातमद्य च ॥ १६२ ॥
इत्युक्त्वाऽऽनन्दिता देवी कण्ठे लग्ना शिवस्य तु ॥१६३॥

सर्वसंशयत्यागपूर्वं परमानन्दपदप्रवेशेन शिवैकमयीभूता--इति भावः ॥ १६३ ॥

अनुवाद—देवी ने कहा—हे देवताओं के भी देव (देवाधिदेव) महान् देव ! मैं परितृप्त हूँ। मैंने आज रुद्रयामलतंत्र के सार को सुन कर धारण किया है और सारे शक्तितत्त्वों के भेदों के रहस्य को जान लिया है। ऐसा कह कर आनन्दविभोर भगवती पार्वती ने शिव के कण्ठ का आलिंगन किया (अर्थात् सम्पूर्ण रहस्यों से रहित होकर परमानन्द मग्न होते हुए शिव के साथ एकीभूत हो स्थिर हो गई) ॥ १६१–६३ ॥

श्रुतं देव मयेत्यादिप्रश्नग्रन्थार्थबन्धनम्।
ऊर्ध्वे प्राणादिपद्यान्तं क्षेमराजकृतं शुभम् ॥ १ ॥
ततः परमुपाध्यायकुशकाशावलम्बनम्।
यद्वृत्तिग्रन्थकाकलपुस्तकं हस्तगोचरम् ॥ २ ॥
भूर्जात्मकं वा नायातं जग्धं कालघुणेन तत्।
दग्धं वा वह्निना च्छिन्नमत्र साक्षी महेश्वरः ॥ ३ ॥
विज्ञानतन्त्रविवृतिः कृतसङ्ग्रहेयं
वृत्त्यन्तरात् क्वचिदपि स्वमतेर्विलासात्।

नाम्ना शिवेतिगुणिकौशिकगोत्रजात्यो-
पाध्यायशब्दयुतयाप्युपलक्षितेन ॥ ४ ॥
सुखजीवनाभिधाने रक्षति काश्मीरमण्डलं नृपतौ ।
अगमन्निःशेषत्वं विज्ञानोद्द्योतसङ्ग्रहः सुगमः ॥ ५ ॥
समाप्तोऽयं विज्ञानभैरवोद्द्योतः ।

कृतिः श्रीमद्गोविन्दगुरुसुन्दरकण्ठपादपद्मानुजीविनः
शिवोपाध्यायस्य इति शिवम् ॥

सद्विद्यानां संश्रये ग्रन्थविद्वद्-
व्यूहे ह्रासं कालवृत्त्योपयाते ।
तत्तत्सद्धर्मोद्दिधीर्षैकतान-
सत्प्रेक्षौजःशालिना कर्मवृत्त्यै ॥ १ ॥
श्रीमत्काश्मीराधिराजेन मुख्यै-
र्धर्मोद्युक्तैर्मन्त्रिभिः स्वैर्विवेच्य ।
प्रत्यष्ठापि ज्ञानविज्ञानगर्भ-
ग्रन्थोद्धृत्यै मुख्यकार्यालयो यः ॥ २ ॥
तत्राजीवं निर्विशद्भिर्मुकुन्द-
रामाध्यक्षत्वाश्रितैः सद्भिरेषः ।
पूर्त्या शुद्धचा व्याख्यया संस्कृतः स्तात्
पूर्णो ग्रन्थः श्रेयसे सज्जनानाम् ॥ ३ ॥
श्रीशिवार्पणमस्तु ॥

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोकपादाः	पृष्ठाकाः
अ	
अजरामरतामेति	१४१
अतत्त्वमिन्द्रजालाभ	१२३
अत्र चैकतमे युक्तो	१४१
अत्रैकतमयुक्तिस्थे	१४५
अद्यापि न निवृत्तो मे	२
अनागतायां निद्रायां	६२
अनाहते पात्रकर्णे	२९
अन्तः स्वानुभवानन्दा	९
अप्रबुद्धमतीनां हि	८
अबिन्दुमविसर्गं च	७३
अस्य सर्वस्य विश्वस्य	४६
अस्यामनुचरन् तिष्ठन्	१४७
अहं ममेदमित्यादि	१२०
आ	
आकाशं विमलं पश्यन्	६९
आत्मनो निर्विकारस्य	१२३
आधारेष्वथवाऽशक्त्या	९९
आनन्दे महति प्राप्ते	५८
आमूलात् किरणाभासां	२२
आसने शयने स्थित्वा	६८
इ	
इच्छायामथवा ज्ञाने	८५
इत्युक्त्वानन्दिता देवी	१५७
इत्येतत्कथितं देवि	१५६
इन्द्रजालमयं विश्वं	८८
इन्द्रियद्वारकं सर्वं	१२७
ई	
ईदृशेन क्रमेणैव	२५
उ	
उद्गच्छन्तीं तडिद्रूपां	२३
उपविश्यासने सम्यक्	६७
उभयोर्भावयोर्ज्ञाने	४८
ऊ	
ऊर्ध्वं प्राणो ह्यधो जीवो	१३
ए	
एवमुक्तव्यवस्थायां	१४१
एवमेव जगत्सर्वं	४२
एवमेव दुर्निशायां	७२
एवमेव निमील्यादौ	७३
एवंविधा भैरवस्य	१०
क	
कपालान्तर्मनो न्यस्य	२७
करङ्किण्या क्रोधनया	६३
कररुद्धदृगस्त्रेण	२८
कामक्रोधलोभमोहमद	८८
कालाग्निना कालपदा	४१
किञ्चिज्ज्ञातं द्वैतदायि	७०
किञ्चिज्ज्ञैर्या स्मृता	१०८
किञ्चिदङ्गं विभिद्यादौ	८०
किं वा नवात्मभेदेन	३
कुम्भिता रेचिता वापि	२२
कुहनेन प्रयोगेण	५१
कूपादिके महागर्ते	१००
क्रमद्वादशकं सम्यग्	२३
क्वचिद्वस्तुनि विन्यस्य	१०५
क्षुताद्यन्ते भये शोके	१०४
ग	
गीतादिविषयास्वादा	५९

श्लोकपादाः	पृष्ठाकाः
गूहनीयतमं भद्रे !	७
ग्राह्यग्राहकसंवित्ति	९२
घ	
घटादिभाजने दृष्टि	४७
घटादौ यच्च विज्ञान	९१
च	
चित्ताद्यन्तः कृतिर्नास्ति	८०
चिद्धर्मा सर्वदेहेषु	८७
चलासने स्थितस्याथ	६९
ज	
जग्धिपानकृतोल्लास	५८
जलस्येवोर्मयो वह्ने	९८
जीवन्नपि विमुक्तोऽसौ	१४१
ज्ञानप्रकाशकं सर्व	१२८
झ	
झगितीच्छां समुत्पन्नाम्	८२
त	
तन्त्र्यादिवाद्यशब्देषु	३२
तेजसा सूर्यदीपादेराकाशे	६२
तनूदेशे शून्यतैव	३९
तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं	९
तयायूर्यांशु मूर्धान्तं	२४
तदसारतया देवि !	७
तत्त्वतो न नवात्मासौ	८
द	
दिक्कालकलनोन्मुक्ता	९
देव देव त्रिशूलाङ्क !	१२
देहान्तरे त्वग्विभागं	४०
ध	
धामान्तः क्षोभसम्भूत	२९
ध्यानं निश्चला बुद्धि	१४३
ध्यानार्थं भ्रान्तबुद्धीनां	७
न	
न चित्तं निक्षिपेद् दुःखे	८८
न द्वेषं भावयेत् क्वापि	११३
न मे बन्धो न मोक्षो मे	१२५
न वह्नेर्दाहिका शक्ति	११
न व्रजेन्न विशेच्छक्ति	२१
न हि वर्णविभेदेन	५
नादबिन्दुमयं वापि	३
नादबिन्दुमयो वापि	८
निजदेहे सर्वदिक्कं	३७
नित्ये निराश्रये शून्ये	११६
नित्यो विभुर्निराधारो	१२२
निराधारं मनः कृत्वा	९६
निर्निमित्तं भवेज्ज्ञानं	८६
निर्वृक्षगिरिभित्त्यादि	४८
निस्तरङ्गोपदेशानां	१४०
प	
परापरायाः सकलम्	५
परिशिष्ये खले क्रूरे	१५६
पिण्डमन्त्रस्य सर्वस्य	३३
पीनां च दुर्बलां शक्ति	४२
पूजानाम न पुष्पाद्यैर्या	१४३
पृष्ठशून्यं मूलशून्यं	३८
पृष्ठशून्यं मूलशून्यं	३८
प्रणवादिसमुच्चारात्	३०
प्रसादं कुरु मे नाथ	५
प्राणा अपि प्रदातव्या	१५७
भ	
भक्तानां गुरुवर्गस्य	१५६
भक्त्युद्रेकाद्विरक्तस्य	१०५
भया सर्वं रचयति	११७
भावे न्यक्ते निरुद्धा यत्	४९
भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा शरीरेण	९९
भुवनाध्वादिरूपेण	४३
भूयो भूयः परे भावे	१४२

श्लोकपादाः	पृष्ठाङ्काः
म	
मध्यजिह्वे स्फारितास्ये	६७
मध्यनाडी मध्यसंस्था	२८
मरुतोऽन्तर्बहिर्वापि	१७
महाशून्यालये वह्नौ	१४५
मानसं चेतना शक्ति	१३०
माया विमोहिनी नाम	८०
मृद्वासने स्फिजैकेन	६७
य	
यत्र यत्र मनस्तुष्टि	६०
यत्र यत्र मनो याति	११६
यत्र यत्र मनो याति	१००
यत्र यत्राक्षमार्गेण	१०३
यथा तथा यत्र तत्र	४१
यथालोकेन दीपस्य	१२
यथा सम्यगहं वेद्मि	१२
यदवेद्यं यदग्राह्यं	११४
यदा ममेच्छा नोत्पन्ना	८५
यस्य कस्यापि वर्णस्य	३२
यस्य कस्येन्द्रियस्यापि	७३
यावस्था भरिताकारा	१२
यागोऽत्र परमेशानि	१४६
यैरेव पूज्यते द्रव्यै	१४७
र	
रुद्रयामलतन्त्रस्य	१५७
रुद्रशक्तिसमावेश	१४६
ल	
लीनं मूर्ध्नि वियत् सर्वं	६९
लेहनामन्थनाकोटैः	५७
व	
वर्णस्य सविसर्गस्य	७७
वस्तुषु स्मर्यमाणेषु	१०४
वस्त्वन्तरे वेद्यमाने	१०५
वह्नेर्विषस्य मध्ये तु	५५
वायुद्वयस्य सङ्घट्टात्	५०
विश्वमेतन्महादेवि	४७
विहाय निजदेहस्थां	८९
व्योमाकारं स्वमात्मानं	७९
व्रजेत्प्राणो विशेज्जीव	१४७
श	
शक्तिसङ्गमसङ्क्षुब्ध	५६
शक्तिशक्तिमतोर्यद्वत्	१०
शक्त्यवस्था प्रविष्टस्य	११
शिखिपक्षैश्चित्ररूपै	२५
श्रुतं देव मया सर्वं	२
ष	
षट् शतानि दिवा रात्रौ	१४७
स	
सङ्कोचं कर्णयोः कृत्वा	९९
समः शत्रौ च मित्रे च	११२
सम्प्रदायमिमं देवि	९९
सर्वज्ञः सर्वकर्ता च	९७
सर्वतः स्वशरीरस्य	४१
सर्वत्र भैरवो भावः	१११
सर्वमेतत्परित्यज्य	१५६
सर्वस्रोतोनिबन्धेन	५२
सर्वं जगत्स्वदेहं वा	५१
सर्वं देहगतं द्रव्यं	४०
सर्वं देहं चिन्मयं हि	५०
स्थूलरूपस्य भावस्य	६७
स्वतन्त्रानन्दचिन्मात्र	१४७
स्वदेहे जगतो वापि	४२
स्ववदन्यशरीरेऽपि	९३
ह	
हूयते कस्य वा होमो	१४२
हृद्याकाशे निलीनाक्षः	४०

परिशिष्ट (क)

अनुक्रमणिका

शब्द पृष्ठाङ्क

अ

अकार ४, ९, १३, ३४-३६, ४४-४६, ७३-७६, ११७, ११९, १४९, १५३
अकुल १४, ६४, ७८, ७९
अग्नि ५६
अग्निसोम १५२
अक्षर ५, ७७
अजपा (मन्त्र) १४, ३४, ३६, १४९, १५३,
अजिन ६८
अणु ११-१२, ३१
अतिशून्य ३२
अद्वय ३, ८, ७४, ७८, १०१
अध्वपंचक ३, ४३
अध्वषट्क ४४-४६, ४८
अध्येय भाक् ४०
अनच्क ३, ५५-५६, ६८, ९९
अनन्त ४३
अनाश्रित (शक्ति) १२, ९९
अनाश्रित (शिव) ६४-६५
अनाहतनाद २९-३०, ३४, ३६, १४२
अनिकेत ६५
अनुग्रह १-२
अनुत्तर (शून्य) ५, २५, ७४, १२४, १५१
अनुपाय १४, १११-११२
अनुभव १०४-१०५

शब्द पृष्ठाङ्क

अनुस्वार ४६
अन्तःकुम्भक १८
अन्तर्मुख ७४, ८३, ८७, १०९-११०
अन्तर्लीन ७४
अन्त्येष्टि १३१, १३८, १३९
अन्तर्वृत्ति ७३
अपरा ५, १३, १५३
अपान १३, १७-१८, २१-२२, ४१, ५३, १४८-१५२
अपानगतिस्थान १८, २०-२१
अभेद ४५-४६, ९७-९८
अप्रबुद्ध ८, ८५, १०४, १२०
अभेदात्मक ४३
अमृतेश्वर ४६
अम्बिका ६५-६६
अरिषड्वर्ग ८८
अर्थ ४३
अर्धचन्द्र ३१, ३३-३७
अर्धमात्रा ३०, ३१, ३६
अर्धेन्दु ३३, ३५
अविद्या ७०-७२, ८३-८४
अविकल्प १४, ११६
अशाक्तस्पन्द (अकार) १३
अशुद्ध (प्रमाता) ५४
अशुद्धाध्व १४
अशुचि १०८
अहं ४, १३-१४, ९०, १५२
अहंकार ७४, ७६, १२७

शब्द पृष्ठाङ्क
अहन्ता ७४, ९०, १२९, १५२, १५५
अहंभाव ८९-९१
आ
आकोट ५७
आगमशास्त्र, २, ५, ११
आणव (मल) १२, १३५
आणव (समावेश) १४
आणवोपाय ४, १४, ४२, ७०, १११-११२
आतिवाहिक ७०, ७२
आत्मा ३९
आत्मतत्त्व १३०
आत्मसंस्थ १२७
आधार (षोडश) ५२-५३, ५६, ६४
आनन्द (आकार) ४, ४६, ११७, ११९
आन्तर स्थान (हृदय) १७, ५०, ५१
आपूरण १३, ५२
आवेशन १४७
आश्यान ५१, ६४, १०३
आश्वास १८
इ
इच्छा (इकार) ४, ४६
इच्छा (शक्ति) ४, १३, ८६, ११३
इदन्ता १३, १४९, १५२
इन्द्रजाल ८८, १२४, १२६
ई
ईशन ४६, ११७, ११९
ईश्वर ३५, ७०-७२, ८९, ९०
उ
उच्चार १२
उत्क्रान्ति १३०, १३२
उद्घात ५३-५४
उद्देश ९
उद्यम ८५
शब्द पृष्ठाङ्क
उन्मीलित २१
उन्मेष ४, १३, १८, ४०, ४४, ४६ ५५-५६, ६७-६९, ८३-८४
उपादान (ग्रहण) १४८
उपादेय ३४, ३७, १४८
उपाय १२, २१, १११-११२
उपेय ११५
उपासना ८
उल्लास ५८
ऊ
ऊर्ध्वपद १३-१४, २४
ऊर्ध्वकला ४
ऊर्मि ४६
ए
एषणा ८३-८४
ऐ
ऐन्द्रजालिक ५१
ॐकार ३०-३६
क
कञ्चुक ८२-८३
कण्ठ २४, २६
कलना ५
कन्द २३-२५, ५२-५३
कपाल १२, २७
कपालरन्ध्र २७
कमलनाल २८
करंकिणी ६६
करण १२, २१, २८, ६४, ६६
करांकिणी ६३-६४, ११८
कला ४, ४३, ४६, ६५ ८२-८३ १२८
कलाशोधनदीक्षा ४५
कलाध्वा ४३
कामानन्द ५५-५६

शब्द पृष्ठाङ्क

कारणशरीर ७०, ९४
कार्म (मल) १३५
काल ५३-५४, ८२
कालपद ४१-४२
कालपरीक्षा ५३-५४
कालवञ्चक ४६
कालाग्नि ४१-४२
कुटिलाकृति १४७-१४८, १५१-१५२
कुण्डलिनी ८, ३४, ३७, ५५-५६, ७५ १४८, १५२
कुम्भक ४, १७-१८, २०, २२, ५२-५५, ७४-७५, १५०, १५४
कुम्भिता २२
कुलदर्शन २
कुलपंचक ६४, ६६
कुहनप्रयोग ५१-५२
कूटस्थ ७१-७२
कैवल्य ९९
कौलिकीशक्ति ७८-७९
कोशेय ६८
क्रमदर्शन ६५
क्रमद्वादशक २३, २५-२६
क्रिया १, ५, ७, १२-१३, ७६, ८३, ८५-८७, ९४, ११३, ११७, ११९, १२३-१२५, १४१
क्रोधना ६३-६४
क्षण २१, २३
क्षपा १४७-१४९, १५१, १५४
क्षेत्र १४६, १४८
क्षोभ ६०, ६४, ६६, ७९, ९९

ख

खेचरी ६३, ६४-६६, ६८

ग

गगनकुसुम ११४, ११५
गन्ध १४५
गन्धर्वनगर ७, ३२, ३९, ४७
गान ५, ९
गीत ५९
गुदाधार २५
गुरुकृपा २५
गुह्य स्थान ५५
ग्रन्थि २८
ग्राम ५९
ग्राहक १३, ८८, ९२-९३
ग्राह्य १३, ८८, ९२-९३

च

चक्र ३, ८, २३-२४, ३६, ६६, १५०, १५२
चेतना ८०, १३०, १३५-१३६, १४५-१४६
चक्रालात ६८
चर्या १०८
चलासन ६९
चित् २८, ३८, ७४, ८७, ९४, १०८, १०९
चिति ७६, ७९, ८७, ९३
चित्त ७०, ८०, ८३-८४, ८८, १०६-१०८
चिद्घन १२५
चिद्रस ५१
चिद्विलास १, ४०, १२६-१२७
चिन्मात्र ३१, ४०
चिदानन्द १०४
चैत्य १०३
चैतन्य १२, ७३, ८७, १०६-१०७, १२२

ज

जरिध ५८-५९

शब्द	पृष्ठाङ्क
जन्म २५	
जन्माग्र २४, ५२	
जप १४, २४, १०८, १४१, १४२, १४३	
जाग्रत् १३, १८, ६२, ७०-७२, ८६	
जीव १३-१४, ७१-७२, १३०, १३२, १४७, १४८	
जीवात्मा १३५	
जीवन्मुक्त २७, १३०-१३२, १३८, १४१	
जीवन्मुक्ति १३०-१३२, १३९-१४०	
जीवभाव ९७	
ज्ञाता ४९, ८६, १२९	
ज्ञान १, ५, ११-१३, ३८, ४९, ७६-७७, ८५-८७, ९४-९६, ११३, १२३-१२८, १२९, १४१	
ज्ञानदीप १४५	
ज्ञानसिद्ध ६४-६६	
ज्ञेय ९, १३, ४९, १२४-१२५, १२८, १२९	
ज्येष्ठा ६४-६६	
ज्योतिर्बिन्दु २९	

त

तत्ता १४९	
तत्त्व ४३-४४, ४६, ११४,	
तत्त्वत्रय ४	
तत्त्वाध्वा ४३	
तन्मात्र २५	
तन्त्र २, ६	
तम ७०	
तर्पक १०	
तृप्त १०	
तर्पण १४६-१४७	
तालु १८, २४, २६	
तिमिर ६९-७२	
तीर्थाटन १३२	
तीव्र ५३, ५४	
तुटि १५४	
तुरीय १३-१४, ३१, ७०-७२, ९४	
तूलपटी ६८	
तृप्ति १४५	
तैजस ७०-७२	
त्रिक २-३	
त्रिशिरतन्त्र ४	
त्रिपुटी ३९	
त्रिशिरो भैरव ३-४	
त्रिशूलाङ्क १२	
त्रिशक्ति ३	

द

दर्पणनगर ४४	
दाह ४२	
दिव्यौघ ६४, ६६, ६९, १५६	
दीक्षा ४४-४५, १५०-१५१, १५४	
दीप १२	
दीर्घ-सूक्ष्म ५२-५४	
दुःख ११४-११५	
दुर्निशा ७२	
देश ५३-५४	
देशपरीक्षा ५३-५४	
देह ५, १२, १०९	
द्वादशान्त ५, १३-१४, १७-१८, २१-२५, २९, ४१-४३, ५२-५३, १४९	
द्वाररोधन १०८	
द्विषट्कान्त २२	

शब्द	पृष्ठाङ्क
ध	
धनंजय	१३१
धाम	२१, २९, ६५
धारणा	२७, ३०, ६३
धर्म	१०९, १११, १२६,
ध्याता	४९
ध्यान	७, १२, २२, २४, २७, ३०, ४९, ६३, १४२-१४३
ध्येय	४, ५, २२, ४९
न	
नर	२, ४, १४
नवात्म (मन्त्रराज)	४, ८, ३३, ४३
नाद	३, ५, ८, १३, २९, ३३-३४, ३५, ३७, ७४-७६,
नाड़ीचक्र	३२
नादभट्टारक	३०
नादान्त	४, ५, ३३, ३४-३७, ४३, ४५
नाभि	२४-२६, ३६, ४१, ५३
नामकीर्तन	१२१, १२३
नियति	८२-८३
नित्य	१२२
निमीलन (भावना)	७३
निमीलन (समाधि)	२१
निमेष	१, १८, ४०-४१, ४४, ४६, ५३, ६७, ६९
निरंजन	३४
निरालम्बन	४८, ११६
निराकृति	१४८
निरोधिका	३-४, ३५, ३७
निरोधिनी	३३-३४, ३६
निर्विकल्प	२०, २१, २५, ३७-३९, ५०-५५, ६७, ६९, ९७, ९९-१०३, १०६, ११४-११५, १२०, १२३-१२४, १३०, १४३-१४४, १५१, १५५
निर्विकल्प (समाधि)	१०२-१०३
निर्विभाग	७४
निर्विकल्पमति	१५, १०८
निर्विकल्पावस्था	८३, १३०
निर्वृति	७८
निष्कल	५, ६४, १३०, १३३
निष्कला (देवी)	६४
निस्तरंग	११६, १३२, १४०
नैवेद्य	१४५
न्यक्त	४९
प	
पंचकृत्य	१, ४
पदाध्वा	४६
पति	१४६
पद्मसंपुट	४०-४१
पर	५, ४३-४५, ६४, ६६
पर (तत्त्व)	५, २६, ४१
पर (उपाय)	२४
पर पात्र	२५-२६
परकायप्रवेश	९३, ९५
परपद	४३-४५, ७८, १५१
परब्रह्म	२९, ३१, ३३, ४७, ५१, ५९, ७७-७९
परभैरव	१, ९, ३०, ४४, ५१, ५९, ७७, ७९, ११६, १५४
परमव्याप्ति	४०
परमव्योम	३२-३३
परमशिव	३१, ३४-३७, ७७
परमोदय	५०
परा (शक्ति)	४-५, ९-१४, ४२, ६२-६५, ७९, १४७-१४९, १५१-१५३, १५५

शब्द पृष्ठाङ्क
परानन्द ६-७, ५१, ५३, ५५, ६०
परापरा ५, १३, १४७, १४८-१४९, १५१, १५६
परामर्श ४
परा सेवित २८
परात्रिंशिका ५
परमितप्रमाता १३०, १३५
परिमिताहन्ता ८९, ९१, १२०, १२१, १३२
पशु (प्रमाता) १३०, १३३, १४६,
पशुदर्शन १३०-१३१
पश्यन्ती १-२, ७४, ७६, १५१, १५५
पलालपुरुष १२६
पाठ १४२
पात ६४-६६, १५०
पान ५६, ५९
पारा ८३, १४६, १४८
पिण्ड ५२, १३०, १३५, १४८-१४९, १५२
पिण्डदान १३२, १४०
पिण्डमन्त्र ३०-३१, ३३, ३५
पिपीलस्पर्श ५२-५३
पीन ४२-४३
पुत्रैषणा ८३
पुर ४१
पुरीषकलश १०८
पूजक १०, १४२, १४७
पूजा (पूजन) १०, १४२-१४७
पूजोपकरण १४७
पूज्य १०, १४२, १४५
पूरक १७-१८, २०, २२, ५२, ५४, ५६
पूरिता २२
पूर्णाहन्ता ९, ७४, ७६, १२०, १४८-१५०, १५२
प्रकाश ४-५, १८, २७, २८, ४१, ४४-४६, ५०-५१, ७०-७२, ७४, ८१, ८९, १०२-१०३, १२८-१२९
प्रकाशक १२८-१२९
प्रकाशबिन्दु २८
प्रकाश्य १२८-१२९
प्रकृति ४, ७०, १२८
प्रज्ञापारमिता १५२, १५५
प्रणव ३०-३६, ५३-५४
प्रतिबिम्ब १२५-१२६
प्रत्यभिज्ञा ८, १२, १४, ९७-१००, १०७
प्रथा ८१
प्रबुद्ध २८, १२०
प्रभु ८, १०३-१०४
प्रमाता १३, १७, १८, ३९, ४०-४१, ४४, ४७, ८१, ८९, १३०, १३२, १३९, १४८-१४९, १५१, १५३
प्रमेय १३, ३०, ३९-४१, ७४, ९४, १३९, १४८-१५१, १५३
प्रमाण १३, ३९, ४१, १४८, १५३, १५५
प्रलयाकल ३६, १११, १३५
प्रश्लिष्ट ४९
प्रश्लेष ४९
प्रश्वास १८
प्राज्ञ ७०, ७२
प्राण २, १२, १४, १७-१८, २२, ४१, ५३, १४८, १४९, १५१-१५६

शब्द पृष्ठाङ्क
प्राणशक्ति २८, ५२-५३, ५६, ७५, १३०, १३५, १४८, १४९, १५२
प्राणापान १८-२०, ५०, ५३, ६८, १५०, १५५
प्राणायाम ५२
प्रारब्ध ६१-६२

ब

बन्ध १२१, १२५-१२६
बहिर्मुख ११०
बालविभीषिका ८
बाह्यकुम्भक १८, २१
बाह्यस्थान (द्वादशान्त) ५०-५१
बिन्दु ४, ५, ८, २८-३३, ७३-७९, १५१
बैखरी १, ९
बीजाक्षर १५१
बुद्धि १२, १२२, १२५-१२७
बोधगमन २८
बोधभैरव ४, १२
ब्रह्मोपासक १३०
ब्रह्म ७१-७२, ७५, १२०
ब्रह्मरन्ध्र २३-२६, २८, ३४, ३६, ६९-७०
ब्रह्मभाव ४, १२, ९६-९७, १०१, ११३
ब्रह्मसत्ता १०४
ब्राह्मी ७३, ७५, ७७-७८

भ

भक्ति १०५
भरण १३
भरिताकारा ९, १२-१४
भरितावस्था ५, १३, ५८, ५९, १०३
भाव ४, ६५, १५०
भीत १२५-१२६
भुवनाध्वा ४३-४६
भूचरी ६५-६६
भङ्गि ६०
भेदप्रथा १०६
भेदात्मक ४३, ४६, ९८
भेदाभेदात्मक ४३, ४५, ४६, ९७, ९८
भैरव (भट्टारक) ३, ४, ७, ९, १०, १२, १७, १८ २१-२३, ४२, ६९-७३, ८०, ९६-९८, १०१, १११-११२, ११४, ११७-१२०, १३०-१३१, १३५, १३७, १४१
भैरवी ९, १३-१४, १७, १८, २१, ६३, ६४, ९९
भ्रूक्षेप २५
भ्रूमेद २५, २८, ५५
भ्रूचक्र १२०
भ्रूमध्य २४, २५, २६, ३६, ६८, ७५, १००

म

मखमल्ल ६८
मङ्गला ६५, ६६
मण्डूकप्लुतिन्याय २६
मत्ता १४९
मध्य ४८, ५३-५४, ८८
मध्यदशा २२, ४९
मध्यधाम १३, २१, ४९
मध्यनाड़ी २१, २८, ५५-५६
मध्यमाजल्पा ९
मध्यविकास २१

शब्द पृष्ठाङ्क

मन ७४-७५, ७८-७९, १०३, १०८ ११६, १२२, १२७
मन्त्र ४-५, ४३-४६, ६४, ७६, १२४, १५०
मन्त्र (नादात्मक) ४३, ४५
मन्त्रराज ४
मन्त्रशक्ति ७४, ७६
मन्त्रकला ४
मन्त्रसिद्ध ६४-६६
मन्त्राध्वा ४६
मनन ४
मन्द्र ५३-५४
मयूराण्डरसन्याय ६४, ६६
मलिनसत्त्व ७०, ७२
महाकौलार्णव ६४
महानन्द ५१, ५८, ५९, १५१, १५६
महाप्रकाश ४८
महामाया ५, ७, १४६
महाविदेहा ९३, ९५
महाशून्य १४५-१४६
महासत्ता ११४-११५
महासामान्य ११४-११५
महोदय २३, ४४, ४६
माता ५, ८
मातृका ४, १३, ७४, ७७, ७८
मातृमोदक ८
मात्रा ३४, ३६, ५४, ७८
मान ५
मानस १३०, १३५-१३६
माया ५, ७, १४, ३०, ३८, ७०-७२, ८१-८३, ८६, १२५, १२६
मायाध्वा १४
मायीय (मल) ३८, १३५

शब्द पृष्ठाङ्क

मुक्त ४२-४३, ६१-६२, १२०-१२१, १२६
मुख ११-१२
मुद्रा ६४, ६८
मुष्टित्रय २३
मूर्च्छना ३३
मूर्ध ज्योति २७
मूल २४, ५२, ५३
मूलाधार २२, ५३, ५६, ६४
मूर्धान्त २४
मेय ५
मेलापक १३०, १४१
मेलापसिद्ध ६४-६६
मोक्ष १८, ७८, १२१-१२२, १२५-१२६, १४५, १५६

य

यज्ञ १४१-१४२, १४५
यत्रकामावसायिता ९३
याग १४२-१४३
यामल २
योग १०९-१११
योगनिद्रा ७१-७२
योगिनी ६५-६६, १४१
योगी ४, ८७, ८८, १०३, १०६-१११

र

रस ५८-५९
राग ८२-८३
रुद्रयामल २-३
रूद्र १, ३, ३५, ३७
रूद्रशक्तिसमावेश १४६
रेचक १७-१८, २०, २२, ५२, ५४-५५
रौद्री ६५-६६

शब्द पृष्ठाङ्क

ल

ललाट २४-२६, ३३
लिंग ६९, १०६-१०७, १०९, १५०
लिंगशरीर ७०, ७२, ९४
लेलिहाना ६३-६४, ६६
लेहन ५७
लोकैषणा ८३

व

वर्ण ५, १२-१४, ३०-३१, ४६, ७७ १२४
वर्णमाला ७८
वर्णाध्वा ४३, ४६
वशिता ९३
वाच्याध्वा ४६
वर्त्ति ५५
वाचक ४, ३१, ४३-४४, ४६, ६५
वाच्य ४, ४३-४४, ४६, ६५
वाच्यवाचकभाव ४, १२, १३, ४३-४५
वामा (शक्ति) २१, ६५-६६
वामेश्वरी ६४-६६
वासना १०६
विकल्प ७, २०, २९, ३७-३८, ८०, ८६
विकल्पक्षय २१, ५३
विकासपद ५५-५६
विज्ञान ८६, ९१, १११
विज्ञानभैरव २, ५, ७५, ७७, १५५
वित्तैषणा ८३
विदेहकैवल्य ९३-९४
विदेहमुक्ति १३०, १३२, १४०
विद्या ८२-८३
विभु १२२-१२३
विमर्श ४-५, ७, १३-१४, १८, २६-२८, ३७, ४४-४६, ६६, १२०, १२९
विवेकख्याति ९३
विवेकज्ञान ८०
विशुद्धसत्त्व ७०, ७२
विशुद्धिचक्र ५५
विश्व ७०-७२
विश्वात्मक ४३, ९७
विश्वाहन्ता ८९-९०
विश्वोत्तीर्ण ८९
विष ५५-५६
विसर्ग १३, ७३-७९
विसर्जनीय ४६
विष्णु ३५, ३७
वीर १४१, १५६
वृन्दचक्र ६४-६५
वेदक १२८-१२९
वेद्य ४, ९६-९७, १२८-१२९
वैश्वानर ७०-७१
व्यापिनी ४-५, २४-२६, ३३-३४, ३६, ८१
व्याप्यव्यापकभाव ४३, ४५, ९७
व्योमवामेश्वरी ६४, ६६
व्योमाकार ३४, ३६, ७९
व्योमेशी ६४, ६६

श

शक्रजाल ७
शक्ति (प्रणवकला) २४-२५, ३४, ३६-३७, ४५, ७६, ७८
शक्ति २-५, ८-१४, १८, २६-२७, ३७, ४४, ४६, ५८, ७४-७५, ७७, ८९-९०, १२४-१२५
शक्तित्रय २-३, ८
शक्तिमान १०

शब्द पृष्ठाङ्क
शक्तिसंगम ५६
शक्त्यावेश ५६
शबल १५१
शब्द ४, ४३
शब्दब्रह्म ४, २९-३०, ४३
शब्दराशि ३, ८
शम्भुदर्शन १०८-१०९, १११
शाक्तक्षोभ ५७
शाक्तभूमिका ९७
शाक्तसिद्ध ६४, ६६
शाक्तोपाय १४, ८६
शाङ्करी शक्ति १०५
शान्त ४, २२, १२०-१२१
शाम्भवभूमिका ९७
शाम्भवसमावेश १४
शाम्भवसिद्ध ६४-६६
शाम्भवी मुद्रा ५९
शाम्भवोपाय १२, ४९, ६२, १०४
शिखा ३४, ३६
शिखान्त ३६
शिव २, ३, ११-१४, १८, २३, २७, ३७, ४४, ४६, ५२, ६६, ७४
शिव (प्रमाता) २८, ४६, ६१-६२, ६७, ७४-७७, ९७, १०१, १०७, १११, ११४-११५, ११९, १२४
शिवा ७५
शिवबिन्दु ७८-७९
शीतलपट्ट ६८
शुद्धविकल्प १२, १४
शुद्ध विद्या ३०, १५६
शुद्धि १०६-१११
शून्य १२, २५, २८, ३०-३५, ३८-४०, ४३, ४८, ९२, ९६, १०५, ११४-११६, १२२-१२४
शून्यकल्प ५०
शून्यता ३०, ३४, ३९, ४५, १०६, १०८, ११४-११५
शून्यपंचक २५
शून्यभूमि १३०, १५१-१५२, १५५
शून्या ३४, ३६
शून्यातिशून्य १३, ३२, ४७, १४६
शून्यभावना १०५
शून्यधाम ११४-११५
शून्यावस्था ७३
शैवी २, ११, १४
शौच १०९
श्वभ्र ११७
श्वान १५१
श्वास-प्रश्वास ५२, ६८

ष

षट्चक्र ५, ३४, ४६
षडध्व ४, ४४
षडध्वशोधन ४४, ४६
षण्ढस्वर ४६
षष्ठ्वक्त्र ५५-५६
षोडशाधार ३४, ३६, ५५

स

संयम १०५
संवित् ४१, ६४-६६, ७४, ७६, ८०, ९३-९८, १०१-१०२, १०६, ११७, ११९, १२४-१२५, १४९-१५२
संवित्ति ६२, ८९, ९३-९४
संविद्गमन १४८
संविद्देवी (संविद्देवी) १, २, ५
संवेदन २६, ११६
संवेद्य २६

शब्द पृष्ठाङ्क

संहारिणी ६५-६६
सकल (जीव) ६४, ६६, १११, १३०
सकल (ब्रह्म) ५, ७, ६४, ६६, १३०
सकार १३-१४, १४७-१५४
संकल्प १०५
संख्या ५३-५४
संख्यापरीक्षा ५३-५४
संघट्ट ११९
सदाशिव १, ६, ३४, ३७, ८७, ९०, ९२-९३
सन्ध्यक्षर ११७, ११९
समता ५, ५०
समना ४, ३३, ३६-३७
समाधि २१, २७, ३०, ४९, ५०, ६०-६२, ९४-९५, १०१, १०७-१०८
समाधि (सप्तविध) १०१-१०३
समादान १४
समावेश १४, २५, २९, ९७, १०४
सर्वकर्तृता १०, ९७
सर्वज्ञता १०, ७१-७२, ९७
सर्वस्रोत ५२-५३
सर्वात्मता १०
सर्वात्मकता ९२, ९४
सर्वोत्तीर्ण २६
सविकल्प १०१-१०३
सहस्रार ५५
सात्म्य ६४, ६६
सालम्बन ४९, ८५
सावधानता ९२
सिद्धौघ ७४, १०९
स्रुच १४६
सुप्रबुद्ध १०४, १२०-१२१
सुषुप्ति ७०-७२, ९३-९६
सुषुम्णा १३, २७-२८

शब्द पृष्ठाङ्क

सूक्ष्म ४२-४६, ५२-५३
सूक्ष्म (उपाय) २४
सूक्ष्म (ध्यान) २४
सूक्ष्मशरीर ७१, ९४-९५
सूर्य (दिन) १४८-१४९, १५१-१५२
सृष्टिग्रन्थि ५६
सोम १३, १४८-१४९, १५१-१५३, १५५
सोऽहं १५, २२, ३४, ३६, ६८, ९७, १०७
स्थूल ४३-४५
स्थूल (उपाय) २४
स्थूल (ध्यान) २४
स्थूलशरीर ७१-७२, ९३-९६
स्नान १०८-१०९, १४६-१४७
स्पन्द १३, ८४
स्पन्दतत्त्व १३, २१, ८५
स्पन्दन ८५
स्फुरणा ११४-११६
स्फुरता १२-१३
स्मरानन्द ५५
स्मृति १०४
स्वर्ग ११७, ११९, १२६
स्वतन्त्र
स्वप्न १८, ७०-७२, ९३-९६, १२४, १२६
स्वच्छन्द ६
स्वप्रकाश ९
स्वर ३१, ३३, ५९, ७४, ७६
स्वातन्त्र्य (शक्ति) ६, १२, १४, ४२-४५, ९७, ११४, ११५, १२१

ह

हंस (गायत्री) १४, ६८, ७९, १४२, १४३, १४७-१४९, १५१, १५६

शब्द	पृष्ठाङ्क
हकार	१४, ४४-४५, १४०, १४७-१४९, १५१-१५६
हान (त्याग)	१४, २५, १४८
हिम	१४६
हिरण्यगर्भ	७०-७२
हूंकार	३०
हृदय	१७-१८, २०-२१, २४-२६, ३६, ४३, ५३, ७०, ७५, ७७, ८९
हृत्कमल	१८
हृदयग्रन्थि	११८-११९
हेय	३४, ३७
होच्चार	६७-६८
होम	१०८
ह्रींकार	३०

परिशिष्ट (ख)

संस्कृत टीका एवं हिन्दी व्याख्या में उद्धृत श्लोकों की अनुक्रमणिका

श्लोकांश	पृष्ठाङ्क
अ	
अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव	१४
अखण्डैकरसं वस्तु	१०१
अग्निसंज्ञस्ततश्चोर्ध्वं	५६
अज्झलाद्याश्च ये वर्णाः	७४
अतः सततमुद्युक्तः	८५
अत्र नाथः समाचारं	१०७
अत्र प्रकाशमानं यत्	७८
अदृष्टविग्रहाच्छान्तात्	२
अदृष्टक्रियया पुत्रशिष्यः	१३२
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम्	८०
अतिगूढहृदयगन्धप्ररूढ	११२
अर्थोपाधिवशाद्याति	१२५
अध्वषट्कादि सन्त्यज्य	४८
अध ऊर्ध्वं दिशः	१२३
अनुत्तरस्वभावत्वादाद् यस्यैव	७८
अनुत्तरं परं धाम	७८
अनुत्तरस्याकारस्य	७८
अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः	२१
अपरोक्षे भवत्तत्त्वे	१११
अप्रबुद्धधियस्त्वेते	८५
अप्रमाणमस्वरं ध्यात्वा	७४, १५१
अपानेऽस्तङ्गते प्राणे	१९
अपानेऽस्तङ्गते प्राणो	१७
अभ्यासेनैव कौन्तेय	११६
असङ्गः सच्चिदानन्दः	१०१
अस्तङ्गतवति प्राणे	१९
अस्ति मे पिण्डदोऽद्याहं	१३२
अस्नातस्तु पुमान्नार्हो	१०८
अहङ्कारमयी भूमिर्बुद्धिः	७४
अहङ्कारस्मृतो मन्त्रः	७४
अहौ वा हारे वा	११३
अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितः	१३४
अज्ञानतिमिरयोगादेकमपि	१३९
आ	
आचार्योपासनं शौचं	१०९
आत्मन्येव नमामि	११७
आत्मात्वं गिरजा मतिः	१४४
आत्मनो न कुतश्चन	९१
आत्मस्थाने निराधारा	७५
आद्यो भेदावभासो यो	८१
आदौ यस्य शिरो रौद्री	६५
आश्चर्यमप्यनुभवामि करस्थ	३९
इ	
इज्याचारदमाहिंसा	१०९
इत्थं तत्त्वसमूहे	९१
इत्थं सकलविकल्पान्	१४१
इति युक्तिभिरपि	१४१
इदमित्थस्य विच्छिन्नविमर्शस्य	२२
इति वा यस्य संवित्तिः	२७
इयं सा परमा मुद्रा	६४
उ	
उच्चारकरणध्यानवर्ण	१४
उच्चाररहितं वस्तु	१४

श्लोकांश	पृष्ठाङ्क
उतैनं गोपा अदृशन्	११२
उत्क्रम्य विश्वतोऽङ्गात्	९४
उत्क्रान्तिर्विद्यते यस्य	१३२
उदनसावसुतृपा उदुद्वलौ	१५०
उपायजालं न शिवं प्रकाशयेत्	१११
उपेयमितरन्नास्ति	११४
ऊ	
ऊर्ध्वशून्यमधःशून्यं	३९
ए	
एककोऽहमिति संसृतौ जनः	८९
एकचिन्ताप्रसक्तस्य	८४
एतत्कराङ्कमाख्यातं	६४
एतत्तदन्धकारं यद् भावेषु	१३९
एतत्तदात्मनो रूतं	१९
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय	६०
एतौ वै यमश्वौ यमस्य	१५०
एवं परेच्छा शक्त्यंश	१५
एवं सर्वपदार्थानाम्	७६
एष प्रमाता मायान्धः	१३३
ओ	
ओमिति स्फुरदुरस्यनाहतं	३३
क	
कः सद्भावविशेषः	११४
कर्तरि ज्ञातरि	१३८
कपालकुह्वरे जिह्वा	६८
कर्मकस्तु शरीराणि	१३५
कशब्देन पराशक्तिः	२७
करंकिणी क्रोधिनी च	६४
कामाद्याश्चित्तसादृश्यात्	१०१
किं त्वेतदत्र देवेशि	१०७
कुण्डलाख्या महाशक्तिः	३४
क्षेत्रादिसम्प्रवेशश्च	१०७
ग	
गच्छतस्तिष्ठतो वापि	१८
गच्छति गच्छति जल इव	१२६
गुरुशिष्यपदे स्थित्वा	६
च	
चित्तत्वं मायया हित्वा	३८
ज	
जाता तदैव तद्वत्कुर्वत्यत्र	१२५
जडेन यः समावेशः	१५
जायया सम्परिष्वक्तो	५७
जिज्ञासारहितं शुद्धं	१३१
जिज्ञासारहितं स्थानं	१३७
ज्ञानं खकौलार्णवमूर्मिरूपं	६५
ज्ञेयं द्विधा च चिन्मात्रं	१५
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र	१२५
त	
तच्च गम्यं यथैव स्यात्	१०७
तत्त्वेश्वरास्ततो जातास्तत्रैव	११४
तद्वद् धर्माधर्मं १२६,	१३९
ततोऽस्वरोऽर्कसोमाग्निकला	१५१
तद्ब्रह्म परं शुद्धम्	१३४
तदा ज्ञानाधिकारोऽस्ति	१०८
तत्र च परमात्मभैरव	१४४
तत्वान्तर्भाविनः सर्वे	४३
तथा हि सिद्धैरादिष्टं	७४
तदप्यन्तः कृताशेष	६९
तदसारतरं चन्द्र	१२४
तदा तस्मिन्महाव्योम्नि	२२
तस्माच्छून्यं जगद्ध्यायेत्	१२४
तस्मान्न बध्यतेऽद्घान	१३६
तिमिरादपि तिमिरमिदम्	१३९
तृतीयार्थे तसि व्याख्या	१४
तेनाविकल्पा संवित्तिः	१५
तेन शब्दार्थचिन्तासु	२७
त्वमेवात्मेश सर्वस्य	१२०
त्रयीं तिस्रो वृत्तीः	३१

श्लोकांश	पृष्ठाङ्क
त्रयीसप्तचतुर्युग्ममये	४६
त्रिविधं नरकस्येदं	६०
द	
दर्शनान्तरदृष्टानि	११४
देवः स्वतन्त्रश्चिद्रूपं	१३६
देवादीनां च सर्वेषाम्	१३५
देहं च नश्वरमवस्थित	१०९
देहप्राणविमर्शनधीनान्	१२१
देहाभिमाने गलिते	१०२
द्रव्यद्रव्यसमायोगाद्	१४५
द्वादशाङ्गुलपर्यन्तम्	१७
ध	
ध्यातृध्याने परित्यज्य	४९
ध्यानमनस्तमितं पुनरेव	१४३
ध्वनिरध्वगतो यत्र	३५
न	
न चैकं तदन्यद् द्वितीयं	७४
न तद्वस्ति न यत्तत्र	११४
न द्वैतं नापि चाद्वैतम्	१०७
नन्वात्मवः प्रियार्थं	१२०
न पादपतनं भक्तिः	१०५
न पूजा बाह्यपुष्पादिः	१४४
नमः शिवाय सततम्	७६
नमामः सर्वसामान्यं	११४
न सृष्टिर्जायते लिङ्गात्	५७
नयकलया यस्योद्भूते	१३१
नादबिन्द्वात्मकं यच्च	७४
नास्ति मे पिण्डदः कश्चित्	१३२
नास्मिन् विधीयते किञ्चित्	१०७
निद्रादौ जागरस्यान्त	६२
निरालम्बो निरुत्साहः	१३७
निरुद्धस्य महेशत्व	३५
निर्दोषं हि समं ब्रह्म	१०८
निर्मले हृदये प्राग्र	१५

श्लोकांश	पृष्ठाङ्क
निष्प्रपञ्चा निराभासा	१५१
प	
पश्यामि चित्रमिव	३९
परतद्रूपना शम्भोः	१४
पेयोपेयं स्मृता ह्यापो	१०८
पूर्णमदः पूर्णमिदम्	५१
प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात्	१२९
प्रक्षोभपूर्णताभावात्	७८
प्रसरत्यतिवेगेन	३४
प्राग्जन्मकोटिसमुपार्जित	१३१
प्राणः प्राणमयः प्राणो	७५
ब	
बहिरन्तरपरिकल्पम	१४६
बहिः प्रज्ञोविभुर्वेश्वो	७१
बहुलमहसि बोधे	१३८
बाह्यानाभ्यन्तरांश्चैतान्	१४
बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः	१७
बिन्दुरूपा भ्रुवोर्मध्ये	७५
बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य	८७
भ	
भिन्नज्ञानग्रन्थिः	१३२
भुवनव्यापिता तत्त्वे	४३
भुवनादित्रयं वाच्यं	४४
भुवनावलीं समस्ताम्	१४२
म	
मकारो ह्यत्र वैरुद्रो	३५
मनोभावपथेऽप्यक्षविषयत्वेन	९६
महाशून्यालये वह्नौ	१४६
मातारमधरीकुर्वत्	१५
मात्रार्धमात्रात्परमं	७८
मान भूवं हि भूयासमिति	१२०
माया च नाम देवस्य	८१
माया विभेदबुद्धिः	८१
मेढ्रस्याग्रः भ्रुलो ज्ञेयो	५५

श्लोकांश	पृष्ठाङ्क
मोहयति अनेन	८०
मृज्जलादिविशुद्धोऽपि	१०८
मृतचेष्टस्य पिण्डस्य	१३०
य	
यं जानन्ति जडाऽपि	१११
यत्किञ्चिन्मानसाह्लादि	१४४
यतस्ततो वास्तु भयं	८९
यतो यतो निश्चरति	११६
यत्र यत्र मनो याति	६१
यत्र यत्र मनो याति	८३
यद् एव समुद्भूता	८४
यदा पञ्चावतिष्ठन्ते	१३०
यदि निजहृदयोल्लासं निर्णेतुं	१४९
यदि सर्वगतो देवो	१३२
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि	९१
यस्मात्सर्वमयो जीव	२६
या सा शक्तिर्जगद्धातुः	१२५
यावन्त वेदका एते	१२८
यैव चिद्गगनाभोगभूषणे	८७
योग्यतामात्रमेवैतत्	१३५
यौ ते श्वानौ यमरक्षितारौ	१५०
र	
रंगस्य दर्शयित्वा	१३६
रज्वानास्ति भुजङ्गस्त्रासम्	१३९
ल	
लभते तत्प्रविष्टा वै	३५
लीनं गमयतीत्युक्ते	६९
व	
विचराभि न चैकाकी	१३१
विद्याविनयसम्पन्ने	११३
विभूतिप्रसवं त्वन्ये	१३७
विश्वं मूर्तिर्भैरवी	१४५
विश्वात्मविश्वोत्तीर्णं च	८९
विश्वो हि स्थूलभूमि	७१
विसर्गस्यैव विश्लेष इति	७८
वेदादिभ्यः परं शैवम्	२
श	
शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद्	७७
शालीन् पलालपुरुषो	१२६
शिवः स्वतन्त्रदृग्रूपः	७६
शिवः शक्त्या युक्तो	७७
शून्यात् प्रवर्तते शक्तिः	१२४
शून्याद्यबोधरूपास्तु	३८
श्रोत्रं त्वगक्षि रसना	१२७
श्वानौ द्वौ श्यावशबलौ	१५०
ष	
षट्त्रिंशत्तत्त्वभूतं विग्रहरचना	१४४
षड्रसास्वादनं तस्य	१४५
स	
स एवायं विसर्गस्तु	७८
स एव विश्वमेषितुम्	७७
स-हौ क्षपादिनामानावरोध	१४९
सम्पूर्णकर्तृकायाः	८२
संयम्येन्द्रियग्रामम्	१४३
सत्यात्मनि परसंज्ञा	८९
सम्परिग्रहता वापि	१०७
समना सा विनिर्दिष्टा	३४
समाधिमथ कर्मणि	१०८
सर्वं शून्यं निरालम्बं	१२४
सर्वस्यात्मत्वाच्च	१३८
सर्वाक्षगोचरत्वेन या	९६
सर्वालम्बनधर्मेश्च	११४
सर्वव्यापकताभूमिर्ज्ञत्वकर्तृत्व	७६
संविद्रूपा पुनः सैव	७
सर्वोत्तीर्ण रूपं	२६
संविद्रूपे न भेदोऽस्ति	१३५
सर्वौ मभायं विभव	२३
सा कथं भवतीत्याह	१४

श्लोकांश	पृष्ठाङ्क
सा जडा भेदरूपत्वात्	८१
सावस्था काप्यविज्ञेया	११४
सा शक्तिः परमा सूक्ष्मा	३४
सा स्फुरत्ता महासत्ता	११४
सितासितो दीर्घह्रस्वौ	१५०
सुख-दुःखमोह	१२६
सुविषममता दंष्ट्रा	८९
सैकापि सत्यनेकत्वं यथा	१२५
सोऽहं ममायं विभवः	९७
स्तब्धीभावरसास्वादात्	१०१
स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्	६८
स्वतन्त्रं परिपूर्णं च	११४
स्वज्ञानविभवभासनं योगेनो	१२१
स्वानुभूतिरसावेशात्	१०१
स्वातन्त्र्यशक्तिः क्रमसंसिसृक्षा	६
स्वातन्त्र्यहानिर्बाधस्य	१३५
स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानम्	८
स्वस्वभावतया बुद्धा	१८
स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले	११३

ह

हंस हंसेति मन्त्रेण जीवो जपति	१४८
हृदयमध्यदेशे तु	७४
हृदीव बाह्यदेशेऽपि	१०१

परिशिष्ट (ग)

उद्योतविवृति और कौमुदीदीपिकाकार की कारिकाओं में पाठभेद

क्षेमराज एवं शिवोपाध्याय		भट्टानन्द	
कारिकांश	का० सं०	कारिकांश	का० सं०
रुद्रयामलसम्भवम्	१	यामलादिषु भाषितम्	१
शब्दराशिकलामयम्	२	शब्दराशिकलात्मकम्	२
चन्द्रार्धनिरोधिकाः	४	चन्द्रार्धनिरोधकम्	४
सकलत्वे न तद्भवेत्	६	सकलत्वेन वा भवेत्	६
विज्ञेयं शक्रजालवत्	९	विज्ञेयमिन्द्रजालवत्	९
एता बालविभीषिकाः	१३	चैता बालविभीषिकाः	१३
दिक्कालकलनोन्मुक्ता		दिक्कालकलनातीता	
···अवकथ्या परमार्थतः	१४	···न कथ्या परमार्थतः	१४
शक्तिशक्तिमतोर्यद्वत्	१८	शक्तिशक्तिमतोर्यस्मात्	१८
किरणैर्भास्करस्य च		किरणैर्भास्करस्य वा	
···शक्त्या शिवः प्रिये	२१	····शक्त्या शिवस्य च	२१
···मुखं तस्य	२३	···मुखं तस्याः	२३
तथा मे ब्रूहि भैरव	२३	तथा ब्रूहि मम प्रभो	२३
भरणाद्भरिता स्थितिः	२४	भरणाद्भरितस्थितिः	२४
भैरव्या भैरवस्येत्थम्	२५	भैरवं भैरवस्येत्थम्	२५
तया भैरवरूपता	२६	तया भैरवरूपधृत्	२६
मुक्त्वान्ततः शिवः	३०	मुक्त्वा ततः शिवः	३०
यत्र कुत्रापि चिन्तना	३३	यत्र यत्रापि चिन्तयेत्	३३
तिष्ठन्मीलितलोचनः	३४	तिष्ठेन्मीलितलोचनः	३४
अनाहते पात्रकर्णे	३८	अनाहतेऽपात्रकर्णे	३८
पृष्ठशून्यं मूलशून्यं		उद्योतकार की ४४ व ४५ इन दो	
युगपद्भावयेच्च यः।		कारिकाओं के स्थान पर भट्टानन्द	
शरीरनिरपेक्षिण्या		की विज्ञानकौमुदी में यह कारिका	
शक्त्या शून्यमना भवेत् ॥ ४४		४४ पर ही मिलती है। यहाँ से	
		क्रमांक का अन्तर है।	

कारिकांश	का० सं०
पृष्ठशून्यं मूलशून्यं हृच्छून्यं भावयेत्स्थिरम् । युगपन्निर्विकल्पत्वा- न्निर्विकल्पोदयस्ततः ॥	४५
निर्विकल्पम्	४६
···त्वग्विभागं भित्तिभूतम्	४८
कालपदादुत्थितेन	
···शान्तभासस्तदा भवेत्	५२
शैवं ध्यात्वा महोदयः	५७
भावे न्यक्ते	६२
मनसा परमोदयः	६३
सर्वस्रोतोनिबन्धेन	६७
स्मरानन्देन युज्यते	६८
बान्धवे चिरात्	७१
स्वरूपं सम्प्रवर्तते	७४
परावाप्तिः	७७
निराश्रयम् । निधाय	७८
मनः कुर्वन्	७९
क्षणात् क्षीणाशयो भवेत्	८२
आकाशं विमलं पश्यन्	८४
किञ्चिज्ज्ञातम्	८६
भावयन् रूपम्	८७
भावयंस्तन्मयो भवेत्	८८
तत्रैवात्मा	८९
चेयनां युक्त्वा भैरवे	९३
भावयेदिति । ···अभावेन	९४
कलयन्न पृथग्भवेत्	९५
नास्ति	१००
भ्रमद्वा	१०२
भावयन्	१०४
विशेषोऽस्ति	१०६

कारिकांश	का० सं०
पृष्ठशून्यं मूलशून्यं युगपद्भावयेच्च यः । युगपन्निर्विकल्पत्वा- न्निर्विकल्पोदयस्ततः ।	४४
निर्विकल्पे	४५
···दिग्विभागं भित्तिमात्रम्	४७
कालपुरादुत्थितेन	
···शान्ताभासः प्रजायते	५१
ध्यात्वा शैवं महोदयः	५६
भावे त्यक्ते	६१
मनसः परमा गतिः	६२
सर्वस्रोतोनिरोधेन	६६
स्मरानन्दे न युज्यते	६७
बान्धवेऽचिरात्	७०
स्वरूपः सम्प्रकाशते	७३
परा व्याप्तिः	७६
निराश्रये । विधाय	७७
इस क्रम में का. सं. ७८ प्राप्त नहीं है निराकुर्वन्	७९
क्षणादभूताशयो भवेत्	८२
भट्टानन्द ने यह कारिका नहीं दी है।	
किञ्चिज्ज्ञात्वा	८५
भावयेद्रूपम्	८६
भावयेत्तन्मयो भवेत्	८७
तदैवात्मा	८८
चेतना युक्ता भैरवी	९२
भावयेद् यदि ।···अभावेऽपि	९३
कलयन्ना पृथग्भवेत्	९४
नस्ति	९९
भ्रमतः	१०१
भावयेत्	१०३
विशेषोऽयम्	१०५

कारिकांश	का० सं०
शरीरेण	१११
अज्ञानाच्चित्तलयेन वा	११२
सङ्कोचं कर्णयोः कृत्वा	११४
वाऽभ्यन्तरेऽपि वा	११६
ब्रह्मसत्तामयी दशा	११८
कृत्वा प्रसरित प्रभुः	११९
विदितोऽपि	१२२
साऽशुद्धिः	१२३
अहं ममेदमित्यादि	१३१
कृतार्थोऽर्थानुरूपतः	१३२
इति	१३३
सर्वेणात्मा प्रकाशकः	१३७
अजरामरतामेति सोऽणिमादिगुणान्वितः । योगिनीनां प्रियो देवि सर्वमेलापकाधिपः ॥	१४१
महानाथ	१४३
स्थूलेष्वेव	१४४
शरीराक्षि	१४६
परापरा	१५४
—	
पुत्रदारकुटुम्बकम्	१५९

उद्योतविवृति में कारिकाओं की संख्या १६२½ है ।

कारिकांश	का० सं०
शरीराणि	११०
ध्यानाच्चित्तलयेन वा	१११

भट्टानन्द ने यह कारिका भी नहीं दी है ।

वाऽभ्यन्तरे प्रिये	११४
ब्रह्मसत्ता समीपगा	११६
ततः प्रसरिति प्रभुः	११७
विचित्तोऽपि	१२०
सा शुद्धिः	१२१
अहं मम मयेत्यादि	१२९
प्रकृतार्थानुरूपतः	१३०
चेति	१३१
सर्वमात्मा चैव प्रकाशकः	१३५
अजरामरतामेति सोऽणिमाद्यिगुणैर्युतः । योगीनीनां प्रभुर्देवि सर्वमेलापकारकः ॥	१३९
महादेव	१४१
स्थूलेत्येव	१४२
शरीरस्य	१४४
परात्परा	१५२
हंस-हंसेति मन्त्रेण जीवो जपति नित्यशः ।	१५४

भट्टानन्द की दीपिका में यह पंक्ति अधिक मिलती है । इससे आगे के क्रम में अन्तर मिलता है ।

पुत्रदाराकुटुम्बकम्	१५८

विज्ञानदीपिका में कारिकाओं की संख्या १६१ है ।

परिशिष्ट (घ)

सहायक ग्रन्थ-सूची

(क) विज्ञानभैरव के संस्करण

..... विज्ञानभैरव, मूल फ्रेंच अनुवाद तथा टीका

क्षेमराज व शिवोपाध्याय उद्योत-विवृति

भट्ट आनन्द विज्ञानकौमुदीदीपिका-वृत्ति, सं० मुकुन्दराम शास्त्री काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८

(ख) संस्कृत-ग्रन्थ

— अनन्तशक्ति (वृत्ति) वातूलनाथसूत्राणि, अनु० लिलिन सिलबर्न, डि० लि० इन्स्टीट्यूट, डि० सिविलिजेशन इनडेने पेरिस, १९५९ ।

— अमृतवाग्वैभवम्, श्रीसिद्धमहारहस्यम्, श्री गोविन्द-मिश्र, चौर्बुजा, भरतपुर ।

अभिनवगुप्त देहस्थदेवतास्तोत्र, अभिनवगुप्त : ऐन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी, अपेण्डिक्स-सी डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९३ ।

अभिनवगुप्त तन्त्रोच्चय

अभिनवगुप्त तन्त्रालोक, जयरथ टीका सं० मधुसुदन कौल, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, प्रथम भाग, १९१८, द्वितीय भाग १९२१, तृतीय भाग १९२१, चतुर्थ भाग १९२२, पंचम भाग १९२२, षष्ठ भाग १९२२, सप्तम भाग १९२४, अष्टम भाग १९२६, नवम भाग १९२८, दशम भाग १९३३, एकादश भाग १९३६, द्वादश भाग १९३८ ।

अभिनवगुप्त तंत्रसार, सं० म. म. मुकुन्दराम शास्त्री, बम्बई, १९१८ ।

अभिनवगुप्त घटकर्परकुलक-विवृत्ति

अभिनवगुप्त	क्रमस्तोत्र अभिनवगुप्त : ऐन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी, अपेण्डिक्स-सी
अभिनवगुप्त	क्रमकेलि
अभिनवगुप्त	अनुभव-निवेदन अभिनवगुप्त : ऐन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी, अपेण्डिक्स-सी ।
अभिनवगुप्त	अनुत्तराष्टिका, अभिनवगुप्त : ऐन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी, अपेण्डिक्स-सी ।
अभिनवगुप्त	महापदेशविंशतिका अभिनवगुप्त : ऐन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी, अपेण्डिक्स-सी
अभिनवगुप्त	मालिनीविजयवार्तिक सं० मधुसूदन कौल शास्त्री काश्मीर-संस्कृत-ग्रन्थावली, १९३४ ।
अभिनवगुप्त	रहस्यपञ्चदशिका अभिनवगुप्त : ऐन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी, अपेण्डिक्स-सी
अभिनवगुप्त	भैरवस्तव अभिनवगुप्त : ऐन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी, अपेण्डिक्स-सी
अय्यर एवं पाण्डेय	भास्करी (भा० १, २) प्रिन्स आफ वेल्स, सरस्वती भवन टेक्स्ट नं० ७०, ८३ इलाहाबाद १९३८, १९५० ।
आद्यनाथ	अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिका
आचार्य रामानुज एम० डी० (सं०)	अहिर्बुध्न्यसंहिता, आडयार लाइब्रेरी मद्रास, १६१६
ईश्वरकृष्ण	सांख्यकारिका, व्या० बृजमोहन चतुर्वेदी नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६९ ।

उत्पलदेव	सिद्धित्रयी और प्रत्यभिज्ञाकारिका-वृत्ति सं० मधुसूदन कौल, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९२१
उत्पलदेव	शिवदृष्टि सोमानन्द-विवृति, सं० मधुसूदन कौल, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९३४
उत्पल	शिवस्तोत्रावली विवृत्ति क्षेमराज, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९०३
उत्पलाचार्य	ईश्वरसिद्धि उड्डामेश्वरतंत्र
एवेलान आर्थर	आनन्दलहरी, मद्रास, १९५३
कल्लट	तत्वार्थचिन्तामणि शिवसूत्र पर वृत्ति
—	कौलावलीनिर्णय तांत्रिक टेक्स्ट्स सीरिज, कलकत्ता
कौल साहिब	देवीनामविलास
गुप्त अभयंकर	निष्पन्नयोगावली, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा
धर्मकीर्ति (विवृत्ति)	प्रमाणवार्तिक मनोरथनन्दि (विवृत्ति) सं० द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी
धर्मकीर्ति	न्यायबिन्दु टी० धर्मोत्तरप्रदीप सं० चन्द्रशेखर शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस
जयरथ	वामकेश्वरीतंत्र सं० मधुसूदन कौल शास्त्री काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली १९४५
जगधर (सं०)	बौद्धपंचदशिका और परमार्थचर्चा, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९४७

जाडू जे० डी० (सं०)	परात्रिंशिका लघुवृत्ति, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, सं० ६८, ६९, शोधविभाग, श्रीनगर, १९४७
जेकोब जी० ए०	उपनिषद्वाक्यकोश, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९३६
झा श्यामसुन्दर राव	सर्ववेदान्तसारसंग्रह, प्र० झा १९५२
झा रामेश्वर, कामेश्वर	पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, संस्कृत विभाग, दरभंगा, वि० सं० २०१७
नारायण कण्ठ (टीका)	मृगेन्द्रतन्त्रम् सं० मधुसूदन कौल शास्त्री काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली १९३०
पतंजलि	योगदर्शन बंगला भाषानुवाद का हिन्दी अनुवाद, भाष्यकार—हरिहरानंद आरण्यक, लखनऊ
पाण्डेय रामचन्द्र	युक्तिदीपिका मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९६७
पुण्यानन्द	कामविलास
पुष्पराज और हेलाराज (टीका)	वाक्यपदीय, बनारस संस्कृत ग्रन्थावली
पं० बलजिन्नाथ	स्वातन्त्र्यदर्पण, ईश्वर कौल, चौक हब्बाकदल, श्रीनगर ।
भट्टाचार्य चिन्तामणि (सं०)	मातृकाभेदतंत्र, कलकत्ता, १९३३
भट्टाचार्य, म० म०	तंत्रसार
श्रीकृष्णानंद वागीश (सं०)	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९३८
भट्टनारायण (विवृति)	स्तवचिन्तामणि क्षेमराज काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर १९१८
—	मालिनीविजयोत्तरतन्त्र रिसर्च डिपार्टमेण्ट, जम्मू-काश्मीर स्टेट, श्रीनगर
माधवाचार्य	सर्वदर्शनसंग्रह आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली ५१, पूना, १९६६

माधवाचार्य — सर्वदर्शनसंग्रह
हिन्दी व्याख्याकार—उमाशंकर शर्मा ऋषि
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९६४

महेश्वरानन्द — महार्थमंजरी
सं० मुकुन्दराम शास्त्री
काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९१८

— योगिनीहृदयदीपिका
सरस्वती भवन सीरीज, काशी, १९२३

राजानक आनन्द — षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह
सं० मुकुन्दराम शास्त्री
काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९२८

डा० राघवन वी० — पर्यन्तपंचाशिका, मद्रास, १९५१

राघवानन्द — परमार्थसार, आदिशेषविवरण
सं० त० गणपति शास्त्री
अनन्तशयन ग्रन्थावली १२, त्रिवेन्द्रम्

लक्ष्मणदेशि — शारदातिलकम्
व्या० राघवभट्ट
चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६३

वसुबन्धु (सं०) — विज्ञप्तिमात्रासिद्धि
अनु० डा० महेश तिवारी
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६७

वरदराज — शिवसूत्रवार्तिकम्
सं० मधुसूदन कौल
काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९२५

वसुगुप्त — स्पन्दकारिका
निर्णयटीका-क्षेमराज
सं० एवं अनु० मधुसूदन कौल
काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९२५
विवृति—रामकण्ठ, सं० जे० सी० चटर्जी,
काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९१३

सरस्वती अखण्डानन्द — माण्डूक्यकारिका, गौडपाद, शांकरभाष्य,
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बई

सरस्वती प्रत्यगात्मानंद	जपसूत्रम् भारतीय विद्याभवन, वाराणसी, १९६६
सत्यभूषण योगी	मनुस्मृति मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६६
सिलबर्न लिलिन	परमार्थसार (फ्रेंच अनुवाद डी० लि० इन्स्टीटचूट डी सिविलिजेशन इनडेने) पेरिस १९५७
सोमानन्द	परात्रिशिकातात्पर्यदीपिका सं० जे० डी० जाडू (पं. जगधर) शोध-विभाग, श्रीनगर, १९४७
शंकराचार्य	सौन्दर्यलहरी व्याख्या—लक्ष्मीधर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पब्लिकेशन, मैसूर, १९५३
श्रीशंकराचार्य-ग्रन्थावलि	ईशादिदशोपनिषद्, भाग-१, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९६४
—	श्वेताश्वतरोपनिषद् गीताप्रेस गोरखपुर, सं० २०१६
शास्त्री हरभट्ट तथा रामचन्द्र काक	गन्धर्वतन्त्र श्रीनगर, काश्मीर, १९३४ ई०
शांकरभाष्य	ब्रह्मसूत्र (तृ० संस्करण) नि० सा० प्रेस, बम्बई १९४८
शास्त्री महादेव (सं०)	योग उपनिषद् मद्रास, १९२३
शितिकण्ठ	महानयप्रकाश सं० मुकुन्दराम शास्त्री काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली १९१८
शुक्ल सूर्यनारायण	परमार्थसार अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, बनारस
क्षेमराज	लोकप्रकाश सं० जगधर, शोध-विभाग श्रीनगर, १९४७

क्षेमराज	प्रत्यभिज्ञाहृदय अं० अनुवाद : जयदेवसिंह मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९६३
क्षेमराज	पराप्रवेशिका
क्षेमेन्द्र	देशोपदेश और नर्ममाला सं० मधुसूदन कौल रिसर्च डिपार्टमेण्ट, श्रीनगर, १९२३
क्षेमराज	नेत्रतंत्र, भाग १-२, उद्योत टीका, स्पन्दसन्दोह, सं० मुकुन्दराम शास्त्री काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९१७
क्षेमराज (उद्योत टी.)	स्वच्छन्दतन्त्र सं० मधुसूदन कौल, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली भाग १ : १९२१, भाग २ : १९२३, भाग ३ : १९२६, भाग ४ : १९२९, भाग ५ : १९३०, भाग ५ बी : ११३३, भाग ६ : १९३५
—	ज्ञानार्णव आनन्द आश्रम, पूना १९१२

S. N. Sankar.

जौहरी प्रिन्टर्स. वाराणसी